अध्याधिपतिः
पं० लक्ष्मण दास

तत्त्व
चिन्तामणि
(भाग २)
जयदयाल गोयन्दका
मूल्य एक रुपया पचीस पैसे

जयदयाल गोयन्दका

जयदयाल गोयन्दका

मुद्रक तथा प्रकाशक
मोतीलाल जालान,
गीताप्रेस, गोरखपुर

सं० १९९० से २०३१	तक		५३,२५०
सं० २०३३	चौदहवाँ	संस्करण	१०,०००
सं० २०३७	पंद्रहवाँ	संस्करण	२०,०००
			कुल ८३,२५०

मूल्य एक रुपया पचीस पैसे

पता—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

श्रीहरिः

सम्पादकका निवेदन

तत्त्व-चिन्तामणिके पहले भागकी भूमिकामें यह आशा प्रकट की गयी थी कि 'इस सरल भाषामें लिखी हुई तत्त्वपूर्ण पुस्तक का अच्छा आदर होगा और लोग इससे विशेष लाभ उठावेंगे।' आनन्दकी बात है कि वह आशा विफल नहीं हुई। तत्त्व-चिन्तामणिका वह पहला भाग शीघ्र ही समाप्त हो गया और अब उसका दूसरा संशोधित संस्करण भी निकल गया है। यह ग्रन्थ उसीका दूसरा भाग है। पहले भागकी अपेक्षा इसमें प्रायः दूने पृष्ठ हैं। तत्त्व-ज्ञानके बहुत ऊँचे सिद्धान्तोंका सरल भाषामें बोध करा देनेवाले लेख तो इसमें हैं ही। साथ ही कुछ ऐसे लेख हैं जिनमें भ्रातृ-धर्म और पातिव्रत-धर्मपर भी विस्तारसे प्रकाश डाला गया है। इससे यह पुस्तक तत्त्वविचारपूर्ण होनेके साथ-साथ सरल, व्यावहारिक शिक्षा देनेवाली और सस्ती होनेके कारण सबके कामकी वस्तु हो गयी है। मेरी प्रार्थना है कि इस ग्रन्थको पाठक-पाठिकागण मननपूर्वक पढ़ें और इससे पूरा लाभ उठावें।

संवत् १९९०
गोरखपुर

विनीत
हनुमानप्रसाद पोद्दार
(कल्याण-सम्पादक)

श्रीहरिः

विनय

इस दूसरे भागमें भी 'कल्याण'के प्रकाशित लेखोंका ही संग्रह है। पहले भागको लोगोंने अपनाया, इसके लिये मैं उनका आभारी हूँ। यहाँ मैं पुनः इस बातको दुहरा देना चाहता हूँ कि मैं न तो विद्वान् हूँ और न अपनेको उपदेश, आदेश एवं शिक्षा देनेका ही अधिकारी समझता हूँ। मैं तो एक साधारण मनुष्य हूँ। श्रीमद्भगवद्गीता और श्रीभगवन्नामके प्रभावसे मैंने जो कुछ समझा है, उसीका कुछ भाव अन्तर्यामीकी प्रेरणासे लिखनेका प्रयत्न किया गया है। वास्तवमें यह उसी अन्तर्यामीकी वस्तु है, मेरा इसमें कोई अधिकार नहीं है।

मेरा सभी पाठकोंसे सविनय निवेदन है कि वे कृपापूर्वक इन निबन्धोंको मन लगाकर पढ़ें और इनमें रही हुई त्रुटियाँ मुझे बतलावें।

विनीत
जयदयाल गोयन्दका

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

विषय-सूची

श्रीहरिः

विनय

इस दूसरे भागमें भी 'कल्याण'के प्रकाशित लेखोंका ही संग्रह है। पहले भागको लोगोंने अपनाया, इसके लिये मैं उनका आभारी हूँ। यहाँ मैं पुनः इस बातको दुहरा देना चाहता हूँ कि मैं न तो विद्वान् हूँ और न अपनेको उपदेश, आदेश एवं शिक्षा देनेका ही अधिकारी समझता हूँ। मैं तो एक साधारण मनुष्य हूँ। श्रीमद्भगवद्गीता और श्रीभगवन्नामके प्रभावसे मैंने जो कुछ समझा है, उसीका कुछ भाव अन्तर्यामीकी प्रेरणासे लिखनेका प्रयत्न किया गया है। वास्तवमें यह उसी अन्तर्यामीकी वस्तु है, मेरा इसमें कोई अधिकार नहीं है।

मेरा सभी पाठकोंसे सविनय निवेदन है कि वे कृपापूर्वक इन निबन्धोंको मन लगाकर पढ़ें और इनमें रही हुई त्रुटियाँ मुझे बतलावें।

विनीत
जयदयाल गोयन्दका

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

विषय-सूची

विषय — पृष्ठ-संख्या

'हे भरतवंशी अर्जुन ! सभी मनुष्योंकी श्रद्धा उनके अन्तः-करणके अनुरूप होती है तथा यह पुरुष श्रद्धामय है, इसलिये जो पुरुष जैसी श्रद्धावाला है वह स्वयं भी वही है। अर्थात् जिसकी जैसी श्रद्धा है, वैसा ही उसका स्वरूप समझा जाता है।' अतः मनुष्यको सच्चे श्रद्धा-सम्पन्न बननेकी कोशिश करनी चाहिये।

आप ईश्वरके किसी भी नाम या किसी भी रूपमें श्रद्धा करें, आपकी वह श्रद्धा ईश्वरमें ही समझी जायगी; क्योंकि सभी नाम-रूप ईश्वरके हैं। आपको जो धर्म प्रिय हो, जिस ऋषि, महात्मा या महापुरुषपर आपका विश्वास हो, आप उसीपर श्रद्धा करके उसीके अनुसार चल सकते हैं। आवश्यकता श्रद्धा-विश्वासकी है। ईश्वर, धर्म और परलोक आदि विशेष करके श्रद्धाके ही विषय हैं। इनका प्रत्यक्ष तो अनेक प्रयत्नोंके साथ विशेष परिश्रम करनेपर होता है। आरम्भमें तो इन विषयोंके लिये किसी-न-किसीपर विश्वास ही करना पड़ता है, ऐसा न करे तो मनुष्य नास्तिक बनकर श्रेयके मार्गसे गिर जाता है, साधनसे विमुख होकर पतित हो जाता है।

यदि आपको किसी भी धर्म, शास्त्र अथवा प्राचीन महात्माओंके लेखपर विश्वास न हो, तो कम-से-कम एक श्रीमद्भगवद्गीतापर तो जरूर विश्वास करना चाहिये; क्योंकि गीताका उपदेश प्रायः सभी मतोंके अनुकूल पड़ता है। इसपर भी विश्वास न हो तो अपने विचारके अनुसार ईश्वरपर विश्वास करके उसीकी शरण होकर साधनमें लग जाना चाहिये। कदाचित् ईश्वरके अस्तित्वमें

भी आपके मनमें संदेह हो तो वर्तमान समयमें आपकी दृष्टिमें जगत्में जितने श्रेष्ठ पुरुष हैं, उन सबमें जो आपको सबसे श्रेष्ठ मान्य हों, उन्हींके बतलाये हुए मार्गपर कमर कसकर चलना चाहिये। यदि वर्तमानकालके किसी भी साधु-महात्मा या सत्पुरुष-पर आपका विश्वास न हो, तो आपको यह विचार करना चाहिये कि क्या सारे संसारमें हमसे उत्तम कल्याणमार्गके ज्ञाता कोई नहीं हैं? यदि यह कहते हों कि 'हैं तो सही, पर हमको नहीं मिले।' तो उनकी खोज करनी चाहिये, अथवा यदि यह समझते हों कि 'हमसे तो बहुत-से पुरुष श्रेष्ठ हैं, परंतु कल्याणमार्गके भलीभाँति उपदेश करनेवाले पुरुष संसारमें बहुत ही थोड़े हैं, जो हैं उनका भी हम-जैसे अश्रद्धालुओंको मिलना कठिन है, और यदि कहीं मिल भी जाते हैं तो पहचाननेकी योग्यता न होनेके कारण हम उन्हें पहचान नहीं सकते।' ऐसी अवस्थामें आपके लिये यह तो अवश्य ही विचारणीय है कि आप जो कुछ चेष्टा कर रहे हैं उससे क्या आपका यथार्थ कल्याण हो जायगा? यदि संतोष नहीं है तो कम-से-कम अपनी उन्नतिके लिये आपको उत्तरोत्तर विशेष प्रयत्न तो करना ही चाहिये। शम, दम, धृति, क्षमा, शान्ति, संतोष, जप, तप, सत्य, दया, ध्यान और सेवा आदि गुण और कर्म आपके विचारमें जो उत्तम प्रतीत हों उनका ग्रहण तथा प्रमाद, आलस्य, निद्रा, विषयासक्ति, झूठ, कपट, चोरी-जारी आदि दुर्गुण और दुष्कर्मोंका त्याग करना चाहिये। प्रत्येक कर्म करनेसे पूर्व सावधानीके साथ यह सोच लेना चाहिये कि मैं जो कुछ कर रहा हूँ वह मेरे लिये यथार्थ लाभदायक है या नहीं

और उसमें जहाँ कहीं भी त्रुटि मालूम पड़े, उसका बिना विलम्ब सुधार कर लेना चाहिये। मनुष्य-जन्म बहुत ही दुर्लभ है, लाखों रुपये खर्च करनेपर भी जीवनका एक क्षण नहीं मिल सकता। ऐसे मनुष्य-जीवनका समय निद्रा, आलस्य, प्रमाद और अकर्मण्यतामें व्यर्थ कदापि नहीं खोना चाहिये। जो मनुष्य अपने इस अमूल्य समयको बिना सोचे-विचारे बितावेगा, उसे आगे चलकर अवश्य ही पछताना पड़ेगा। कविने क्या ही सुन्दर कहा है—

बिना बिचारे जो करे सो पाछे पछिताय।
काम बिगारे आपनो जगमें होत हँसाय॥
जगमें होत हँसाय चित्तमें चैन न पावै।
खान पान सनमान राग रँग मन नहिं भावै॥
कह गिरिधर कविराय कर्म गति टरत न टारे।
खटकत है जिय माँहि करे जो बिना बिचारे॥

अतः अपनी बुद्धिके अनुसार मनुष्यको अपना समय बड़ी ही सावधानीसे ऊँचे-से-ऊँचे काममें लगाना चाहिये, जिससे आगे चलकर पश्चात्ताप न करना पड़े। नहीं तो गोस्वामीजीके शब्दोंमें—

सो परत्र दुख पावइ सिर धुनि धुनि पछिताइ।
कालहि कर्महि ईस्वरहि मिथ्या दोस लगाइ॥

—सिवा पछतानेके अन्य कोई उपाय न रह जायगा। यह मनुष्य-जीवन बहुत ही महँगे मोलसे मिला है। काम बहुत करने हैं, समय बहुत थोड़ा है, अतएव चेतकर अपने जीवनके बचे हुए समय-को बुद्धिमानीके साथ केवल कल्याणके मार्गमें ही लगाना चाहिये।

यदि मनुष्य अपनी बुद्धिके अनुसार इस लोक और परलोकमें लाभ देनेवाले कर्मोंमें प्रवृत्त नहीं होता तो इसको उसकी मूर्खता, अकर्मण्यता और आलस्यके अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता है ? जो जान-बूझकर प्रमाद, आलस्य, निद्रा और भोगोंसे चित्तको हटाकर उसे सन्मार्गमें नहीं लगाता और पतनके मार्गमें आगे बढ़ता जाता है, वह स्वयं ही अपना शत्रु है। श्रुति कहती है—

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।
भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ॥

(केनोपनिषद् २ । ५)

'यदि इस मनुष्य-शरीरमें उस परमात्म-तत्त्वको जान लिया जायगा तो सत्य है यानी उत्तम है। और यदि इस जन्ममें उसको नहीं जाना तो महान् हानि है। धीर पुरुष सम्पूर्ण भूतोंमें परमात्माका चिन्तन कर—परमात्माको समझकर इस देहको छोड़ अमृतको प्राप्त होते हैं अर्थात् इस देहसे प्राणोंके निकल जानेपर वे अमृतस्वरूप परमात्माको प्राप्त हो जाते हैं।'

मनुष्यको अपनी उन्नतिका यह मार्ग स्वयं ही चलकर तय करना पड़ता है, दूसरेके द्वारा यह मार्ग तय नहीं होता। अतएव उसको इसीमें बुद्धिमत्ता और कल्याण है, और यही उसका निश्चित कर्तव्य है कि अत्यन्त सावधानीके साथ प्रतिक्षण अपनेको सँभालते हुए इस लोक और परलोकके कल्याणकारी साधनको खूब जोरके साथ करता रहे। प्रमाद, आलस्य, भोग एवं दुराचार आदिको कल्याणके मार्गमें अत्यन्त बाधक समझकर उन्हें सर्वथा त्याग दे। श्रुति चेतावनी देती हुई कहती है—

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।
क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया
दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति॥
(कठोपनिषद् १।३।१४)

'उठो, जागो और महापुरुषोंके समीप जाकर उनके द्वारा तत्त्वज्ञानके रहस्यको समझो। कविगण इसे तीक्ष्ण क्षुरेके धारके समान अत्यन्त कठिन मार्ग बताते हैं।' परंतु कठिन मानकर हताश होनेकी कोई आवश्यकता नहीं। भगवान्‌में चित्त लगानेसे भगवत्कृपासे मनुष्य सारी कठिनाइयोंसे अनायास ही तर जाता है *'मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।'* (*गीता १८।५८*) भगवान्‌ने और भी कहा है—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥
(गीता ७।१४)

'यह मेरी अलौकिक—अति अद्भुत त्रिगुणमयी योगमाया बहुत दुस्तर है, परंतु जो पुरुष मेरी ही शरण हो जाते हैं वे इस मायाका उल्लङ्घन कर जाते हैं अर्थात् संसारसे सहज ही तर जाते हैं।' सब देशों और समस्त पदार्थोंमें सदा-सर्वदा भगवान्‌का चिन्तन करना और भगवान्‌की आज्ञाके अनुसार चलना ही शरणागति समझा जाता है। इसीको ईश्वरकी अनन्यभक्ति भी कहते हैं। अतएव जिसका ईश्वरमें विश्वास हो, उसके लिये तो ईश्वरका आश्रय ग्रहण करना ही परम कर्तव्य है। जो भलीभाँति ईश्वरके शरण हो जाता है, उससे ईश्वरके प्रतिकूल यानी अशुभ कर्म तो हो ही नहीं सकते। वह परम अभय पदको प्राप्त हो जाता है, उसके अन्तरमें

शोक-मोहका आत्यन्तिक अभाव रहता है, उसको सदाके लिये अटल शान्ति प्राप्त हो जाती है और उसके आनन्दका पार ही नहीं रहता। उसकी इस अनिर्वचनीय स्थितिको उदाहरण, वाणी या संकेतके द्वारा समझा या समझाया नहीं जा सकता। ऐसी स्थिति-वाले पुरुष स्वयं ही जब उस स्थितिका वर्णन नहीं कर सकते तब दूसरोंकी तो बात ही क्या है? मन-वाणीकी वहाँतक पहुँच ही नहीं है। केवल पवित्र हुई शुद्ध-बुद्धिके द्वारा पुरुष स्वयं इसका अनुभव करता है ऐसा वेद और शास्त्र कहते हैं—

एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते।
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः॥

(कठोपनिषद् १। ३। १२)

'सम्पूर्ण भूतोंके हृदयमें छिपा हुआ यह आत्मा सबको प्रतीत नहीं होता, परंतु यह सूक्ष्मबुद्धिवाले महात्मा पुरुषोंसे तीक्ष्ण और सूक्ष्म बुद्धिके द्वारा ही देखा जाता है।' भगवान् स्वयं कहते हैं—

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः॥

(गीता ६। २१)

'इन्द्रियोंसे अतीत केवल शुद्ध हुई सूक्ष्मबुद्धिद्वारा ग्रहण करने-योग्य जो अनन्त आनन्द है उसको जिस अवस्थामें अनुभव करता है और जिस अवस्थामें स्थित हुआ योगी भगवत्स्वरूपसे चलायमान नहीं होता।' उसी अवस्थाको प्राप्त करनेकी चेष्टा मनुष्यमात्रको करनी चाहिये, यही सबका परम कर्तव्य है।

हमारा कर्तव्य

हमलोगोंके कर्तव्यकी ओर ध्यान देनेपर अधिकांशमें यही अनुमान होता है कि इस समय हमलोग कर्तव्य-पालनमें प्रायः तत्पर नहीं हैं। ध्यानपूर्वक विचार करनेसे पद-पदपर त्रुटियाँ दिखायी देती हैं। यद्यपि सभी लोग अपनी उन्नति चाहते हैं और यथासाध्य चेष्टा करना भी उत्तम समझते हैं तथापि विचार करनेपर ऐसे अनेक हेतु दृष्टिगोचर होते हैं, जिनके कारण वे यथासाध्य प्रयत्न नहीं कर सकते, बल्कि किंकर्तव्यविमूढ़ होकर उन्नतिके असली पथसे गिर जाते हैं।

अतएव सबसे पहले विचारणीय विषय यह है कि मनुष्यका कर्तव्य क्या है, उसके पालनके लिये मनुष्यको किस प्रकार चेष्टा करनी चाहिये और इच्छा करनेपर भी मनुष्य कौन-सी बाधाओंके कारण यथासाध्य चेष्टा नहीं कर सकता?

मनुष्यका प्रधान कर्तव्य है अपने आत्माकी उन्नति करना। भगवान् कहते हैं—'*उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्*।' (गीता ६।५) मनुष्यको चाहिये कि वह अपनेद्वारा अपना उद्धार करे, अपनी आत्माको अधोगतिमें न पहुँचावे। अब यह समझना है कि आत्माकी उन्नति क्या है और उसका अधःपतन किसमें है?

'अपने अंदर (अध्यात्म) ज्ञान, (परम) सुख, (अखण्ड) शान्ति और न्यायकी वर्तमानमें और परिणाममें उत्तरोत्तर वृद्धि करना आत्माकी उन्नति है, और इसके विपरीत दुःखके हेतु अज्ञान,

प्रमाद, अशान्ति और अन्यायकी ओर झुकना तथा उनकी वृद्धिमें हेतु बनना ही आत्माका अधःपतन है।' मनुष्यको निरन्तर आत्म-निरीक्षण करते हुए आत्माकी उन्नतिके प्रयत्नमें लगना और अधःपतनके प्रयत्नसे हटना चाहिये। संसारमें संग ही उन्नति-अवनतिका प्रधान हेतु है, जो पुरुष अपनी उन्नति कर चुके हैं या उन्नतिके मार्गपर स्थित हैं, उनका संग आत्माकी उन्नतिमें और जो गिरे हुए हैं या उत्तरोत्तर गिर रहे हैं, उनका संग आत्माकी अवनतिमें सहायक होता है। इसलिये सदा-सर्वदा उत्तम पुरुषोंका संग करना ही उचित है।

उत्तम पुरुष उनको समझना चाहिये जिनमें स्वार्थ, अहंकार, दम्भ और क्रोध नहीं है, जो मान-बड़ाई या पूजा नहीं चाहते, जिनके आचरण परम पवित्र हैं, जिनको देखने और जिनकी वाणी सुननेसे परमात्मामें प्रेम और श्रद्धाकी वृद्धि होती है, हृदयमें शान्तिका प्रादुर्भाव होता है और परमेश्वर, परलोक तथा सत्-शास्त्रोंमें श्रद्धा उत्पन्न होकर कल्याणकी ओर झुकाव होता है। ऐसे परलोकगत और वर्तमान सत्पुरुषोंके उत्तम आचरणोंको आदर्श मानकर उनका अनुकरण करना एवं उनके आज्ञानुसार चलना तथा अपनी बुद्धिमें जो बात कल्याणकारक शान्तिप्रद और श्रेष्ठ प्रतीत हो उसीको काम-में लाना चाहिये। मनु महाराज भी कहते हैं—

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्॥
(२।१२)

'वेद, स्मृति, सत्पुरुषोंके आचरण और जिसके आचरणसे

अपने हृदयमें भी प्रसन्नता हो, ये चार धर्मके साक्षात् लक्षण कहे गये हैं।'

अब यहाँ एक प्रश्न होता है कि जो लोग हमारी श्रुति-स्मृतियोंको नहीं मानते हैं, क्या उनके लिये कोई उपाय नहीं है? क्या सभीके लिये श्रुति-स्मृतियोंका मानना आवश्यक है? हिंदूके नातेसे यद्यपि मुझे श्रुति-स्मृति बहुत प्रिय हैं और मैं उनका पक्षपाती हूँ, तथापि मेरा यह कहना कभी युक्तियुक्त नहीं हो सकता कि श्रुति-स्मृतियोंको माननेके सिवा अन्य कोई सदाचरण-का उपाय ही नहीं है। निरपेक्षभावसे मनुष्यमात्रके कर्तव्यकी ओर ख्याल करके विचार करनेसे यही भाव उत्पन्न होता है कि सारे संसारका स्वामी और नियन्ता एक ही ईश्वर है। संसारके प्रायः सभी सम्प्रदाय और मत-मतान्तर किसी-न-किसी रूपमें उसीको मानते और उसीकी ओर अपने अनुयायीको ले जाना चाहते हैं। अतएव उन सभी सम्प्रदाय और मत-मतान्तरोंके मनुष्य जिन-जिन ग्रन्थोंको अपना शास्त्र और धर्मग्रन्थ मानते हैं उनके लिये वही शास्त्र और धर्मग्रन्थ हैं। जो व्यक्ति जिस धर्मको मानता है, उसे उसीके धर्मशास्त्रके अनुसार अपने सदाचारी श्रेष्ठ पूर्वजोंद्वारा आचरित और उपदिष्ट उत्तम साधनोंमेंसे जो अपनी बुद्धिमें आत्माका कल्याण करनेवाले प्रिय प्रतीत हों, उनको ग्रहण करना ही उसका शास्त्रानुसार चलना है। शास्त्रोंकी उन्हीं बातोंका अनुकरण करना चाहिये जो विचार करनेपर अपनी बुद्धिमें भी कल्याणकारक प्रतीत हों, जिनको हम उत्तम पुरुष मानते हैं, उनके भी उन्हीं आचरणोंका हमें अनुकरण करना उचित है, जो हमारी

बुद्धिसे उत्तम-से-उत्तम प्रतीत हों। उनके जो आचरण हमारी दृष्टिमें अश्रेयस्कर, अनुचित और शंकास्पद प्रतीत हों, उनको ग्रहण नहीं करना चाहिये।

जिनका कल्याण हो चुका है या जो कल्याणके मार्गपर बहुत कुछ अग्रसर हो चुके हैं, ऐसे पुरुषोंका संग न मिलनेपर या किसीमें भी ऐसा होनेका विश्वास न जमनेपर ऐसे सत्पुरुषकी प्राप्तिके लिये परमेश्वरसे इस भावसे प्रार्थना करनी चाहिये कि 'हे प्रभो! हे परमात्मन्! हे नाथ! आपमें मेरा अनन्य प्रेम हो, इसके लिये आप कृपा करके मुझे उन महापुरुषोंका संग दीजिये, जो सच्चे मनसे और परम श्रद्धासे आपके प्रेममें मत्त रहते हैं।' बार-बार ईश्वरसे विनय करनेपर उसकी कृपासे साधकको उसकी इच्छाके अनुकूल सत्पुरुषकी प्राप्ति अवश्य ही हो जाती है।

यहाँपर एक प्रश्न यह होता है कि जिनका ईश्वरमें विश्वास है, वही तो ईश्वर-प्रार्थना कर सकते हैं। ईश्वरमें विश्वास रखनेवालोंका संतों और शास्त्रोंमें भी विश्वास होना सम्भव है; परंतु जिनका ईश्वर, परलोक, शास्त्र, संतोंमें विश्वास ही नहीं है, उनके लिये क्या कर्तव्य है? इसका उत्तर यह है कि यद्यपि ऐसे लोगोंकी स्थिति बहुत ही दयनीय है तथापि वे भी अपनी बुद्धिके अनुसार अपने आत्माकी उन्नतिका उपाय कर सकते हैं। ऐसे लोगोंको चाहिये कि अपनी बुद्धिमें जो पुरुष अपनेसे श्रेष्ठ प्रतीत हो, उसीका संग करे। संसारमें मूढ़-से-मूढ़ और बुद्धिमान्-से-बुद्धिमान् पुरुष इस बातको तो प्रायः सभी मानते हैं जगत्में हमसे अच्छे मनुष्य भी हैं और बुरे भी हैं। अतएव अपनी बुद्धिमें

जो अपनेसे उत्तम, उन्नत, विचारशील, साधुहृदय, सदाचारी और विद्वान् प्रतीत हो, उसीको आदर्श समझकर उसके सदाचरणोंका स्वार्थहीन होकर अनुकरण करना चाहिये। यदि मूर्खता, अभिमान या अन्य किसी कारणवश किसीमें भी अपनेसे अच्छे होनेका विश्वास ही न हो तो अपनी बुद्धिमें भलीभाँति सोच-विचार कर लेनेके बाद जो बातें परिणाममें कल्याणकारक, शान्तिप्रद, सुखकर, लोकहितकर, न्याययुक्त और धर्मसंगत जँचें; उन्हीं बातोंको मानना और स्वार्थ छोड़कर उन्हींके अनुसार कर्म करना चाहिये।

सभी मनुष्योंमें प्रधानतः दो तरहकी वृत्तियाँ होती हैं—एक ऊर्ध्वको ले जानेवाली यानी आत्माको उन्नत बनानेवाली और दूसरी अधोगतिको ले जानेवाली यानी आत्माका पतन करनेवाली। इन दोनोंमें जो विवेक-वृत्ति कल्याणमें सहायक होकर उत्तम आचरणोंमें लगाती है वह ऊपर उठानेवाली है, और जो अविवेक-वृत्ति रागद्वेषमय अहंकारादिके द्वारा अधम आचरणोंमें प्रवृत्त करती है वह नीचे गिरानेवाली है। मनुष्य विवेक-वृत्तिके द्वारा अपनी उन्नति करना चाहता है, परंतु अविवेक-वृत्ति उसे बलपूर्वक सन्मार्गसे च्युत करके अन्यायपथपर ढकेल देती है। इसीसे अर्जुनने भगवान्‌से पूछा था—

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः॥

(गीता ३। ३६)

'हे वार्ष्णेय! फिर यह पुरुष बलात्कारसे लगाये हुएके सदृश

न चाहता हुआ भी किससे प्रेरित होकर पापका आचरण करता है।' भगवान्‌ने जवाबमें कहा—

> काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
> महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥
> (गीता ३। ३७)

'रजोगुणसे उत्पन्न हुआ यह काम ही क्रोध है, यही महा-अशन अर्थात् अग्निके सदृश भोगोंसे न तृप्त होनेवाला बड़ा पापी है, इस विषयमें तू इसको ही शत्रु जान।' आगे चलकर भगवान्‌ने बतलाया कि रागरूप आसक्तिसे उत्पन्न होनेवाले इन कामादि शत्रुओंने ही मनुष्यकी इन्द्रियों और उसके मनपर अधिकार जमा रक्खा है। अतएव पहले इन्द्रियों और मनको अधीनतासे छुड़ाकर इन कामादि बुरी वृत्तियोंका विनाश करना चाहिये। ऐसा करनेमें साधक समर्थ है। इसीसे भगवान्‌ने कहा कि--

> इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
> मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः॥
> एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
> जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्॥
> (गीता ३। ४२-४३)

'शरीरसे इन्द्रियोंको श्रेष्ठ, बलवान् और सूक्ष्म कहते हैं। इन्द्रियोंसे परे मन है, मनसे परे बुद्धि है और जो बुद्धिसे भी अत्यन्त परे है, वह आत्मा है। इस प्रकार बुद्धिसे परे अर्थात् सूक्ष्म, सब प्रकारसे बलवान् और श्रेष्ठ अपने आत्माको जानकर

बुद्धिके द्वारा मनको वशमें करके हे महाबाहो ! अपनी शक्तिको समझकर इस दुर्जय कामरूप शत्रुको मार !

भगवान्‌के इन वचनोंके अनुसार मनुष्यको अपने आत्माके उद्धारके लिये उत्तरोत्तर अधिक उत्साहसे चेष्टा करनी चाहिये। रागद्वेषमय अहंकारादियुक्त अविवेक-वृत्तिका दमनकर विवेक-वृत्तिको जाग्रत् करनेसे ही सब कुछ ठीक हो सकता है। यही कर्तव्यका पालन है।

अब यह बात विचारणीय है कि प्रायः सभी मनुष्य अपनी बुद्धिके अनुसार उन्नतिके लिये चेष्टा तो करते हैं, परंतु उन्हें सफलता नहीं मिलती। ऐसी कौन-कौन-सी प्रधान बाधाएँ हैं जो मनुष्यको उन्नतिपथमें बढ़नेसे सदा रोके रखती हैं? इसका उत्तर यह है कि हमने कुसङ्ग और असदभ्याससे ऐसी अनेक बाधाएँ खड़ी कर रक्खी हैं, जिनके कारण हम यथार्थ उन्नतिके पथपर आरूढ़ नहीं रह सकते। उनमेंसे प्रधान ये हैं—

(१) *आसक्ति*—खाने-पहनने, विलासिता करने, सांसारिक विषयोंका रस-बुद्धिसे उपभोग करनेमें प्रवृत्त करानेवाली वृत्तिका नाम आसक्ति है। मनुष्य विचारसे समझता है, व्यभिचार करना बहुत बुरा है—पाप है। अमुक वस्तुका खाना शरीर और बुद्धिके लिये हानिकारक है। परन्तु विषय-लालसा-रूप कामवृत्ति विवेकको ढककर उसे उन्हीं विषयोंमें ले जाती है। इस आसक्तिके वश होकर ही इन्द्रियाँ बलात्कारसे मनको खींचकर विषय-

सागरमें डुबो देती हैं। (गीता २। ६०) इस कामवृत्तिका अवश्य ही नाश करना चाहिये। जिन वस्तुओंकी ओर मन आकर्षित हो, हमें उनके गुण-दोषोंका विचारकर जिसमें दोष और परिणाममें दुःख प्रतीत होता हो, उसका हठ या विवेकसे विरोध या त्याग कर देना चाहिये और जिसमें दोष-दुःख न प्रतीत हो, उसे ग्रहण करना चाहिये।

(२) द्वेष—जो क्रोधके रूपमें परिणत होकर न्यायान्यायके विचारको नष्ट कर देता है और चाहे जैसे अन्याय कर्ममें लगा देता है। काम-वृत्ति जाग्रत् होनेपर जैसे मनुष्य चाहे जैसा पाप कर बैठता है, इसी प्रकार क्रोधकी वृत्तिमें भी वह बड़े-से-बड़ा अन्याय करते नहीं हिचकता। अतएव द्वेषको कभी हृदयमें नहीं टिकने देना चाहिये। जब किसीपर क्रोध आवे तब उसी समय सावधान होकर विवेक-बुद्धिसे काम लेना चाहिये। क्रोधके वशमें होकर कुछ कर बैठना भविष्यमें अत्यन्त दुःखदायी हुआ करता है।

(३) लोभ—विचारवान् पुरुषोंने लोभको पापका जन्मदाता बतलाया है। लोभवृत्ति जागनेपर न्यायान्याय और सत्यासत्यका विचार नहीं ठहर सकता। दूसरोंको धोखा देना, ठगना, धनके लिये नीच-से-नीच कर्म-कर बैठना—लोभी मनुष्यका स्वभाव-सा बन जाता है। धन-संग्रहको ही जीवनका ध्येय समझनेवाले

लोभीसे धनका संग्रह होना अत्यन्त कठिन है। अतएव ईश्वर और प्रारब्धपर भरोसा करके लोभका त्याग करना चाहिये। श्रीमद्भगवद्गीतामें काम, क्रोध और लोभ इन तीनोंको आत्मनाशक नरकका द्वार बतलाया है। (१६। २१)

(४) *भय*—इसके उत्पन्न होनेपर मनुष्य धैर्यको त्यागकर तुरंत पापमें प्रवृत्त हो जाता है। जो मनुष्य निर्भय होकर न्यायपथपर चलता है, महान्-से-महान् संकटमें भी धैर्य नहीं छोड़ता, उसका यहाँ-वहाँ कहीं भी कभी पतन नहीं होता। परमात्माको हर जगह देखनेपर तो भय कहीं रहता ही नहीं, परंतु हृदयमें धैर्य धारण करके विचार करने तथा शूरवीरताका अवलम्बन करनेसे भी मनुष्य निर्भय हो सकता है। इस बातको समझकर सदा निर्भय रहनेकी चेष्टा करनी चाहिये। भयमें पड़कर अधीरतासे अन्यायको कभी स्वीकार नहीं करना चाहिये।

(५) *दम्भ*—अपने बुरे भावोंको छिपाकर लोभ, भय या अज्ञान-से धन, मान, बड़ाई आदिके लिये बिना हुए ही अच्छे भाव दिखलाना या अपने थोड़े अच्छे भावोंको विशेष रूपसे दिखाना दम्भ कहलाता है। यह दोष कल्याण-मार्गमें बहुत बड़ा बाधक है, साधकके अधःपतनके प्रधान हेतुओंमेंसे यह विशेष प्रधान है। असत्य, छल, अन्याय आदि दोष दम्भके गर्भमें स्वाभाविक

ही छिपे रहते हैं। दम्भी मनुष्य समझता है कि मैं दूसरोंको ठगता हूँ, परंतु वास्तवमें वह स्वयं ही ठगा जाता है। दम्भसे किये हुए यज्ञ-दानादि सत्कर्म भी क्षय हो जाते हैं, बल्कि कहीं-कहीं तो कर्ताको पुण्यके बदले पापका भागी बनना पड़ता है। अतएव विचारवान् पुरुषोंको इस दोषसे खूब बचना चाहिये। आजकलकी दुनियामें इस दोषका बहुत विस्तार हो गया है। हजारोंमें भी एक मनुष्य ऐसा मिलना कठिन है जिसमें दम्भका लेश भी न हो।

उपर्युक्त पाँच तो प्रधान दोष हैं। इनके सिवा हमने बहुत-सी ऐसी आदतें डाल ली हैं, जिनसे विवश होकर हमें कल्याणपथसे गिरना पड़ता है। विचार-दृष्टिसे प्रत्यक्ष अधःपतन करनेवाली दीखनेपर भी प्रारम्भमें मोहसे कुछ सुखप्रद प्रतीत होनेके कारण हम उन्हें छोड़ना नहीं चाहते। जैसे—

(क) दूसरेके *आश्रयपर निर्भरकर पराधीनतामें जीवन बिताना*—जो स्वावलम्बी नहीं होते, जिनका जीवन-निर्वाह दूसरोंकी कमाईसे होता है, जो दूसरोंके द्वारा रक्षित होकर जीवन धारण करते हैं, वे अपने विचारोंकी उन्नति नहीं कर सकते। उन्हें अपने आश्रयदाताके विचारोंके आगे दबना पड़ता है। कभी-कभी तो अपने सद्विचारोंकी हत्यातक करनी पड़ती है। विचारोंके दबते-दबते नवीन सद्विचारोंकी सृष्टि

होनी रुक जाती है, शरीरकी भाँति उनकी बुद्धि और विवेक भी परमुखापेक्षी बन जाते हैं। अतएव यथासम्भव स्वावलम्बी बननेकी चेष्टा करनी चाहिये।

(ख) *शरीरके आराम या भोगोंके लिये दूसरोंपर हुक्म चलाना या उनसे सेवा कराना*— इस आदतने हमको अकर्मण्य और अभिमानी बना दिया है। समताका गुण प्रायः नष्ट कर दिया है, अतएव यथासाध्य दूसरोंके द्वारा अपनी सुविधाके लिये सेवा कभी नहीं करानी चाहिये।

(ग) *अपने आराम, भोग या नामके लिये धनका अधिक खर्च करना*---यह एक ऐसी बुरी आदत है, जिसके कारण मनुष्य अन्याय-मार्गसे धन कमानेकी चेष्टाकर सब तरहसे पतित हो जाता है। धनका गुलाम क्या-क्या अन्याय नहीं करता। हमलोगोंने अपनेसे अधिक धनवालोंकी देखा-देखी अपने दैनिक खर्च, खाने-पहननेका खर्च, ब्याह-शादीका खर्च इतना बढ़ा लिया है कि जिसके कारण आज हमारा जीवन महान् दुखी और अशान्त बन गया है। इसीलिये आज हम धन कमानेके किसी भी साधनको अनुचित नहीं समझते। चाहे जैसे भी हो, धर्म जाय, न्यायका नाश हो, देश, जाति या पड़ोसी भाइयोंका दुःख बढ़ जाय, हमें धन मिलना चाहिये। इस न्यायान्याय-शून्य धनलोलुपताकी इतनी वृद्धिमें अनावश्यक व्यय एक प्रधान कारण है। धनलोलुप लोग परमार्थके

साधन या आत्मोन्नतिके कार्यमें सहजमें नहीं लग सकते। अतएव मनुष्यको चाहिये कि यथासाध्य अपनी आवश्यकताओंको घटावे। जितना अधिक कम खर्चमें जीवन-निर्वाह हो, उतना ही कम खर्च करे, धन ज्यादा हो तो उसका उपयोग गरीब, निर्धन, अपाहिज भाई-बहनोंकी सेवामें करे।

(घ) *दीर्घसूत्रता, अकर्मण्यता या हरामीपन*—आजके कामको कलपर छोड़ना। काम करनेमें दिलको लगाना ही नहीं। यह बहुत ही बुरी आदत है। इस आदतके वशमें रहनेवाले मनुष्यका इस लोक या परलोकमें उन्नत होना अत्यन्त ही कठिन है। समय बहुत थोड़ा है, मार्ग दूर है। मृत्यु प्राप्त होने और शरीरपर रोगोंका आक्रमण होनेसे पहले ही तत्पर होकर कर्तव्य-पालनमें लग जाना चाहिये। प्रत्येक सत्कार्यकी प्राप्ति होते ही उत्साहके साथ उसी समय उसे सम्पन्न करनेके लिये प्रस्तुत हो जाना चाहिये।

(ङ) *माता, पिता आदि गुरुजनोंकी आज्ञाकी अवहेलना*—यह आदत आजकल बहुत बढ़ रही है, खासकर पढ़े-लिखे लोगोंमें। बड़े-बूढ़े अनुभवी गुरुजनोंकी स्नेहभरी आज्ञाकी अवहेलना करते-रहनेसे सन्मार्गपर प्रवृत्त होनेमें बड़ी बाधा होती है। गुरुजनोंके आशीर्वादसे आयु, विद्या, यश और बलकी वृद्धि होती है। उनके अनुभवपूर्ण वाक्योंसे हमें जीवन-निर्वाहका मार्ग सूझता है। अतएव यथासाध्य

गुरुजनोंकी आज्ञा पालन करनेमें तत्पर होना चाहिये।

(च) *दूसरोंकी निन्दा-स्तुति करना या व्यर्थ पर-चर्चा करना*—परायी निन्दा-स्तुति या व्यर्थ चर्चा मनुष्यको बहुत ही मीठी लगती है। जिसमें पर-निन्दा और पर-चर्चा तो सबसे बढ़कर प्यारी है। निन्दा-स्तुति और पर-चर्चामें असत्य, द्वेष और दम्भको बहुत गुंजाइश मिल जाती है। अतएव निन्दा या व्यर्थ चर्चा तो कभी नहीं करनी चाहिये। स्वार्थ-सिद्धिके लिये स्तुति करना भी बहुत बुरा है। बिना हुए ही स्वार्थवश किसीके अधिक गुणोंका बखान करना उसको ठगना है। योग्यता प्राप्त होनेपर यथार्थ शब्दोंमें स्तुति करनेपर कर्ताके लिये कोई हानि नहीं है।

(छ) *मान-बड़ाई या प्रतिष्ठाकी चाहना और उनके प्राप्त होनेपर स्वीकार करते रहना*—यह दादके खाजकी तरह बड़ा ही सुहावना रोग है, जो आरम्भमें सुखकर प्रतीत होनेपर भी अन्तमें बड़ा दुःखदायी होता है। आजकल तो मानो मान-बड़ाईके क्षुद्र मूल्यपर हमारा महान् धर्म-कर्म सब कुछ बिक गया है। मनुष्य जो कुछ अच्छा कर्म करता है, वह सब मान-बड़ाईके प्रवाहमें बहा देता है। यद्यपि प्रमादी और विषयासक्त पुरुषोंकी अपेक्षा मान-बड़ाई-प्रतिष्ठाके लिये भी अच्छे कर्म करनेवाले उत्तम हैं, तथापि आत्माके कल्याण चाहनेवालोंकी

तो मान-बड़ाईसे बड़ी हानि होती है। जिस साधनसे अमूल्य-निधि परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है, उनका वह सब साधन मान-बड़ाईमें चला जाता है। यह बड़ी भयानक, गम्भीर और संक्रामक व्याधि है, हृदयके अन्तस्तलमें छिपी रहती है। स्त्री-पुत्र और धन-ऐश्वर्यके त्यागियोंमें भी प्रायः मान-बड़ाईका रोग देखा जाता है। विचारबुद्धिसे बुरा समझनेपर भी मनुष्य सहजमें इससे सर्वथा नहीं छूट सकता। इसके परमाणु जगत्-भरमें फैले हुए हैं। करोड़ोंमें कोई एक ही शायद इस छूतकी बीमारीसे बचा होगा। इसका सम्पूर्ण नाश तो परमात्माका तत्त्व जाननेपर ही होता है, परंतु चेष्टा करनेसे पहले भी बहुत कुछ दमन हो जाता है। अतएव इसके नाशके लिये हर समय प्रयत्नशील रहना चाहिये। उस प्रयत्नमें भी यह सावधानी अवश्य रखनी चाहिये कि कहीं बदलेमें अनुचित हठ या दम्भ न उत्पन्न हो जाय।

उपर्युक्त प्रधान बाधाओंसे बचकर आत्मोन्नतिकी चेष्टा करनेवाला मनुष्य अन्तमें सफल हो सकता है। अब संक्षेपमें उन मुख्य-मुख्य साधनोंको भी जान लेना चाहिये, जिससे आत्मोन्नतिमें बड़ी सहायता मिलती है और जो कर्तव्यके प्रधान अङ्ग हैं।

(१) सत्पुरुषोंका संग और सत्-शास्त्रोंका अध्ययन करके उनके उत्तम सद्-आचरणों और उपदेशोंका अनुकरण और ग्रहण करना।

(२) ईश्वरकी सत्तापर विश्वास करना । परमात्माका विश्वास ज्यों-ज्यों बढ़ता जायगा त्यों-ही-त्यों सारे दोष स्वयमेव नष्ट होते चले जायँगे । सर्वव्यापी परमेश्वरमें जितना अधिक विश्वास होगा, उतना ही आत्मा अधिक उन्नत होगा । जैसे सूर्यके उदय होनेके पूर्व उसके आभाससे ही अन्धकार मिट जाता है वैसे ही परमात्माकी शरण ग्रहण करनेसे पहले ही उसपर विश्वास होते ही पाप नष्ट हो जाते हैं । सब समय सब जगह परमात्माके स्थित होनेका विश्वास हो जानेपर मनुष्यसे कभी कहीं भी पाप नहीं हो सकते ।

(३) ईश्वरके शरणागत होकर निष्काम और प्रेमभावसे उसके नामके जपका निरन्तर अभ्यास करना । जिसका जिस नामसे प्रेम हो, उसके लिये वही नाम विशेष लाभप्रद है । जिस पुरुषको जिस नामसे लाभ पहुँचा उसने उसी नामकी विशेष महिमा गायी है । इससे इस भ्रममें नहीं पड़ना चाहिये कि अमुक नाम बड़ा है और अमुक छोटा है । न्यायदृष्टिसे देखनेपर परमात्माके सभी नाम समान प्रभावशाली प्रतीत होते हैं । जिसका जो इष्ट हो, जो प्रिय हो, उसके लिये वही श्रेष्ठ है । अपनी-अपनी कल्पनासे सम्प्रदायानुसार तारतम्यता है, वास्तवमें नहीं । अतएव जो नाम-जप नहीं करते हैं, उन्हें जो अच्छा लगे उसी नामका जप करना चाहिये और जो जिस नामका

जप करते हैं उन्हें उसका परिवर्तन न कर उसीको आदर और प्रेमसहित बढ़ाना चाहिये ।

(४) परमेश्वरके स्वरूपका मनन करना । जिसको जो इष्ट हो, अपनी कल्पनामें ईश्वरको जो जैसा समझता हो, उसे वैसा ही स्वरूप या भावका निरन्तर चिन्तन करना चाहिये । ईश्वरके सम्बन्धमें इतनी बातें अवश्य ही दृढ़ता-पूर्वक हृदयमें धारण कर लेनी चाहिये कि ईश्वर है, सर्वत्र है। सर्वान्तर्यामी है, सर्वशक्तिमान् है, सर्वव्यापी है, सर्व-दिव्य-गुण-सम्पन्न है, सर्वज्ञ है, सनातन है, नित्य है, परम प्रेमी है, परम सुहृद् है, परम आत्मीय है और परम गुरु है । इन गुणोंमें उससे बढ़कर या उसकी जोड़ीका दूसरा जगत्‌में न कोई हुआ, न है और न हो सकता है।

(५) मन, वाणी, शरीरके द्वारा स्वार्थरहित होकर वैसी चेष्टा सदैव करते रहना चाहिये, जो अपनी बुद्धिमें कल्याणके लिये अत्यन्त श्रेयस्कर प्रतीत हो ।

(६) जिसको अपना कर्तव्य समझ लिया उसके पालन करनेमें दृढ़ रहना चाहि े । लोभ, भय, स्वार्थ या अज्ञान किसी भी कारणसे कर्तव्यच्युत नहीं होना चाहिये ।

यही छः बातें विशेषरूपसे कर्तव्य समझनेयोग्य हैं । यह सब मैंने संक्षेपमें अपनी साधारण बुद्धिके अनुसार लिखा है, हो सकता है, यह ठीक न जँचे या इससे उत्तम और कोई बातें हों ।

सबको अपनी बुद्धिके अनुसार अपने-अपने लाभकी बातें सोचकर उनके अनुकूल चलना चाहिये। अपनी बुद्धिमें जो बात निर्विवाद-रूपसे अच्छी प्रतीत हो, आसक्तिके वश होकर उसे कभी नहीं छोड़ना चाहिये। इसके अतिरिक्त मनुष्य और कर ही क्या सकता है ? अपनी विवेकबुद्धिके सहारे जो आत्मोन्नतिकी चेष्टा करता है, वह प्रायः सफल ही होता है और जो परमात्माका आश्रय लेकर परमात्माकी खोजके लिये अपनी बुद्धिके अनुसार परमात्माकी प्रेरणा समझकर साधन करता है, उसको सफलतामें तो कोई संदेह ही नहीं करना चाहिये ! साधारणतः प्रत्येक मनुष्यको दिनके चौबीस घंटेमेंसे छः घंटे कर्तव्यकर्मके पालनरूप योगसाधनमें, छः घंटे न्याययुक्त धर्मसंगत आजीविकाके लिये कर्म करनेमें, छः घंटे शौच, स्नान, आहारादि शारीरिक कर्ममें और छः घंटे सोनेमें खर्च करने चाहिये।

धर्मकी आवश्यकता

वेद-शास्त्र-पुराण और संत-महात्माओंके वचनों और महज्जनोंके आचरणोंसे यही सिद्ध होता है कि संसार धर्मपर ही प्रतिष्ठित है, धर्मसे ही मनुष्य-जीवनकी सार्थकता है, धर्म ही मनुष्यको पापोंसे बचाकर उन्नत जीवनमें प्रवेश करवाता है, धर्मबलसे ही विपत्तिपूर्ण संसार और परलोकमें जीव दुःखके महार्णवसे पार उतर सकता है। हिन्दू-शास्त्रकार और संतोंने तो इन सिद्धान्तोंकी बड़े जोरसे घोषणा की ही है, परन्तु अन्यान्य

जातियोंमें भी धर्मको सदा ऊँचा स्थान मिला है। सभीने धर्मबलसे ही अपनेको बलवान् समझा है। अबतक सब जगह यही माना गया है कि धर्मके बिना मनुष्यका जीवन पशु-जीवन-सदृश ही हो जाता है। परंतु अब कुछ समयसे दुनियामें एक नयी हवा चली है। जहाँ धर्मको जीवनकी उन्नतिका एक प्रधान साधन समझा जाता था, वहाँ अब कुछ लोग धर्मको पतनका कारण बतलाने लगे हैं।

कुछ समय पहले समाचार-पत्रोंमें यह प्रकाशित हुआ था कि रूसमें 'ईश्वर-विरोधी-मण्डल'के अनुरोधसे वहाँकी सोवियत यूनियनने अपने सदस्योंको किसी भी धार्मिक कार्यमें सम्मिलित न होनेके लिये आज्ञापत्र निकाला है। इससे पहले ईश्वरका इस प्रकार विधिद्वारा विरोध करनेकी बात कहीं सुननेमें नहीं आयी थी। अवश्य ही पुराणोंमें हिरण्यकशिपु-सरीखे दैत्योंके नाम मिलते हैं, जिसने प्रह्लादको ताड़ना दी थी। रावण-राज्यमें भी, जो अत्याचारके लिये विख्यात है, शायद ईश्वरको न माननेका कानून नहीं था, होता तो विभीषण-सदृश ईश्वरभक्त उसके राज्यमें कैसे रह सकते! यह सत्य है कि संसारमें ऐसे लोग बहुत कालसे चले आते हैं, जो ईश्वरकी सत्ताको स्वीकार नहीं करते, परंतु उन लोगोंने भी धर्मका कभी विरोध नहीं किया। बड़े-बड़े अनीश्वरवादियोंने भी जगत्को ऐहिक सुख पहुँचानेके लिये भी धर्मका पालन और पक्ष किया है। धर्मका स्वरूप कुछ भी हो, परंतु धर्मका पालन प्रत्येक देश और जातिमें सदासे चला आता है।

इस समय यह धर्म-विरोधी आन्दोलन केवल रूसमें ही नहीं हो रहा है, यूरोप, अमेरिका, एशिया और अफ्रिकाके ईसाई

मुसलमान और बौद्ध सभीमें न्यूनाधिकरूपसे इस प्रकारके आन्दोलनका सूत्रपात हो गया है। सबसे अधिक दुःखकी बात तो यह है कि धर्म-प्राण भारतवर्षमें भी आज ईश्वर और धर्मके तत्त्वसे अनभिज्ञ होनेके कारण कुछ लोग यह कहने लगे हैं कि 'धर्म ही हमारे सर्वनाशका कारण है, धर्मके कारण ही देश परतन्त्र हो रहा है, धर्म ही हमारे सर्वाङ्गीण उत्थानमें प्रधान बाधक है।' इस प्रकार कहने और माननेवाले लोग, ईश्वर और धर्मवादियोंको मूर्ख समझते हैं। उन्हें अपनी भूल समझमें नहीं आती और सहज ही इसका समझमें आना भी कठिन नहीं है, क्योंकि जब मनुष्य अपनेको सर्वापेक्षा अधिक बुद्धिमान् और विद्वान् समझने लगता है, तब उसे अपनी रायके प्रतिकूल दूसरेकी अच्छी-से-अच्छी सम्मति भी पसंद नहीं आती। इस 'धर्मध्वंसकारी' आन्दोलनका परिणाम क्या होगा सो कुछ भी समझमें नहीं आता, तो भी शब्द, युक्ति और अनुमान-प्रमाणसे यही अनुमान होता है कि इससे देशकी बड़ी दुर्दशा होगी। धर्महीन मनुष्य उच्छृङ्खल हो जाता है और ऐसे मनुष्योंका समूह जितना अधिक बढ़ता है, उतना ही द्वेष-द्रोहका दावानल अधिक जलता है, जिससे सभीको दुःख भोगना पड़ता है।

धर्म ही मनुष्यको संयमी, साहसी, धीर, वीर, जितेन्द्रिय और कर्तव्यपरायण बनाता है। धर्म ही दया, अहिंसा, क्षमा, परदुःख-कातरता, सेवा, सत्य और ब्रह्मचर्यका पाठ सिखाता है। मनु महाराजने धर्मके दस लक्षण बतलाये हैं—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥
(६ । ९२)

'धृति, क्षमा, मनका निग्रह, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, निर्मल बुद्धि, विद्या, सत्य और अक्रोध— यह दस धर्मके लक्षण हैं।'

महाभारतमें कहा है—

अद्रोहः सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा ।
अनुग्रहश्च दानं च सतां धर्मः सनातनः ॥
(वनपर्व २९७ । ३५)

'मन, वाणी और कर्मसे प्राणीमात्रके साथ अद्रोह, सबपर कृपा और दान यही साधु पुरुषोंका सनातन धर्म है।'

पद्मपुराणमें धर्मके लक्षण बतलाये हैं—

ब्रह्मचर्येण सत्येन मखपञ्चकवर्तनैः ।
दानेन नियमैश्चापि क्षान्त्या शौचेन वल्लभः ॥
अहिंसया सुशान्त्या च अस्तेयेनापि वर्तनैः ।
एतैर्दशभिरङ्गैस्तु धर्ममेव प्रपूरयेत् ॥
(द्वितीय खण्ड अ० १२ । ४६-४७)

'हे प्रिय ! ब्रह्मचर्य, सत्य, पञ्चमहायज्ञ, दान, नियम, क्षमा, शौच, अहिंसा, शान्ति और अस्तेयसे व्यवहार करना—इन दस अङ्गोंसे धर्मकी ही पूर्ति करे।'

अब बतलाइये, क्या कोई भी जाति या व्यक्ति मन और इन्द्रियोंकी गुलाम, विद्या-बुद्धिहीन, सत्य-क्षमारहित, मन, वाणी, शरीरसे अपवित्र, हिंसापरायण, अशान्त, दानरहित और पर-धन

हरण करनेवाली होनेपर, कभी सुखी या उन्नत हो सकती है! प्रत्येक उन्नतिकामी जाति या व्यक्तिके लिये क्या धर्मके इ लक्षणोंको चरित्रगत करनेकी नितान्त आवश्यकता नहीं है! क्या धर्मके इन तत्त्वोंसे हीन जाति कभी जगत्‌में सुखपूर्वक टि सकती है? धर्मके नामतकका मूलोच्छेद चाहनेवाले सज्जन एक बार गम्भीरतापूर्वक पक्षपातरहित हो यदि शान्त-चित्तसे विचा करें तो उन्हें भी यह माळूम हो सकता है कि धर्म ही हमारे लोक-परलोकका एकमात्र सहायक और साथी है, धर्म मनुष्यको दुःखसे निकालकर सुखकी शीतल गोदमें ले जाता है, असत्यसे सत्यमें ले जाता है, अन्धकारपूर्ण हृदयमें अपूर्व ज्योतिका प्रकाश कर देता है। धर्म ही चरित्र-संगठनमें एकमात्र सहायक है। धर्मसे ही अधर्मपर विजय प्राप्त हो सकती है। धर्म ही अत्याचारका विनाश कर धर्मराज्यकी स्थापनामें हेतु बनता है। पाण्डवोंके पास सैन्यबल-की अपेक्षा धर्मबल अधिक था, इसीसे वे विजयी हुए। अस्त्र-शस्त्रोंसे सब भाँति सुसज्जित बड़ी भारी सेनाके स्वामी महापराक्रमी रावणका धर्मत्यागके कारण ही अधःपतन हो गया। कंसको धर्मत्यागके कारण ही कलङ्कित होकर मरना पड़ा!

महाराणा प्रताप और छत्रपति शिवाजीका नाम हिंदूजातिमें धर्माभिमानके कारण ही अमर है। गुरु गोविन्दसिंहके पुत्रोंने धर्म-के लिये ही दीवारमें चुना जाना सहर्ष स्वीकार कर लिया था, मीराबाई धर्मके लिये जहरका प्याला पी गयी थी। ईसामसीह धर्मके लिये ही शूलीपर चढ़े थे। भगवान् बुद्धने धर्मके लिये ही

शरीर सुखा दिया था । युधिष्ठिरने धर्मपालनके लिये ही कुत्तेको साथ लिये विना अकेले सुखमय स्वर्गमें जाना अस्वीकार कर दिया था । इसीसे आज इन महानुभावोंके नाम अमर हो रहे हैं । धर्म जाता रहेगा तो मनुष्योंमें बचेगा ही क्या ! धर्मके अभावमें पर-धन और पर-स्त्रीका अपहरण करना, दीनोंको दुःख पहुँचाना तथा यथेच्छाचार करना और भी सुगम हो जायगा । सर्वथा धर्म-रहित जगत्की कल्पना ही विचारवान् पुरुषके हृदयको हिला देती है ।

अतएव अभीसे धर्मभीरु जनताको सावधानीके साथ धर्मकी रक्षाके लिये कटिबद्ध हो जाना चाहिये । धार्मिक साहित्यका प्रचार, धर्मके निर्मल भावोंका विस्तार, धर्मके सूक्ष्म तत्त्वोंका अन्वेषण और प्रसार करनेके लिये प्रस्तुत हो जाना चाहिये । साथ ही धर्मका वास्तविक आचरण करके ऐसा चरित्रगत धर्मबल संग्रह करना चाहिये जिससे धर्मविरोधी हलचलमें ठोस बाधा पहुँचायी जा सके । सनातन-धर्म किसी दूसरे धर्मका विरोध नहीं करता । महाभारतमें कहा है—

धर्मं यो बाधते धर्मो न स धर्मः कुधर्मकः ।
अविरोधात्तु यो धर्मः स धर्मः सत्यविक्रम ॥
(वन० १३१ । ११)

'हे सत्यविक्रम ! जो धर्म दूसरे धर्मका विरोध करता है, वह तो कुधर्म है । जो दूसरेका विरोध नहीं करता, वही यथार्थ धर्म है ।' पता नहीं, ऐसे सार्वभौम धर्मके त्यागका प्रश्न ही कैसे उठता है ? मनु महाराजके ये वाक्य स्मरण रखने चाहिये कि—

नामुत्र हि सहायार्थं पिता माता च तिष्ठतः ।
न पुत्रदारा न ज्ञातिर्धर्मस्तिष्ठति केवलः ॥२३९॥
मृतं शरीरमुत्सृज्य काष्ठलोष्टसमं क्षितौ ।
विमुखा बान्धवा यान्ति धर्मस्तमनुगच्छति ॥२४१॥
तस्माद्धर्मं सहायार्थं नित्यं सञ्चिनुयाच्छनैः ।
धर्मेण हि सहायेन तमस्तरति दुस्तरम् ॥२४२॥

(मनुस्मृति अ० ४)

'परलोकमें सहायताके लिये माता, पिता, पुत्र, स्त्री और सम्बन्धी नहीं रहते । वहाँ एक धर्म ही काम आता है । मरे हुए शरीरको बन्धु-बान्धव काठ और मिट्टीके ढेलेके समान पृथ्वीपर पटककर घर चले आते हैं । एक धर्म ही उसके पीछे जाता है । अतएव परलोकमें सहायताके लिये नित्य शनैः-शनैः धर्मका सञ्चय करना चाहिये । धर्मकी सहायतासे मनुष्य दुस्तर नरकसे भीतर जाता है ।'

शीघ्र कल्याण कैसे हो ?

लोग परमात्म-प्राप्तिके साधनमें जो समय लगाते हैं, उसके सदुपयोग और सुधारकी अत्यधिक आवश्यकता है । साधनके लिये जैसी चेष्टा होनी चाहिये, वैसी वस्तुतः होती नहीं । दो-चार साधकोंके विषयमें तो मैं कह नहीं सकता, पर अधिकांश साधक विशेष लाभ उठाते नहीं दीखते । यद्यपि उन्हें लाभ होता है, पर वह बहुत ही साधारण है, अतः समयके महत्त्वको समझते हुए भविष्यमें ऐसी चेष्टा करनी चाहिये, जिससे जीवनके शेष

भागका अधिकाधिक सदुपयोग होकर परमात्माकी प्राप्ति शीघ्र-से-शीघ्र हो सके। मृत्यु निकट आ रही है। हमें अचानक यहाँसे चले जाना होगा। जबतक मृत्यु दूर है और शरीर स्वस्थ है तबतक आत्माके कल्याणार्थ प्रत्येक प्रकारसे तत्पर हो जाना चाहिये।

मनुष्य-जन्म ही जीवात्माके कल्याणका एकमात्र साधन है। देवयोनि भी यद्यपि पवित्र है, पर उसमें भोगोंकी अधिकताके कारण साधन बनना कठिन है। इसलिये देवगण भी यह इच्छा रखते हैं कि हमारा जन्म मनुष्यलोकमें हो, जिससे हम भी अपना श्रेय साधन कर सकें। ऐसे सुर-दुर्लभ मनुष्य-जन्मको पाकर भी जो लोग ताश-चौपड़ खेलते, गाँजा-भाँग आदि नशा करते और व्यर्थका बकवाद तथा लोक-निन्दा करते रहते हैं, वे अपना अमूल्य समय ही व्यर्थ नहीं बिताते, बल्कि मरकर तिर्यक् योनि अथवा इससे भी नीच गतिको प्राप्त होते हैं। परंतु बुद्धिमान् पुरुष जो जीवनकी अमूल्य घड़ियोंका महत्त्व समझकर साधनमें तत्पर हो जाते हैं, बहुत शीघ्र अपना कल्याण कर सकते हैं। अतः जिज्ञासुओं-को उचित है कि वे समयके सदुपयोग और सुधारके लिये विशेषरूप-से दत्तचित्त होकर साधनको परिपक्व बनानेमें तत्पर हो जायँ।

भगवान्‌ने हमें बुद्धि प्रदान की है। उसे सद्विचार और सत्कार्यमें लगानेकी आवश्यकता है। जो अविवेकी इस मनुष्य-शरीरको विषय-भोगादि निन्दनीय कर्मोंमें खो देते हैं, उनमें और पशुओंमें कोई अन्तर नहीं। सच पूछा जाय तो कहना पड़ेगा कि कई अंशोंमें वे उनसे भी गये-बीते हैं। हमें स्वप्नमें भी कभी

इस विचारको आश्रय नहीं देना चाहिये कि हम भोग भी भोगें और भगवान्‌को भी प्राप्त कर लें। दिन और रातको एक साथ देखना निःसंदेह आकाश-कुसुमोंको तोड़ना है। जहाँ भोग है वहाँ भगवान् रह नहीं सकते। संतोंकी यह वाणी ध्रुव सत्य है—

जहाँ योग तहँ भोग नहिं, जहाँ भोग नहिं योग।
जहाँ भोग तहँ रोग है, जहाँ रोग तहँ सोग॥

भोगीसे कभी योगका साधन हो नहीं सकता। भोगका फल रोग और रोगका फल शोक है। अतः पाप-ताप और रोग-शोककी आत्यन्तिक निवृत्तिके लिये विषयोंसे मुँह मोड़कर साधन-पथपर उत्तरोत्तर अग्रसर होते रहना चाहिये। संसारमें सार वस्तु परमात्मा है। उससे भिन्न सब कुछ सर्वथा निस्सार, क्षणिक और अनित्य है। अतः मायिक पदार्थोंके संग्रह और भोगोंमें आसक्त होनेके कारण यदि इसी जन्ममें हम परमात्माकी प्राप्ति न कर सके तो निर्विवादरूपसे मानना होगा कि हमारा जीवन भार-रूप ही है।

बन्धुओ! आप मानव-कर्तव्यपर विचार तो कीजिये। भगवान् आपको उन्नतिके लिये आवाहन करते हैं। अवनत होना तो कर्तव्य-विमुखता है। भगवान् श्रीकृष्णकी उद्बोधनमयी वाणीपर ध्यान दीजिये—

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।

(गीता ६। ५)

उद्धारका अर्थ क्या है? उन्नति। रुपये कमाना उन्नति नहीं है। संतान-वृद्धि भी उन्नति नहीं है। यह सब तो यहीं

धरे रहेंगे। इनका मोह त्यागकर आत्मोद्धारके अति विलक्षण मार्गपर आगे बढ़िये । समयको व्यर्थ न खोइये। जो लोग प्रमाद, आलस्य, निद्रा और भोगमें समयको बिताते हैं, वे अपनेको जान-बूझकर अग्निमें झोंकते हैं। प्रमाद ही मृत्यु है। समयको व्यर्थ खोना ही प्रमाद है। बहुत-से भाई साधनके लिये समय निकालते हैं सही, परंतु उन्हें लाभ नहींके बराबर हो रहा है। इसका कारण यह है कि वे समयका सदुपयोग और सुधार नहीं करते । वे कभी एकान्तमें बैठकर यह नहीं सोचते कि ऋषिसेवित तपोभूमिमें जन्म, द्विज-जाति-में उत्पत्ति और भगवत्सम्बन्धी चर्चा करने-सुननेका अवसर, इन सारी अनुकूल सामग्रियोंके जुट जानेपर भी यदि सुधार न हुआ तो फिर कब होगा ? अब तो सावधानतया ऐसा प्रयत्न होना चाहिये कि जिससे थोड़े समयमें ही बहुत अधिक लाभ प्राप्त किया जा सके। आगेकी पंक्तियोंमें मैं अपनी साधारण बुधिके अनुसार जो निवेदन करूँगा, उससे आपको निश्चय हो सकेगा कि स्वल्प कालमें ही अत्यधिक लाभ किस प्रकार हो सकता है।

सबसे पहले गायत्रीके जपपर ही विचार किया जाता है। मन्त्रका जोरसे उच्चारण करके जप करनेपर जो फल मिलता है उससे दशगुणा अधिक फल उपांशु अर्थात् जिह्वासे किये जानेवाले जपसे प्राप्त होता है। मानसिक जपका फल उपांशुसे दशगुणा तथा साधारण जपसे सौगुणा अधिक होता है (मनु० २।८५)। इससे यही सिद्ध होता है कि मनुष्य सौ वर्षोंमें साधारण जपसे जो फल प्राप्त कर सकता है, वही फल मानसिक जपद्वारा उसे एक ही वर्षमें प्राप्त

हो सकता है, फिर वही भजन यदि निष्कामभाव और गुप्तरीतिसे किया जाय तो यह कहना अत्युक्तिपूर्ण न होगा कि सौ वर्षोंमें जो फल नहीं हो सकता वह छः मासमें ही प्राप्त हो सकता है। अश्वमेध-पर्वगत उत्तरगीतामें भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनके प्रति कहा है कि 'जो पुरुष रात-दिन तत्पर होकर विज्ञान-आनन्दघनके रूपका चिन्तन करता है वह शीघ्र ही पवित्र होकर परमपदको प्राप्त हो जाता है।' यह कौन नहीं जानता कि अटलव्रती ध्रुवजी केवल साढ़े पाँच महीनोंमें ही भगवद्दर्शनका अलभ्य लाभ उठाकर कृतकृत्य हो गये थे। मित्रो! निश्चय रखिये कि यदि वैसी तत्परताके साथ लग जायँ तो इस समय हम मनुष्य-जन्मका परम लाभ केवल पाँच ही दिनोंमें प्राप्त कर सकते हैं, पर शोक! भगवान्‌का चिन्तन कौन करते हैं! चिन्तन तो करते हैं विषयोंका। ऐसा करनेको तो भगवान् मिथ्याचार बतलाते हैं।

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते॥

(गीता ३। ६)

'जो मूढ़बुद्धि पुरुष कर्मेन्द्रियोंको हठसे रोककर इन्द्रियोंके भोगोंको मनसे चिन्तन करता रहता है, वह मिथ्याचारी अर्थात् दम्भी कहलाता है।'

लोग एकान्तमें ध्यानके लिये बैठते हैं तो झटसे ऊँघने लगते हैं। इस बीचमें यदि कोई श्रद्धेय पुरुष संयोगवश वहाँ आ पहुँचे तो तन उठ बैठते हैं। यही तो पाखण्ड है। भगवान् इससे बड़े

नाराज होते हैं। वे समझते हैं कि ये भक्तिके नामपर मुझे ठगते हैं। रिझाना तो ये चाहते हैं लोगोंको और नाम लेते हैं एकान्तमें साधनका ! भला, ऐसे स्वाँगकी आवश्यकता ही क्या है ? साधकों-को भक्तिरूपी अमूल्य धनका संग्रह गुप्तरूपसे करना चाहिये। निष्काम और गुप्त भजन ही शीघ्रातिशीघ्र फलदायक होता है। स्त्री-पुत्रादिकी प्राप्तिके लिये भजनको वेच देना भारी भूल है। यद्यपि इससे पतन नहीं होता, पर फल अति अल्प ही होता है।

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥
तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥
(गीता ७। १६ १७)

'हे भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन! उत्तम कर्मवाले अर्थार्थी, आर्त, जिज्ञासु और ज्ञानी अर्थात् निष्कामी ऐसे चार प्रकारके भक्तजन मुझको भजते हैं, उनमें भी नित्य मुझमें एकीभावसे स्थित हुआ अनन्य प्रेम-भक्तिवाला ज्ञानी भक्त अति उत्तम है, क्योंकि मुझको तत्त्वसे जाननेवाले ज्ञानीको मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और वह ज्ञानी मुझको अत्यन्त प्रिय है।'

निष्काम भक्तको भगवान्‌ने अपना ही स्वरूप माना है। 'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्' वही सबसे श्रेष्ठ है। अतः गायत्री-मन्त्रके जपकी तरह किसी भी मन्त्र अथवा नामके जपसे यदि हमें थोड़े ही समयमें अधिक लाभ प्राप्त करना अभीष्ट हो तो

उपर्युक्त शैलीसे उसमें सुधार कर लेना चाहिये। साथ ही मन्त्रका जप अर्थसहित, आदर और प्रेमपूर्वक किया जाना चाहिये। यदि अर्थ समझमें न आता हो तो भगवान्‌के ध्यानसहित जप करना चाहिये। चारों वेदोंमें गायत्रीके समान किसी भी मन्त्रका महत्त्व नहीं बतलाया गया है पर लोगोंको उससे उतना लाभ नहीं होता, इसका कारण यह है कि वे अर्थके सहित, प्रेम और आदरसे उसे जपते नहीं। मनुजीने स्पष्ट कहा है कि 'जो व्यक्ति गायत्रीकी दस मालाएँ नित्य जपता है वह केवल तीन ही वर्षोंमें भारी-से-भारी पापसे छूट जाता है।' पर आजकल जापकका मन तो कहीं रहता है और मणियाँ कहीं फिरती रहती हैं—

करमे तो माला फिरे, जीभ फिरें मुख मायँ।
मनुवाँ तो चहुँ दिसि फिरे, यह तो सुमिरण नायँ॥

संख्या तो पूरी करनी ही नहीं है। साधकको तो भगवान्‌को रिझाना है। फिर प्रेम और आदरमें कमी क्यों करनी चाहिये! उपर्युक्त विशेषणोंको लक्ष्यमें रखकर जप करनेसे एक मालासे जो लाभ होगा, वह एक हजारसे भी न हुआ और न होगा। आप आजहीसे इस प्रकार करके देखिये, थोड़े-से समयमें कितना अपरिमित लाभ होता है। डेढ़ वर्षमें आपने जो मालाएँ जपीं, वह एक दिनसे भी कम रहेंगी। इतना होनेपर भी यदि असावधानता बनी रही तो विश्वासकी कमी ही समझनी चाहिये।

अब गीताके सम्बन्धमें विचार किया जाता है। एक भाई गीताका आद्योपान्त पाठ करता है, पर उसका अर्थ और भाव

कुछ भी नहीं समझता । पाठके समय उसका मन भी संसारमें चला जाता है । संकल्पोंकी अधिकताके कारण उसे यह भी ज्ञान नहीं कि मैं किस अध्याय एवं किस श्लोकका पाठ कर रहा हूँ । उसके लिये यह कार्य एक प्रकारसे बेगार-सा है । पर बेगार है भगवान्‌की, इसलिये वह व्यर्थ नहीं जा सकती । दूसरा भाई प्रत्येक श्लोकका अर्थ समझकर प्रेमपूर्वक पाठ करता है । तत्त्व और रहस्यको समझकर पाठ करनेसे केवल एक ही श्लोकके पाठसे जो फल मिलता है वह पूरे सात सौ श्लोकोंके साधारण पाठसे भी नहीं मिलता । एक साधक पूर्वापर ध्यान देकर सारी गीताका पाठ करता है, पर आचरणमें एक बात भी नहीं लाता । वह श्लोक पढ़ लेता है—

> देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् ।
> ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥
> (गीता १७ । १४)

वह समझता है कि 'देवता, ब्राह्मण, गुरु और ज्ञानीजनोंका पूजन, शुचिता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा यह शरीरसम्बन्धी तप कहलाता है', पर उसका यह केवल समझनामात्र ही है, जब-तक कि वह अपने जीवनमें वैसा व्यवहार नहीं करता । दूसरा भाई, केवल एक ही श्लोकको पढ़ता है, पर उसे अक्षरशः कार्यान्वित कर देता है । ऐसी अवस्थामें कहना पड़ेगा कि आचरणमें लानेवाला साधक अर्थके जाननेवालेसे सात सौ गुणा तथा बेगारीवालेसे चार लाख नब्बे हजारसे भी अधिक गुणा लाभ उठानेवाला है । 'अन्तरं महदन्तरम् ।' दिन-रातका अन्तर प्रत्यक्ष दीख रहा है । अर्थसहित

पाठ करनेवाला जो लाभ दो वर्षोंमें नहीं उठा सकता, धारण करने वाला एक ही दिनमें उससे कहीं अधिक लाभ उठा सकता है।

यों तो गीताके पाठसे लाभ है; क्योंकि भगवान् कहते हैं कि

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ॥

(गीता १८। ७०)

'हे अर्जुन ! जो पुरुष इस धर्ममय हम दोनोंके संवादरूप गीताशास्त्रको पढ़ेगा अर्थात् नित्य पाठ करेगा, उसके द्वारा मैं ज्ञानयज्ञसे पूजित होऊँगा, ऐसा मेरा मत है।'

इस प्रकार मुक्तिरूप प्रसादी तो उसे मिल ही जायगी, पर धारण करनेपर तो एक ही श्लोक मुक्तिका दाता हो सकता है। पूरी गीताका नहीं तो कम-से-कम एक अध्यायका पाठ तो कर ही लेना चाहिये। इस प्रकार जिसने चौवीस आवृत्ति कर ली, उसने एक वर्षमें चौबीस ज्ञानयज्ञ कर डाले। जो पढ़ना नहीं जानता, वह सुनकर भी यदि आचरण करे तो मुक्तिका अधिकारी हो सकता है। भगवान् कहते हैं—

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥

(गीता १३। २५)

दूसरे अर्थात् जो मन्दबुद्धिवाले पुरुष हैं, वे स्वयं इस प्रकार न जानते हुए, दूसरोंसे अर्थात् तत्त्वके जाननेवाले पुरुषोंसे सुनकर ही उपासना करते हैं अर्थात् उन पुरुषोंके कहनेके अनुसार ही

श्रद्धासहित तत्पर हुए साधन करते हैं और वे सुननेके परायण हुए पुरुष भी मृत्युरूप संसार-सागरको निःसंदेह तर जाते हैं ।'

कितने आदमी नित्य ही गीता सुनते हैं, पर सुननेसे ही काम न चलेगा । आजसे ही यह संकल्प कर लेना चाहिये कि प्रत्येक प्रकारसे व्यवहारमें लाकर हम अपना जीवन गीताके कथनानुसार बनानेकी चेष्टा करेंगे । उत्तम लोकोंका अधिकारी तो श्रद्धासे सुननेवाला भी हो ही जाता है । क्योंकि भगवान् कहते हैं—

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः ।
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम् ॥
(गीता १८ । ७१)

'जो पुरुष श्रद्धायुक्त और दोषदृष्टिसे रहित हुआ इस गीता शास्त्रका श्रवणमात्र भी करेगा वह भी पापोंसे मुक्त होकर उत्तम कर्म करनेवालोंके श्रेष्ठ लोकोंको प्राप्त होवेगा ।' अतएव कम-से-कम प्रत्येक मनुष्यको गीताके श्रवणके द्वारा यमराजका द्वार तो बन्द कर ही देना चाहिये ।

अब संध्योपासनके विषयमें कुछ लिखा जाता है । श्रद्धा, प्रेम और सत्कारपूर्वक की हुई संध्योपासनासे सब पापोंका नाश होकर आत्माका कल्याण हो सकता है । सब द्विजातियोंको प्रातः, मध्याह्न और सायंकालकी संध्या श्रद्धा, प्रेम और सत्कारपूर्वक करनी चाहिये । तीन कालकी न कर सकें तो प्रातः-सायं-संध्या तो अवश्यमेव करनी चाहिये । द्विज होकर जो संध्या नहीं करता, वह प्रायश्चित्तका भागी और शूद्रके समान समझा जाता है । द्विजोंको

संध्याका त्याग कभी नहीं करना चाहिये। रात्रिके अन्त और दिनके आरम्भमें जो ईश्वरोपासना की जाती है, वह प्रातः संध्या और दिनके अन्त तथा रात्रिके आरम्भमें जो संध्या की जाती है वह सायं-संध्योपासना कहलाती है। विधिपूर्वक ठीक समयपर करना ही सत्कारपूर्वक करना है। जैसे समयपर बोया हुआ बीज ही लाभप्रद होता है, उसी प्रकार ठीक समयपर की हुई संध्योपासना ही उत्तम फल देनेवाली होती है। असमयमें खेतमें बोया हुआ अनाज प्रथम तो उगता नहीं और यदि उग आया तो विशेष फलदायक नहीं होता, अतः हमें ठीक समयपर विधिसहित संध्या करनेके लिये तत्पर होना चाहिये। प्रातःकालकी संध्या तारोंके रहते करना उत्तम, तारोंके छिप जानेपर मध्यम एवं सूर्योदयके अनन्तर कनिष्ठ मानी गयी है—

उत्तमा तारकोपेता मध्यमा लुप्ततारका।
कनिष्ठा सूर्यसहिता प्रातःसन्ध्या त्रिधा स्मृता॥
(देवीभाग० ११। १६। ४)

यदि यह कहा जाय कि इसमें सूर्यकी प्रधानता क्यों मानी गयी, तो इसका उत्तर यह है कि प्रकट देवताओंमें सूर्यसे बढ़कर कोई दूसरा देव नहीं है और सृष्टिके आदिमें भगवान् ही सूर्यरूपमें प्रकट होते हैं। इसलिये सूर्यकी उपासना ईश्वरकी ही उपासना है। 'समयपर संध्या करनेका महत्त्व इतना अधिक क्यों है'—इसके उत्तरमें निवेदन है कि सूर्य सबसे बढ़कर महान् पुरुष हैं। वह जब हमारे देशमें आते हैं तो उनका सत्कार करना हमारा परम कर्तव्य है। वह सत्कार ठीक समयपर किये जानेपर ही सर्वश्रेष्ठ समझा जाता है। जैसे कोई महात्मा हमारे हितके लिये हमारे यहाँ

आते हैं तो उनके सत्कारार्थ बहुत-से भाई स्टेशनपर जाते हैं। कई तो ट्रेनके पहुँचनेके पूर्व ही उनके स्वागतार्थ सब प्रकारका प्रबन्ध करके ट्रेनकी प्रतीक्षा करते रहते हैं। गाड़ीसे उतरते ही बड़े प्रेमसे पुष्पमाला और प्रणाम आदिके द्वारा उनका सत्कार करते हैं। दूसरे कितने ही भाई उनके पहुँचनेके समय प्लेटफार्मपर पहलेवालोंके साथ सम्मिलित होकर स्वागतके कार्यमें योग देने लगते हैं। तीसरे कितने ही भाई उनके नियत स्थानपर पहुँच जानेके दो घंटे बाद अभिवन्दनादिद्वारा उनका सत्कार करते हैं। इन तीनोंमें प्रथम श्रेणीवालोंका दिया हुआ आदर उत्तम, द्वितीयवालोंका मध्यम और तृतीयवालोंका कनिष्ठ समझा जाता है। इसी प्रकार प्रातःकालकी संध्याके समयमें सूर्यभगवान्‌का किया हुआ सत्कार समझना चाहिये।

सायंकालकी संध्याका भी सूर्यके रहते हुए करना उत्तम, अस्त हो जानेपर मध्यम और नक्षत्रोंके प्रकट हो जानेपर करना कनिष्ठ माना जाता है—

उत्तमा सूर्यसहिता मध्यमा लुप्तभास्करा।
कनिष्ठा तारकोपेता सायंसन्ध्या त्रिधा स्मृता।

(देवीभाग० ११। १६। ५)

क्योंकि जिस प्रकार महापुरुषके आनेपर समयपर किया गया सत्कार उत्तम माना जाता है, उसी प्रकार उनके विदा होनेके समय भी ठीक समयपर किया गया सत्कार ही सर्वोत्तम माना जाता है। जैसे कोई श्रेष्ठ पुरुष हमारे हितका कार्य सम्पादन करके जब विदा होते हैं तो उस समय बहुत-से भाई उनका आदर करते हुए स्टेशनपर उनके साथ जाते हैं और बड़े सत्कारके साथ उन्हें विदा

करते हैं और दूसरे बन्धुगण उनके सत्कारार्थ कुछ देरी करके स्टेशनपर जाते हैं जिससे उन्हें दर्शन नहीं हो पाते। इस कारण वे उन्हें पत्रद्वारा अपनी श्रद्धा और प्रेमका परिचय देते हैं। तीसरे भाई, यह सुनकर कि महात्माजी विदा हो गये, स्टेशनपर भी नहीं जाते और न जानेका कारण पत्रद्वारा जनाते हुए अपना प्रेम प्रकट करते हैं। इन तीनों श्रेणियोंमें प्रथमका आदर-प्रेम उत्तम, द्वितीयका मध्यम और तृतीयका कनिष्ठ माना जाता है। इसी प्रकार सूर्यास्तके पूर्व संध्या करनेपर सूर्यभगवान्‌का सत्कार उत्तम, सूर्यास्तके बाद मध्यम और तारोंके प्रकट होनेपर कनिष्ठ माना जाता है।

मार्जन, आचमन और प्राणायामादिकी विधिको समझकर ही सारी क्रियाएँ प्रमाद और उपेक्षाको छोड़कर आदरपूर्वक करनी चाहिये। प्रत्येक मन्त्रके पूर्व जो विनियोग छोड़ा जाता है उसमें बतलाये हुए ऋषि, छन्द, देवता और विषयको समझते हुए मन्त्रका प्रेमपूर्वक शुद्धता और स्पष्टतासे उच्चारण करना चाहिये। उस मन्त्र या श्लोकके प्रयोजनको भी समझ लेनेकी आवश्यकता है। जैसे—

ॐ अपवित्रः पवित्रो वा सर्वावस्थां गतोऽपि वा।
यः स्मरेत्पुण्डरीकाक्षं स बाह्याभ्यन्तरः शुचिः॥

(वामनपु० ३३। ६)

इस श्लोकको पढ़कर हम बाहर-भीतरकी पवित्रताके लिये शरीरका मार्जन करते हैं। यह विचारनेका विषय है कि मन्त्रके उच्चारणसे शरीरकी पवित्रता होती है अथवा जलके मार्जनसे। गौर करनेपर यह मालूम होगा कि मुख्य बात इन दोनोंसे ही भिन्न है। वह यह कि 'पुण्डरीकाक्ष' भगवान्‌का स्मरण करनेपर मनुष्य बाहर-भीतरसे

पवित्र होता है, क्योंकि श्लोकका आशय यही है। यदि यह पूछा जाय कि फिर श्लोकके पढ़ने और मार्जन करनेकी आवश्यकता ही क्या है, तो इसका उत्तर यह है कि श्लोक-पाठका उद्देश्य तो परमात्म-स्मृतिके महत्त्वको बतलाना है और मार्जन पवित्रताकी ओर लक्ष्य करवाता है। इसी प्रकार सब मन्त्रों, श्लोकों और विनियोगोंके तात्पर्यको समझ-समझकर सन्ध्या करनी चाहिये। सूर्य भगवान्‌के दर्शन, ध्यान और अर्घ्यके समय ऐसा समझना चाहिये कि हम भगवान्‌का साक्षात् दर्शन और स्वागतादि कर रहे हैं। इस प्रकार प्रत्येक बातको खूब समझकर पद-पदपर प्रेममें मुग्ध होना चाहिये एवं मनमें इस बातका दृढ़ विश्वास रखना चाहिये कि प्रेम और आदरपूर्वक समयपर सूर्य भगवान्‌की उपासना करते-करते हम उनकी कृपासे अवश्य ही परमधामको प्राप्त कर सकेंगे। क्योंकि प्रेमी और श्रद्धालु उपासकद्वारा की हुई उपासनाकी सुनवाई अवश्य ही होगी। ईशोपनिषद्‌में भी लिखा है कि उपासक मरणकालमें परमधाममें जानेके लिये सूर्य भगवान्‌से प्रार्थना करता है—

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वम्पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये॥

(मन्त्र १५)

'हे सूर्य! सत्यरूप आपका मुख सुवर्ण-सदृश पात्रद्वारा ढका हुआ है, उसको आप हटाइये, जिससे कि मुझे आप सत्य धर्मवाले ब्रह्मके दर्शन हों।'

श्रद्धा, प्रेम और आदरपूर्वक उपासना करनेवाले उपासककी ही उपर्युक्त प्रार्थना स्वीकृत होती है।

यह बात युक्तियुक्त भी है कि कोई भी सेवक जब अपने स्वामीकी श्रद्धा और प्रेमसे सेवा करता है तो उत्तम पुरुष उसके प्रत्युपकारार्थ अपनी शक्तिके अनुसार उसका हित-साधन करता ही है। फिर सूर्य भगवान्‌की श्रद्धा-भक्तिसे उपासना करनेवाले उपासकके कल्याणमें तो सन्देह ही क्या है ?

महाभारतमें प्रसिद्ध है कि महाराज युधिष्ठिरने तो अपने भक्त कुत्तेको अपने साथ स्वर्गमें ले जाना चाहा था; फिर सूर्य भगवान् हमारा कल्याण करें, इसमें तो कहना ही क्या है ?

अतः जिन्हें शीघ्र-से-शीघ्र परम शान्ति प्राप्त करनेकी इच्छा हो, उन्हें उचित है कि वे अपने समयका सदुपयोग करते हुए उपर्युक्त शैलीसे साधनमें दृढ़तापूर्वक तत्पर हो जायँ।

संध्योपासनकी आवश्यकता

अनुरोध*

यज्ञोपवीत धारण करनेवाले सज्जनोंमेंसे जो सज्जन संध्या बिलकुल नहीं करते या केवल एक ही समय करते हैं, उन सबसे

---

*उपर्युक्त अनुरोधके अनुसार प्रत्येक द्विजको दोनों समयकी संध्या करनी उचित है। भगवान् सूर्यनारायणके उदय होनेसे पूर्व ही मनुष्यके लिये बिछौनेसे उठ जानेकी विधि है 'ब्राह्मे मुहूर्ते बुध्येत'। (मनु० ४।९२) ब्राह्ममुहूर्तमें उठना चाहिये। उस समय उठनेसे शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक सभी तरहका लाभ होता है। इसके पश्चात् यथाविधि शौच-स्नान करके संध्योपासन करना चाहिये। वेदके वचन हैं—

मेरी प्रार्थना है कि वे यदि उचित समझें तो इस अनुरोधके पढ़नेके दिनसे ही कम-से-कम प्रातः और सायं दोनों कालकी संध्या और दोनों समय (कम-से-कम एक-एक माला एक सौ आठ मन्त्रोंकी) गायत्रीका जप अवश्य आरम्भ कर दें। जो भाई मेरी इस प्रार्थनापर ध्यान देकर इस कार्यको आरम्भ कर देंगे, उनका

उद्यन्तमस्तं यन्तमादित्यमभिध्यायन्।
ब्राह्मणो विद्वान् सकलं भद्रमश्नुते॥

सूर्यके उदय और अस्त-समय सर्वदा संध्या करनेवाला विद्वान् समस्त कल्याणको प्राप्त करता है। स्मृतिमें कहा है—

सन्ध्यामुपासते ये तु सततं संशितव्रताः।
विधूतपापास्ते यान्ति ब्रह्मलोकं सनातनम्॥

जो द्विज दृढ़प्रतिज्ञ होकर प्रतिदिन नियमपूर्वक संध्योपासन करते हैं, वे पापोंसे मुक्त होकर सनातन ब्रह्मलोकको प्राप्त होते हैं।

निशायां वा दिवा वापि यदज्ञानकृतं भवेत्।
त्रिकालसन्ध्याकरणात् तत्सर्वं हि प्रणश्यति॥
(याज्ञवल्क्यस्मृति ३। ३०८)

रात और दिनमें अज्ञानसे जो पाप बन गये हों, वह सब त्रिकाल संध्या करनेसे नष्ट हो जाते हैं।

संध्याके मन्त्र बड़े ही सुन्दर हैं। उनमें सूर्य और अग्निके रूपसे परब्रह्म परमात्माकी प्रार्थना की गयी है। भगवत्कृपासे संध्या करनेवालेके पाप क्षय होकर उसके हृदयमें महान् सात्त्विक भावोंका विकास हो सकता है। इतना होनेपर भी जो लोग संध्या नहीं करते वे बड़ी भूल करते हैं। कहा है—

सन्ध्या येन न विज्ञाता सन्ध्या येनानुपासिता।
जीवन्नेव भवेच्छूद्रो मृतः श्वा चाभिजायते॥
(देवीभाग० ११। १६। ६)

जो द्विज संध्या नहीं जानता है और संध्या नहीं करता है, वह जीता हुआ ही शूद्र हो जाता है और मरनेपर कुत्तेकी योनिको प्राप्त होता है।

मैं कृतज्ञ होऊँगा और मुझे आशा है कि उनके इस कार्यसे सनातनधर्मकी वृद्धि और परमेश्वरकी प्रसन्नता होगी तथा उन्हें अपने आत्म-कल्याणमें सहायता मिलेगी।

सन्ध्याहीनोऽशुचिर्नित्यमनर्हः सर्वकर्मसु।
यदन्यत् कुरुते कर्म न तस्य फलभाग्भवेत्॥

(दक्षस्मृति २। २२)

संध्याहीन द्विज नित्य ही अपवित्र है और सम्पूर्ण धर्मकार्य करनेमें अयोग्य है। वह जो कुछ अन्य कर्म करता है उसका पूरा फल उसे नहीं मिलता।

मनु महाराज कहते हैं—

न तिष्ठति तु यः पूर्वां नोपास्ते यश्च पश्चिमाम्।
स शूद्रवद् बहिष्कार्यः सर्वस्माद् द्विजकर्मणः॥

(२। १०३)

जो द्विज प्रातःकाल और सायंकालकी संध्योपासना नहीं करता उसे द्विज-जातिके सम्पूर्ण कर्मोंमेंसे शूद्रकी तरह दूर कर देना चाहिये।

इस सम्बन्धमें शास्त्रोंके अनेक प्रमाण दिये जा सकते हैं, पर अधिककी आवश्यकता नहीं। द्विज महानुभावोंको चाहिये कि वे यथासमय कम-से-कम प्रातः-सायं दोनों समय संध्या अवश्य करें। जिन द्विजोंके यज्ञोपवीत न हों वे यज्ञोपवीत-संस्कार करावें। जो एक समय संध्या करते हों वे दोनों समय करना आरम्भ कर दें। प्रत्येक संध्याके साथ प्रणवसहित गायत्रीके कम-से-कम १०८ मन्त्रोंका जप अवश्य करें। प्रणव और गायत्रीकी महिमा बड़ी भारी है।

मनु महाराज कहते हैं—

एतदक्षरमेतां च जपन् व्याहृतिपूर्विकाम्।
सन्ध्ययोर्वेदविद्विप्रो वेदपुण्येन युज्यते॥

(२। ७८)

जो सज्जन अस्वस्थता, अनभ्यास या अन्य किसी कारणसे सायंकाल स्नान न कर सकें वे हाथ-पैर और मुख धोकर ही संध्या और जप कर सकते हैं।

जो वेदवेत्ता विप्र प्रातःकाल और सायंकाल ओंकारका तथा भूः, भुवः और स्वः व्याहृतिपूर्वक गायत्रीका जप करता है, उसे वेदाध्ययनका फल मिलता है।

योऽधीतेऽहन्यहन्येतास्त्रीणि वर्षाण्यतन्द्रितः।
स ब्रह्म परमभ्येति वायुभूतः खमूर्तिमान्॥
(२।८२)

जो पुरुष प्रतिदिन आलस्यका त्याग कर तीन वर्षतक गायत्रीका जप करता है वह मृत्युके बाद वायुरूप होता है और उसके बाद आकाशकी तरह व्यापक होकर परब्रह्मको प्राप्त करता है।

इसलिये—

पूर्वां सन्ध्यां जपंस्तिष्ठेत् सावित्रीमार्कदर्शनात्।
पश्चिमां तु समासीनः सम्यगृक्षविभावनात्॥
(२।१०१)

प्रातःकालकी संध्याके समय सूर्यके दर्शन हों वहाँतक खड़े रहकर गायत्रीका जप करते रहना चाहिये और सायंकालकी संध्याके समय तारागण न दीखें वहाँतक बैठे-बैठे गायत्री-जप करना चाहिये।

संध्याका विधान प्रातःकाल सूर्योदयसे पूर्व और सायंकाल सूर्यास्तके समयका है, परंतु यदि कार्यवश समय न सध सके तो कर्म तो अवश्य ही होना चाहिये। कार्यवशात् काललोप हो जाय; परंतु कर्मलोप न हो —सम्पादक

बलिवैश्वदेव

आवश्यक सूचना

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥

(गीता ३ । १३)

'यज्ञसे शेष बचे हुए अन्नको खानेवाले श्रेष्ठ पुरुष सब पापोंसे छूटते हैं और जो पापी लोग अपने (शरीर-पोषणके) लिये ही अन्नको पकाते हैं, वे तो पापको ही खाते हैं ।'

गृहस्थके घरमें जो नित्य पाँच तरहके पाप होते हैं, उनके प्रायश्चित्तके लिये तत्त्वज्ञानी ऋषियोंने पञ्चमहायज्ञकी व्यवस्था की थी । खेदका विषय है कि वह नित्य-कर्म इस समय प्रायः लुप्त-सा हो गया है । जिस गृहस्थके यहाँ वे पाँचों महायज्ञ भलीभाँति होते हैं वह सर्वथा धन्यवादका पात्र है । बलिवैश्वदेव इन पाँचोंमेंसे एक महायज्ञ है । इसमें संक्षेपसे पाँचों ही महायज्ञ आ जाते हैं । बलिवैश्वदेव करनेमें प्रायः तीन मिनटका समय लगता है । इससे अन्नकी शुद्धि होती है, पापोंका प्रायश्चित्त होता है, निष्कामभावसे करनेपर अन्तःकरणकी शुद्धि होती है । बलिवैश्वदेव किये बिना भोजन करना शास्त्रोंमें निन्दित है और बलिवैश्वदेव कर चुकनेपर जो अन्न बचता है वह अमृत बतलाया गया है । काम छोटा-सा है परंतु भावना बड़ी ऊँची है । जगत्के समस्त प्राणियोंके निमित्त अपने भोजनमेंसे कुछ अंश देकर बाकी बचा हुआ अन्न खाना कितनी उदारता और समताका सूचक है । देवता, ऋषि तो भावनासे तृप्त होते हैं और अतिथि आदिकी प्रत्यक्षमें तृप्ति हो जाती है । थोड़े-से आयाससे महान् फल मिलता है । इसको पढ़कर जो भाई बलिवैश्वदेव आरम्भ कर देंगे, मैं उनका कृतज्ञ होऊँगा और मुझे आशा है कि उनके इस कार्यसे सनातनधर्मकी वृद्धि और परमेश्वरकी प्रसन्नता होगी तथा उन्हें अपने आत्माके कल्याणमें सहायता मिलेगी । विधि आगे है—

बलिवैश्वदेवविधि

१ २
५ अग्नि
४ ३

पूर्व
७
२ ३ १

२० १३
१० १७ १५ १२
१८ ८ दक्षिण
उत्तर
६ १६ १४ ११
९ ४
१९ ५

पश्चिम

(१) देवयज्ञ*

१ ॐ ब्रह्मणे स्वाहा इदं ब्रह्मणे न मम।
२ ॐ प्रजापतये स्वाहा इदं प्रजापतये न मम।
३ ॐ गृह्याभ्यः स्वाहा इदं गृह्याभ्यो न मम।
४ ॐ कश्यपाय स्वाहा इदं कश्यपाय न मम।
५ ॐ अनुमतये स्वाहा इदमनुमतये न मम।

(२) भूतयज्ञ†

१ ॐ धात्रे नमः इदं धात्रे न मम।
२ ॐ विधात्रे नमः इदं विधात्रे न मम।
३ ॐ वायवे नमः इदं वायवे न मम।

---

* यज्ञोपवीतको सव्य करके दाहिने गोड़ेको पृथ्वीपर रखकर पके हुए बिना लवणके अन्नकी पाँच आहुतियाँ तो नीचे लिखे हुए मन्त्रोंद्वारा क्रमसे अग्निमें छोड़ दे।

† यज्ञोपवीतको सव्य करके पके हुए अन्नके १७ ग्रास अङ्कित मण्डलमें यथायोग्य स्थानपर नीचे लिखे हुए मन्त्रोंद्वारा क्रमसे छोड़ दे।

४ ॐ वायवे नमः इदं वायवे न मम।
५ ॐ वायवे नमः इदं वायवे न मम।
६ ॐ वायवे नमः इदं वायवे न मम।
७ ॐ प्राच्यै नमः इदं प्राच्यै न मम।
८ ॐ अवाच्यै नमः इदमवाच्यै न मम।
९ ॐ प्रतीच्यै नमः इदं प्रतीच्यै न मम।
१० ॐ उदीच्यै नमः इदमुदीच्यै न मम।
११ ॐ ब्रह्मणे नमः इदं ब्रह्मणे न मम।
१२ ॐ अन्तरिक्षाय नमः इदमन्तरिक्षाय न मम।
१३ ॐ सूर्याय नमः इदं सूर्याय न मम।
१४ ॐ विश्वेभ्यो देवेभ्यो नमः इदं विश्वेभ्यो देवेभ्यो न मम।
१५ ॐ विश्वेभ्यो भूतेभ्यो नमः इदं विश्वेभ्यो भूतेभ्यो न मम।
१६ ॐ उषसे नमः इदमुषसे न मम।
१७ ॐ भूतानां पतये नमः इदं भूतानां पतये न मम।

(३) पितृयज्ञ।*

१८ ॐ पितृभ्यः स्वधा नमः इदं पितृभ्यः स्वधा न मम।

निर्णेजनम्।†

१९ ॐ यक्ष्मैतत्ते निर्णेजनं नमः इदं यक्ष्मणे न मम।

(४) मनुष्ययज्ञ।‡

२० ॐ हन्त ते सनकादिमनुष्येभ्यो नमः इदं हन्त ते सनकादिमनुष्येभ्यो न मम।

---

* यज्ञोपवीतको अपसव्य करके बायें गोड़ेको पृथ्वीपर रखकर दक्षिण-की ओर मुख करके हो सके तो साथमें तिल लेकर पका हुआ अन्न अङ्कितमण्डलमें योग्य स्थानपर नीचे लिखे हुए मन्त्रद्वारा छोड़ दे।

† यज्ञोपवीतको सव्य करके अन्नके पात्रको धोकर वह जल अङ्कित-मण्डलमें योग्य स्थानपर नीचे लिखे हुए मन्त्रद्वारा छोड़ दे।

‡ यज्ञोपवीतको कण्ठी करके, उत्तर दिशाकी ओर मुख करके पका हुआ अन्न अङ्कितमण्डलमें योग्य स्थानपर नीचे लिखे हुए मन्त्रद्वारा छोड़ दे।

एक निवेदन

सर्वसाधारणसे नम्रतापूर्वक निवेदन किया जाता है कि यदि उचित समझा जाय, तो प्रत्येक मनुष्य प्रतिदिन परमात्माके और अपनेसे बड़े जितने लोग घरमें हों, उन सबके चरणोंमें प्रणाम करे, हो सके तो बिछौनेसे उठते ही कर ले, नहीं तो स्नान-पूजादिके बाद करे। गुरु, माता, पिता, ताऊ, चाचा, बड़े भाई, ताई, काकी, भौजाई आदि वय, पद और सम्बन्धके भेदसे सभी गुरुजन हैं।

स्त्री अपने पतिके तथा घरमें अपनेसे सब बड़ी स्त्रियोंके चरणोंमें प्रणाम करे। बड़े पुरुषोंको दूरसे प्रणाम करे, घरमें कोई बड़ा न हो तो स्त्री-पुरुष सभी परमात्माको ही प्रणाम करे।

इससे धर्मकी वृद्धि होगी, आत्मकल्याणमें बड़ी सहायता मिलेगी, परमेश्वर प्रसन्न होंगे। इस सूचनाके मिलते ही जो लोग इसके अनुसार कार्य आरम्भ कर देंगे, उनकी बड़ी कृपा होगी।*

---

* जिस देशमें गुरुजनोंकी सेवा-शुश्रूषा करना और उनका सम्मान-अभिवादन करना एक साधारण धर्म था, उस देशके निवासियों-को गुरुजनवन्दनका महत्त्व बतलाना एक प्रकारसे उनका अपमान करना है। परन्तु दुःखके साथ कहना पड़ता है कि समय कुछ ऐसा ही आ गया है। आज पुत्र अपने पिता-माताकी चरण-वन्दना करनेमें सकुचाता है। शिष्य गुरुके सामने मस्तक झुकानेमें झिझकता है। पुत्रवधू सासके पग लगनेमें अपनी शानमें बाधा समझती है। फलस्वरूप उच्छृङ्खलता बढ़

रही है। कोई किसीकी बातका आदर करनेको तैयार नहीं। यदि भारतमें ऐसी ही दशा बढ़ती रही तो इसका आदर्श ही प्रायः नष्ट हो जायगा। ऐसे अवसरमें इस प्रकारकी सलाह देनेकी बड़ी आवश्यकता है। लोगोंको चाहिये कि वे श्रीजयदयालजीके उपर्युक्त शब्दोंपर ध्यान देकर इस सुन्दर प्रथाको तुरंत जारी कर दें। इससे बड़े लाभको सम्भावना है।

मनुजी महाराज भी कहते हैं—

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।
चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम्॥

(२। १२१)

'जो मनुष्य नित्य वृद्धोंको प्रणाम करता और उनकी सेवा करता है उसकी आयु, विद्या, यश और बल बढ़ता है।'

चरणोंमें प्रणाम करनेपर स्वाभाविक ही प्रणाम करनेवालोंके प्रति स्नेह बढ़ता है। कई बार तो हृदय बलात्कारसे आशीर्वाद देना चाहता है। यद्यपि आशीर्वाद न देना ही उत्तम पक्ष है। आशीर्वादकी जगह भगवन्नाम उच्चारण कर लेना चाहिये। प्रत्येक बालक, युवा, प्रौढ़, वृद्धको चाहिये कि वह अपनेसे बड़े जितने लोग घरमें हों, नित्य उनके चरणोंमें प्रणाम करे। समान उम्रकी भाभी या काकीके चरण-स्पर्श न करे, दूरसे प्रणाम कर ले। सबमें पवित्र और पूज्यभाव रक्खे। स्त्रियोंको चाहिये कि वे अपने पतिके सिवा अन्य किसी पुरुषका चरण-स्पर्श न करें, चाहे वह कोई भी हो। आजकलका समय बहुत खराब है। अन्य बड़े पुरुषोंको दूरसे प्रणाम कर ले।

कोई भी बड़ा घरमें न हो तो परमात्माके चरण-कमलोंमें तो अवश्य प्रणाम कर ले। वन्दन भी नवधा भक्तिमेंसे एक भक्ति है। भगवान्की किसी मूर्तिको अथवा चराचरमें व्याप्त विश्वरूप भगवान्को मन-ही-मन प्रणाम कर लेना चाहिये।—सम्पादक

भगवत्प्राप्तिके विविध उपाय

मनुष्य-जीवनका उद्देश्य भगवान्‌को प्राप्त करना है। शास्त्रों और संत-महात्माओंने इसके लिये अनेकों उपाय बतलाये हैं। अपने-अपने अधिकार और रुचिके अनुसार किसी भी शास्त्रोक्त उपायको निष्कामभावसे अर्थात् सांसारिक सुख-प्राप्तिकी कामनाको छोड़कर केवल भगवत्प्रीत्यर्थ काममें लानेसे यथासमय मनुष्य भगवत्‌को प्राप्त होकर अपने जन्म और जीवनको सार्थक कर सकता है। भगवान् श्रीमनु महाराजने धर्मके दस लक्षण बतलाये हैं, इन दस लक्षणोंवाले धर्मका निष्काम आचरण करनेवाला मनुष्य मायाके बन्धनसे छूटकर भगवान्‌को पा सकता है—

दस उपाय

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥

(६।९२)

अर्थात्—

धृति, क्षमा, शम, शौच, दम, विद्या, धी, अक्रोध।
सत्य, अचोरी धर्म दश, देते हैं मनु बोध॥

इनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार समझना चाहिये—

१ धृति—किसी प्रकारका भी संकट आ पड़नेपर या इच्छित वस्तुकी प्राप्ति न होनेपर धैर्यको न छोड़ना। जो धीरजको धारण किये रहता है, उसीका धर्म बचता है और वही लौकिक एवं पारलौकिक सफलता प्राप्त कर सकता है।

२ *क्षमा*—अपने साथ बुराई करनेवालेको दण्ड देने-दिलानेकी पूरी शक्ति रहनेपर भी उसको दण्ड देने-दिलानेकी भावनाको मनमें भी न लाकर उसके अपराधको सह लेना और उसका अपराध सदाके लिये मिट जाय, इसके लिये यथोचित चेष्टा करना इसको क्षमा कहते हैं।

३ *दम*—साधारणतः इन्द्रियनिग्रहको दम कहते हैं, परन्तु इस श्लोकमें इन्द्रियनिग्रह अलग कहा गया है, इससे यहाँ 'दम' शब्दसे शमको अर्थात् मनके निग्रहको लेना चाहिये। मनको वशमें किये बिना भगवत्की प्राप्ति प्रायः असम्भव है (गीता ६।३६)। भगवान्ने अभ्यास और वैराग्यसे मनका वशमें होना बतलाया है (गीता ६।३५)।

४ *अस्तेय*—मन, वाणी, शरीरसे किसी प्रकारकी चोरी न करना।

५ *शौच*—बाहर और भीतरकी शुद्धि—सत्यतापूर्वक शुद्ध व्यापारसे द्रव्यकी, उसके अन्नसे आहारकी, यथायोग्य बर्तावसे आचरणोंकी और जल, मिट्टी आदिसे की जानेवाली शरीरकी शुद्धिको बाहरकी शुद्धि कहते हैं। एवं राग-द्वेष, दम्भ-कपट तथा वैर-अभिमान आदि विकारोंका नाश होकर अन्तःकरणका स्वच्छ हो जाना भीतरकी शुद्धि कहलाती है।

६ *इन्द्रियनिग्रह*—(दम)—इन्द्रियोंको उनके विषय रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्शमें इच्छानुसार न जाने देकर अनिष्टकारी विषयोंसे हटाये रखना और कल्याणकारी विषयोंमें लगाना।

७ धी (बुद्धि)—सात्त्विकी श्रेष्ठ बुद्धि जो सत्संग, सत्-शास्त्रोंके अध्ययन, भगवद्भजन और आत्मविचारसे उत्पन्न होती है तथा जिससे मन परमात्मामें लगता है और यथार्थ ज्ञान उत्पन्न होता है।

८ *विद्या*—वह अध्यात्मविद्या, जिसको भगवान्‌ने अपना स्वरूप बतलाया है और जो मनुष्यको अविद्यासे छुड़ाकर परमात्माके परमपदको प्राप्त कराती है।

९ *सत्य*—यथार्थ और प्रिय भाषण। अन्तःकरण और इन्द्रियोंसे जैसा निश्चय किया हो, वैसा ही प्रिय शब्दोंमें कहना तथा यह ध्यानमें रखना कि इससे किसी निर्दोष प्राणीका नुकसान तो नहीं हो जायगा। सत्य वही है, जो यथार्थ हो, प्रिय हो, कपटरहित हो और किसीका अहित करनेवाला न हो।

१० *अक्रोध*—अपनी बुराई करनेवालेके प्रति भी मनमें किसी प्रकारसे क्रोधका विकार न होना। अक्रोध और क्षमामें यही भेद है कि अक्रोधसे तो कोई क्रिया नहीं होती, जो कुछ होता है, मनुष्य सब सह लेता है, मनमें विकार पैदा नहीं होने देता, परन्तु इससे हमारी बुराई करनेवालेका अपराध क्षमा नहीं होता, उसका फल उसे न्यायकारी ईश्वरके द्वारा लोक-परलोकमें अवश्य मिलता है। क्षमामें उसका अपराध भी क्षमा हो जाता है।*

नौ उपाय

उपर्युक्त दस उपायोंको काममें न ला सकें, तो निम्नलिखित नवधा-भक्तिके नौ साधनोंसे परमात्माको प्राप्त करनेकी चेष्टा करनी चाहिये। नवधा भक्ति यह है—

---

* इन दस धर्मोंका विस्तार देखना तथा मनको वशमें करनेकी विधि जाननी हो तो गीताप्रेससे 'मानव-धर्म' और 'मनको वश करनेके कुछ उपाय' नामक पुस्तकें मँगवाकर जरूर पढ़िये। मूल्य क्रमशः ३० (तीस पैसे) और १५ (पन्द्रह पैसे) हैं।

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् ।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ॥
(श्रीमद्भा० ७ । ५ । २३)

श्रवण, कीर्तन, स्मरण नित, पदसेवन भगवान ।
पूजन, वन्दन, दास्य-रति, सख्य समर्पण जान ॥

१ *श्रवण*—भगवान्‌के चरित्र, लीला, महिमा, गुण, नाम तथा उनके प्रेम एवं प्रभावकी बातोंका श्रद्धापूर्वक सदा सुनना और उसीके अनुसार आचरण करनेकी चेष्टा करना श्रवण-भक्ति है । श्रीमद्भागवतके श्रवणमात्रसे धुन्धुकारी-सरीखा पापी तर गया था । राजा परीक्षित् आदि इसी श्रेणीके भक्त माने जाते हैं ।

२ *कीर्तन*—भगवान्‌की लीला, कीर्ति, शक्ति, महिमा, चरित्र, गुण, नाम आदिका प्रेमपूर्वक कीर्तन करना कीर्तन-भक्ति है । श्रीनारद, व्यास, वाल्मीकि, शुकदेव, चैतन्य आदि इसी श्रेणीके भक्त माने जाते हैं ।

३ *स्मरण*—सदा अनन्यभावसे भगवान्‌के गुणप्रभावसहित उनके स्वरूपका चिन्तन करना और बारम्बार उनपर मुग्ध होना स्मरण-भक्ति है । श्रीप्रह्लादजी, श्रीध्रुवजी, श्रीभरतजी, श्रीभीष्मजी, गोपियाँ आदि इस श्रेणीके भक्त हैं ।

४ *पादसेवन*—भगवान्‌के जिस रूपकी उपासना हो, उसीका चरणसेवन करना या भूतमात्रमें परमात्माको समझकर सबका चरण-सेवन करना । श्रीलक्ष्मीजी, श्रीरुक्मिणीजी, श्रीभरतजी, इस श्रेणीके भक्त हैं ।

५ पूजन—अपनी रुचिके अनुसार भगवान्‌की किसी मूर्तिविशेषका या मानसिक स्वरूपका नित्य भक्तिपूर्वक पूजन करना। मानसिक पूजनकी विधि जाननी हो तो गीताप्रेससे प्रकाशित 'श्रीप्रेमभक्ति-प्रकाश' नामक पुस्तक मँगवाकर अवश्य पढ़नी चाहिये। विश्व-भरके सभी प्राणियोंको परमात्माका स्वरूप समझकर उनकी सेवा करना भी अव्यक्त भगवान्‌की पूजा है। राजा पृथु, अम्बरीष आदि इसी श्रेणीके भक्त हैं।

६ वन्दन—भगवान्‌की मूर्तिको या विश्वभरको भगवान्‌की मूर्ति समझकर प्राणीमात्रको नित्य प्रणाम करना वन्दन-भक्ति है। श्रीअक्रूर आदि वन्दन-भक्त गिने जाते हैं।

७ दास्य—श्रीपरमात्माको ही अपना एकमात्र स्वामी और अपनेको उनका नित्य दास समझकर किसी भी प्रकारकी कामना न रखते हुए श्रद्धा-भक्तिके साथ नित्य नये उत्साहसे भगवान्‌की सेवा करना और उस सेवाके सामने मोक्ष-सुखको भी तुच्छ समझना। श्रीहनुमान्‌जी, श्रीलक्ष्मणजी आदि इस श्रेणीके भक्त हैं।

८ सख्य—श्रीभगवान्‌को ही अपना परम हितकारी, परम सखा मानकर दिल खोलकर उनसे प्रेम करना। भगवान् अपने सखा-मित्रका छोटे-से-छोटा काम बड़े हर्षके साथ करते हैं। श्रीअर्जुन, उद्धव, सुदामा, श्रीदाम आदि इस श्रेणीके भक्त हैं।

९ आत्मनिवेदन या समर्पण—अहंकाररहित होकर अपना सर्वस्व श्रीभगवान्‌के अर्पण कर देना। महाराजा बलि, श्रीगोपियाँ आदि इस श्रेणीके भक्त हैं।*

* नवधा भक्तिका विशेष विस्तार देखना हो तो गीताप्रेससे प्रकाशित

आठ उपाय

उपर्युक्त नौ उपायोंसे काम न लें तो महर्षि पतञ्जलि-कथित अष्टाङ्गयोगके आठ साधनोंको काममें लानेसे भगवत्-प्राप्ति हो सकती है। वे आठ साधन ये हैं—

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि। (योग० सा० २९)

अर्थात्—

यमनियमासन साधकर, प्राणायाम विधान।
प्रत्याहार सु-धारणा ध्यान समाधि बखान॥

१ यम पाँच हैं—

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः।
(योग० सा० ३०)

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह।

(क) मन, वाणी, शरीरसे किसी प्राणीकी हिंसा न करनी, न करवानी और न समर्थन करना। लोभ, मोह या क्रोधसे किसी प्रकार किसीको किञ्चित् भी कष्ट न पहुँचाना अहिंसा कहलाती है।

(ख) जैसा कुछ देखा-सुना-समझा हो वैसा ही पराये हितकी दृष्टि रखकर यथार्थ कहना सत्य है।

(ग) मन, वाणी, शरीरसे कभी दूसरेकी किसी भी वस्तुपर अधिकार न जमाना अस्तेय है।

भगवच्चर्चा भाग १ (तुलसीदल) नामक पुस्तक मँगवाकर उसके 'भक्तिसुधा-सागर-तरंग' नामक अध्यायको पढ़ना चाहिये।

(घ) आठ प्रकारके मैथुनोंका सर्वथा त्याग करना ब्रह्मचर्य है ।*

(ङ) भोग्य वस्तुओंका सर्वथा संग्रह नहीं करना अथवा ममता-बुद्धिसे किसी भी भोग्य वस्तुका संग्रह न करना अपरिग्रह है।

अहिंसावृत्तिका पूर्ण पालन होनेसे उसके निकट रहनेवाले हिंसक पशुओंमें भी हिंसावृत्ति नहीं रहती । (२ । ३५)

सत्यका व्रत पूरा पालन होनेपर जो कुछ भी कहा जाय वही सत्य हो जाता है, उसकी वाणी कभी व्यर्थ नहीं जाती । (२ । ३६)

अस्तेयव्रतकी पूर्ण पालना होनेसे सारे रत्नोंपर उसका अधिकार हो जाता है ।

ब्रह्मचर्यकी पूर्ण प्रतिष्ठा होनेसे वीर्य यानी शारीरिक और मानसिक महान् पराक्रमकी प्राप्ति होती है । (२ । ३८)

अपरिग्रहके पूर्ण पालनसे जन्मान्तरकी बातें जानी जा सकती हैं । (२ । ३९)

२ नियम—नियम भी पाँच हैं—

शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ।

(योग० सा० ३२)

शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान ।

(क) मिट्टी, जल आदिसे शरीरकी और शुद्ध व्यापार और आचरणोंसे आहार-व्यवहारकी शुद्धि और राग-द्वेषादिके त्यागसे भीतरकी शुद्धि—यह शौच है ।

---

* ब्रह्मचर्यका खुलासा गीताप्रेससे प्रकाशित 'ब्रह्मचर्य' नामक पुस्तकमें पढ़ें ।

(ख) भगवत्कृपासे जो कुछ भी प्राप्त हो जाय उसीमें संतुष्ट होना यह संतोष है ।

(ग) धर्म-पालनके लिये कष्ट सहन करना या कृच्छ्र चान्द्रायणादि व्रत करना अथवा शीतोष्णादि सहना तप है ।

(घ) वेद, उपनिषद्, गीता और ऋषिप्रणीत शास्त्रोंका अध्ययन गायत्री आदि मन्त्र और भगवन्नामका जप स्वाध्याय कहलाता है ।

(ङ) भगवान्को सर्वस्व अर्पण करना और उन्हींके परायण हो जाना ईश्वर-प्रणिधान है ।

बाह्य शौचके पूर्ण पालनसे अपने शरीरपर घृणा हो जाती है और दूसरेके संसर्गमें वैराग्य हो जाता है । आन्तरिक शौचसे चित्तकी शुद्धि, मनकी प्रसन्नता, एकाग्रता, इन्द्रियोंपर विजय और आत्मदर्शनकी योग्यता प्राप्त हो जाती है । (२ । ४०-४१)

संतोषके पूर्ण धारणसे सर्वोत्तम सुखकी प्राप्ति होती है ।(२।४२)

तपके द्वारा अशुद्धिका नाश होकर अणिमा, लघिमा आदि शरीरकी और दूरदर्शन-श्रवण आदि इन्द्रियोंकी सिद्धि प्राप्त होती है । (२ । ४३)

स्वाध्यायसे अपने इष्टदेवताके दर्शन होते हैं । । (२ ।४४)

ईश्वर-प्रणिधानसे समाधिकी सिद्धि होती है । (२ । ४५)

३ *आसन*—स्थिरभावसे अधिक कालतक बैठनेका नाम आसन है । सिद्धासन, पद्मासन, सुखासन आदि अनेक आसन होते हैं । आसनकी सिद्धिसे शीत-उष्ण आदि द्वन्द्वोंसे पीड़ा नहीं होती ।

४ *प्राणायाम*—श्वास-प्रश्वासकी गतिको रोकनेका नाम

प्राणायाम है। रेचक, पूरक और कुम्भक नामक तीन प्रकारके प्राणायाम होते हैं। प्राणायामका अभ्यास गुरुसे सीखकर करना चाहिये। प्राणायामके अभ्याससे प्रकाशका आवरण यानी ज्ञानको ढक रखनेवाला पर्दा क्षय हो जाता है। मनकी शक्ति धारणाके योग्य हो जाती है।

५ *प्रत्याहार*—अपने-अपने विषयोंके साथ सम्बन्ध न रहनेपर इन्द्रियोंका चित्तके अनुसार हो जाना—इसका नाम प्रत्याहार है। प्रत्याहारसे इन्द्रियोंपर पूर्ण विजय मिल जाती है।

६ *धारणा*—एक देशमें चित्तको रोकनेका नाम धारणा है।

७ *ध्यान*—चित्तवृत्तिके ध्येय पदार्थमें तैलधारावत् एकतान स्थिर रहनेका नाम ध्यान है।*

८ *समाधि*—ध्यानकी परिपुष्टि होनेसे ध्याता, ध्यान और ध्येयकी त्रिपुटी मिटकर एकता हो जाती है, तब उसे समाधि कहते हैं। समाधि सबीज और निर्बीज-भेदसे दो प्रकारकी है, सबीजमें त्रिपुटी न रहनेपर भी सूक्ष्म संस्कार रहते हैं और निर्बीजमें सूक्ष्म संस्कारोंका भी अत्यन्त निरोध हो जाता है।

सात उपाय

उपर्युक्त आठ उपायोंका आचरण न हो तो निम्नलिखित सात उपायोंके अनुसार निष्काम आचरण करनेसे भगवत्-प्राप्ति हो सकती है।

---

* ध्यानके सम्बन्धमें विशेष बातें जाननी हों तो इसी पुस्तकके प्रथम भागमें देखना चाहिये।

इस असार संसारमें सात वस्तु हैं सार।
संग, भजन, सेवा, दया, ध्यान, दैन्य, उपकार ॥

१ संग-संगसे यहाँ सत्संगसे तात्पर्य है। भगवत्-प्रेमी महात्मा पुरुषों और सत्-शास्त्रोंके संगसे मनुष्यको जो लाभ होता है, वह अवर्णनीय है। भगवान्‌की महत्ता सत्संगसे ही जानी जाती है। सत्संगसे ही जीवका अज्ञानान्धकार दूर होता है। गोसाईंजी महाराज कहते हैं—

बिनु सतसंग न हरि कथा तेहि बिनु मोह न भाग।
मोह गएँ बिनु राम पद होइ न दृढ़ अनुराग ॥
तात स्वर्ग अपबर्ग सुख धरिअ तुला एक अंग।
तूल न ताहि सकल मिलि जो सुख लव सतसंग ॥

इसी प्रकार श्रीमद्भागवतमें शौनकादि ऋषि कहते हैं—

तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिषः ॥
(१।१८।१३)

'हम एक क्षणभरके भगवत्प्रेमियोंके संगकी तुलनामें मनुष्योंके लिये स्वर्ग या मोक्षको भी तुच्छ समझते हैं, तब अन्य सांसारिक वस्तुओंकी तो बात ही क्या है?' भगवान् स्वयं श्रीउद्धवसे कहते हैं—

न रोधयति मां योगो न सांख्यं धर्म एव च।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो नेष्टापूर्तं न दक्षिणा ॥
व्रतानि यज्ञश्छन्दांसि तीर्थानि नियमा यमाः।
यथावरुन्धे सत्सङ्गः सर्वसङ्गापहो हि माम् ॥
(श्रीमद्भा० ११।१२।१-२)

'हे उद्धव ! सारी सांसारिक आसक्तियोंको नाश करनेवाले सत्संगके द्वारा जिस प्रकार मैं पूरी तरह वशमें होता हूँ, उस प्रकार योग, सांख्य, धर्म, स्वाध्याय, तप, त्याग, यागादि वैदिक कर्म, कुएँ-बावड़ी बनाने और बाग लगाने, दान-दक्षिणा, व्रत, यज्ञ, वेदाध्ययन, तीर्थयात्रा, नियम, यम आदि किसी भी साधनसे नहीं होता ।'

परन्तु सत्संगके लिये साधु कैसे होने चाहिये, इस बातपर भी विचार करना आवश्यक है । श्रीमद्भगवद्गीताके दूसरे अध्यायमें स्थितप्रज्ञ पुरुषोंके, बारहवें अध्यायमें भक्तोंके, चौदहवेंमें गुणातीत पुरुषोंके जो लक्षण बतलाये गये हैं, वैसे लक्षण न्यूनाधिकरूपसे जिन पुरुषोंमें घटते हों, वे ही वास्तविक संत पुरुष हैं । श्रीमद्भागवतमें संतोंके लक्षण बतलाते हुए श्रीकपिलदेवजी महाराज अपनी मातासे कहते हैं—

तितिक्षवः कारुणिकाः सुहृदः सर्वदेहिनाम् ।
अजातशत्रवः शान्ताः साधवः साधुभूषणाः ॥
मय्यनन्येन भावेन भक्तिं कुर्वन्ति ये दृढाम् ।
मत्कृते त्यक्तकर्माणस्त्यक्तस्वजनबान्धवाः ॥
मदाश्रयाः कथा मृष्टाः शृण्वन्ति कथयन्ति च ।
तपन्ति विविधास्तापा नैतान्मद्गतचेतसः ॥
त एते साधवः साध्वि सर्वसङ्गविवर्जिताः ।
सङ्गस्तेष्वथ ते प्रार्थ्यः सङ्गदोषहरा हि ते ॥

(श्रीमद्भा० ३ । २५ । २१–२४)

'हे माता ! जो द्वन्द्वोंको सहन करते हैं, दयालु हैं, सब

भूत-प्राणियोंके निःस्वार्थ प्रेमी हैं, शान्त हैं, जिनके कोई भी शत्रु नहीं है, शीलता ही जिनका भूषण है, जो मुझ भगवान्‌में अनन्य और दृढ़भावसे भक्ति करते हैं, जिन्होंने मेरे लिये समस्त कर्मों और स्वजन-बान्धवोंके ममत्वको भी त्याग दिया है, जो मेरे ही आश्रित हैं, मेरी कथाको मधुर समझनेवाले हैं, नित्य मेरी ही कथा कहते-सुनते हैं, ऐसे मुझमें लगे हुए चित्तवाले वे साधु तरह-तरहके तापोंसे पीड़ित नहीं होते। ऐसे वे साधु समस्त आसक्तियोंसे रहित होते हैं और वे ही आसक्तिके दोषका नाश कर सकते हैं। अतएव हे साध्वि ! उन्हींका संग करना चाहिये।'

इसलिये हजार काम छोड़कर भी सदा प्रेमसे और श्रद्धासे सत्संग करना चाहिये।

२ भजन—गोसाईंजी महाराज कहते हैं—

बारि मथें घृत होइ बरु सिकता ते बरु तेल।
बिनु हरि भजन न भव तरिअ यह सिद्धांत अपेल॥

बात भी ठीक है। संसारसे तरनेके लिये भगवान्‌का भजन ही मुख्य है। भजनके पीछे सारे गुण आप ही आ जाते हैं। ध्रुव, प्रह्लाद, मीरा आदि भक्तोंको भजनके ही प्रतापसे भगवान्‌ने दर्शन देकर कृतार्थ किया था।

३ सेवा—सेवा मनुष्यका मुख्य धर्म है। सारे संसारको भगवान्‌का स्वरूप समझकर मन, वाणी, शरीरसे अभिमान छोड़कर सबकी निःस्वार्थ सेवा करनी चाहिये। जिसकी सेवा करनेका मौका मिले, उसका और भगवान्‌का अपने ऊपर उपकार मानना

चाहिये। क्योंकि उसने हमारी सेवा स्वीकार करके और भगवान्‌ने सेवाका अवसर प्रदान करके हमारा बड़ा उपकार किया। सेवा करके किसीपर एहसान नहीं करना चाहिये तथा सेवा स्वीकार करनेवाले-को कभी छोटा नहीं समझना चाहिये।

४ दया—दुखी प्राणीके दुःखको देखकर हृदयका पिघल जाना और उसका दुःख दूर करनेके लिये मनमें भाव उत्पन्न होना दया कहलाता है। अहिंसा अक्रिय है और दया सक्रिय है। अहिंसामें केवल हिंसासे बचना है, परन्तु दयामें दूसरेको सुख पहुँचाना है। जिस मनुष्यके दिलमें दया नहीं, उसका हृदय पाषाणके समान है। गरीब, अनाथ, अपाहिज, रोगी, असहाय जीवों-पर दया करके जीवनको सफल करना चाहिये। चैतन्य महाप्रभुने तो तीन ही बातोंमें अपना उपदेश समाप्त किया है—

नामे रुचि, जीवे दया, वैष्णव-सेवन।
इहा छाड़ा आर नाहिं जानि सनातन॥

'हे सनातन! भगवान्‌के नाममें रुचि, जीवोंपर दया और भक्तोंका संग—इन तीनके सिवा मैं और कुछ भी नहीं जानता।'

५ ध्यान—ध्यान तो ईश्वर-प्राप्तिकी कुंजी है। ध्यान करनेकी कोशिश करनेपर अभ्यास न होनेके कारण पहले-पहले मन ऊबता है तथा घबराता है, परंतु यदि दृढ़ निश्चयके साथ रोज-रोज नियमित-रूपसे ध्यानका अभ्यास किया जाय तो मन ध्यानका अभ्यासी बन जाता है। फिर ध्यानमें जो आनन्द आता है, वैसा आनन्द अन्य किसी कार्यमें नहीं आता। इसलिये नित्यप्रति दृढ़ निश्चयके साथ

अपने इष्टदेवके ध्यानका अभ्यास अवश्य करना चाहिये । ध्यान सबसे बढ़कर उपाय है ।

६ दैन्य—अभिमान ही मनुष्यको गिरानेवाला है, यदि मनुष्य विनयी हो जाय, परमात्माके सामने दीन बन जाय तो दीन-बन्धु उसपर अवश्य दया करते हैं, इसलिये वक्रता और ऐंठको छोड़कर दीनता धारण करनी चाहिये ।

७ उपकार—लिखा है—

अष्टादशपुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम् ।
परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम् ॥

'अठारह पुराणोंमें व्यासके दो ही वचन हैं—परोपकार पुण्यका हेतु है और परपीडन पापका हेतु है ।' गोसाईंजी महाराज भी कहते हैं—

पर हित सरिस धर्म नहिं भाई । पर पीड़ा सम नहिं अधमाई ।
पर हित बस जिन्ह के मन माहीं । तिन्ह कहँ जग दुर्लभ कछु नाहीं ॥

अतएव अभिमान, स्वार्थ और कामनाको छोड़कर निरन्तर परोपकारमें रत रहना चाहिये ।

छः उपाय

उपर्युक्त सात उपायोंके अनुसार न चला जाय तो नीचे लिखे छः उपायोंका अनुसरण करना चाहिये । इन्हींके निष्काम आचरणसे भगवत्-प्राप्ति हो सकती है—

सन्ध्या, पूजा, यज्ञ, तप, दया सु-सात्त्विक दान ।
इन छःके आचरणसे निश्चय हो कल्यान ॥

१ *संध्या*—द्विजातिमात्रको नित्य त्रिकाल-संध्या करनी चाहिये । त्रिकाल न हो सके तो प्रातःकाल और सायंकाल दो समय तो संध्या अवश्य ही करें । संध्याके द्वारा परमात्माकी—सूर्य, अग्नि और जलरूपसे उपासना होती है । मनु महाराज कहते हैं—

न तिष्ठति तु यः पूर्वां नोपास्ते यश्च पश्चिमाम् ।
स शूद्रवद्बहिष्कार्यः सर्वस्माद्द्विजकर्मणः ॥
(२ । १०३)

'जो द्विज प्रातःकाल और सायंकालकी संध्योपासना नहीं करता, उसे द्विजजातिके सारे कार्योंसे शूद्रकी तरह दूर रखना चाहिये ।'

अतः संध्योपासन कभी छोड़ना नहीं चाहिये । सूतक आदिके समय या रेल वगैरहमें मानसिक संध्या कर लेना उचित है । संध्या ठीक समयपर करनी चाहिये ।

संध्याका समय यह है—

उत्तमा तारकोपेता मध्यमा लुप्ततारका ।
कनिष्ठा सूर्यसहिता प्रातःसन्ध्या त्रिधा स्मृता ॥
उत्तमा सूर्यसहिता मध्यमा लुप्तभास्करा ।
कनिष्ठा तारकोपेता सायंसन्ध्या त्रिधा स्मृता ॥
(देवीभाग० ११ । १६ । ४-५)

'प्रातःकालकी संध्या तीन प्रकारकी है, तारा रहते उत्तम, तारे अदृश्य हो जानेपर मध्यम और सूर्य उदय होनेपर कनिष्ठ; इसी प्रकार सायं-संध्या भी तीन प्रकारकी है, सूर्य रहते उत्तम, सूर्य छिप जानेपर मध्यम और तारे उदय होनेपर कनिष्ठ ।'

प्रातःकाल सूर्यदेवके रूपमें भगवान् हमारे प्रदेशमें पधारते हैं और सायंकाल दूसरे प्रदेशके लिये जाते हैं। जैसे हम अपने किसी पूज्य सम्मान्य अतिथिके हमारे घरपर आनेके समयसे पूर्व ही उसके स्वागतकी तैयारी करते हैं, स्टेशनपर पहलेहीसे पहुँच कर उसके सम्मान-सत्कारके लिये पुष्पहार आदि लेकर उसका अभिवादन करनेके लिये खड़े रहते हैं और उसके जानेके समय पहलेहीसे सारा प्रबन्ध कर ठीक समयपर उसके साथ स्टेशनतक जाते हैं, इसी प्रकार संध्याके द्वारा भगवान् सूर्यदेवका अभिवादन किया जाता है जो ठीक समयपर ही होना चाहिये। संध्योपासनासे सारे पाप दूर होते हैं और इसीसे अन्तमें भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है। यदि हम जीवनभर नियमपूर्वक सूर्यदेवकी दोनों समय निष्काम-भावसे अभ्यर्थना करेंगे तो हमारे मरनेपर सूर्यदेवको भी हमारी मुक्तिके लिये सहायता करनेको बाध्य होना पड़ेगा। शास्त्रमें कहा है—

सन्ध्यामुपासते ये तु सततं संशितव्रताः।
विधूतपापास्ते यान्ति ब्रह्मलोकं सनातनम्॥

'जो द्विज दृढ़प्रतिज्ञ होकर प्रतिदिन नियमपूर्वक संध्योपासन करते हैं, वे पापोंसे मुक्त होकर सनातन ब्रह्मलोकको प्राप्त होते हैं।'

२ *पूजा*—भगवन्मूर्तिकी बाह्य या मानसिक पूजा नित्य नियमपूर्वक सबको करनी चाहिये। स्त्रियों और बालकोंके लिये घर-घरमें भगवान्‌की मूर्ति या चित्रपट रखकर पूजाकी व्यवस्था होनी चाहिये। स्त्री-बच्चे घरमें भगवान्‌की पूजा करते रहेंगे तो उनके संस्कार अच्छे

होंगे। भगवान्‌में भक्ति उत्पन्न होगी। मीराबाई, धन्ना जाट आदि भक्तगण इसी प्रकार पूजासे परम भक्त हो गये थे।

३ *यज्ञ*—श्रीमद्भगवद्गीतामें तो अनेक प्रकारके यज्ञ बतलाये हैं। जिनमें भगवान्‌ने जप-यज्ञको तो अपना स्वरूप ही बतलाया है 'यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि' (१०।२५)। इसलिये भगवान्‌के नामका जप तो सभीको करना चाहिये। २१६०० श्वास मनुष्यको प्रायः रोज आते हैं, इसलिये इतने नामोंका जप तो जरूर कर ही लेना चाहिये। जपमें उपांशु जप सर्वोत्तम है। इसके सिवा गृहस्थके लिये पञ्चमहायज्ञकी भी बड़ी आवश्यकता है। कम-से-कम बलिवैश्वदेव तो नित्यप्रति अवश्य ही करना चाहिये। बलिवैश्वदेवकी विधि अन्यत्र प्रकाशित है।

४ *तप*—स्वधर्मके पालनमें बड़े-से-बड़ा कष्ट सहना तप कहलाता है। तथा गीता अध्याय १७ श्लोक १४ से १९ तक शारीरिक, मानसिक, वाचिक तीन प्रकारके तपका वर्णन है, उसके अनुसार सात्त्विक तप करना चाहिये।

५ दया—स्मृतिकार कहते हैं—

परे वा बन्धुवर्गे वा मित्रे द्वेष्टरि वा सदा।
आपन्ने रक्षितव्यं तु दयैषा परिकीर्तिता॥

(अत्रिस्मृ० ४१)

'घरका हो या बाहरका, मित्र हो या वैरी, किसीको भी दुःखमें देखकर सदैव ही उसको बचानेकी चेष्टा करनी दया कहलाती है।' दयालु पुरुषका हृदय दूसरेके दुःखको देखकर तत्काल द्रवित हो जाता है। कहा है—

दया धर्मका मूल है पाप-मूल अभिमान।
तुलसी दया न छाँड़िये जब लगि घटमें प्रान॥

६ दान—दान देना मनुष्यमात्रका धर्म है। धन, विद्या, बुद्धि, अन्न, जल, वस्त्र, सत्परामर्श जिसके पास जो कुछ हो, योग्य देश, काल, पात्र देखकर उसका दान करना चाहिये; परंतु दान सात्त्विक-भावसे होना चाहिये। जो दान देश, काल, पात्र न देखकर बिना सत्कार या तिरस्कारपूर्वक दिया जाता है, वह तामस है। जो मनमें कष्ट पाकर, बदला लेनेकी इच्छासे या मान-बड़ाई-प्रतिष्ठा, पुत्र-प्राप्ति, रोग-निवृत्ति या स्वर्ग-सुखादिकी प्राप्तिके लिये दिया जाता है, वह राजस है और जो कर्तव्य समझकर प्रत्युपकारकी कोई भी भावना न रखकर उचित देश, काल, पात्रमें दिया जाता है, वह सात्त्विक दान है। सात्त्विक दान भगवत्प्राप्तिमें बहुत सहायक होता है। जिस देश और कालमें जिस वस्तुका जिन प्राणियोंके अभाव हो और अपने पास वह वस्तु हो तो उस देश, कालमें उस वस्तुके द्वारा उन प्राणियोंकी सेवा करना ही देश, काल देखकर दान देना है। भूखे, अनाथ, दुखी, रोगी और असमर्थ तथा आर्त-भिखारी आदि तो अन्न, वस्त्र, ओषधि या जिस वस्तुका जिसके पास अभाव हो, उस वस्तु-द्वारा सेवा करनेके सदैव ही योग्य पात्र हैं, दानकी महत्ता रुपयोंकी संख्यापर नहीं है। वह तो दाताकी नीयतपर निर्भर है। जिस दानमें जितना ही अधिक स्वार्थ-त्याग होगा, उतना ही उसका महत्त्व अधिक है। इसीलिये महाभारतके अश्वमेधपर्वमें पाण्डवोंके अपार दानकी निन्दा कर नकुलने उञ्छवृत्तिवाले गरीब ब्राह्मणके साधारण

सत्तूके दानको महत्त्वपूर्ण बतलाया था (महा० अश्व० ९० । ७)। एक आदमी नामके लिये या अन्य किसी स्वार्थके वशमें होकर अपने करोड़ रुपयोंमेंसे लाख रुपये दान करता है और दूसरा एक गरीब निःस्वार्थभावसे कर्तव्य समझकर अपने पेटको खाली रखकर अपनी एक ही रोटीमेंसे आधी रोटी दे देता है, इन दोनोंमें आधी रोटीके दानका महत्त्व अधिक है। यों तो न देनेकी अपेक्षा सकामभावसे भी अच्छे कार्यमें दान देना उत्तम ही है।

पाँच उपाय

उपर्युक्त छः उपायोंको काममें न लाया जाय तो निम्नलिखित पाँचकी शरण ग्रहण करनी चाहिये। इन पाँचोंकी कृपासे परम सिद्धि मिल सकती है।

गायत्री, गोविन्द, गौ, गीता, गङ्गास्नान।
इन पाँचोंकी कृपासे शीघ्र मिलें भगवान ॥

१ *गायत्री*—शास्त्रोंमें गायत्रीकी बड़ी ही महिमा गायी गयी है। गायत्रीका जप शुद्ध और मौन होकर प्रणव और व्याहृति-सहित करना चाहिये। गायत्री-मन्त्रमें सच्चिदानन्दघन विश्वव्यापी ब्रह्मकी स्तुति, उनके दिव्य तेजका ध्यान और प्रार्थना है।

भगवान् मनु गायत्रीकी महिमामें लिखते हैं—

ओङ्कारपूर्विकास्तिस्रो महाव्याहृतयोऽव्ययाः।
त्रिपदा चैव सावित्री विज्ञेयं ब्रह्मणो मुखम् ॥
एतदक्षरमेतां च जपन्व्याहृतिपूर्विकाम्।
सन्ध्ययोर्वेदविद्विप्रो वेदपुण्येन युज्यते ॥

सहस्रकृत्वस्त्वभ्यस्य बहिरेतत्त्रिकं द्विजः ।
महतोऽप्येनसो मासात्त्वचेवाहिर्विमुच्यते ॥
योऽधीतेऽहन्यहन्येतांस्त्रीणि वर्षाण्यतन्द्रितः ।
स ब्रह्म परमभ्येति वायुभूतः खमूर्तिमान् ॥

(२ । ८१, ७८-७९, ८२)

ओङ्कारसहित तीन महाव्याहृति और तीन पदोंवाली गायत्रीको वेदका मुख समझना चाहिये । जो वेदज्ञ द्विज प्रातःकाल और सायंकाल प्रणव (ॐ) और व्याहृति (भूः, भुवः, स्वः) सहित इस गायत्रीका जप करते हैं, उनको सम्पूर्ण वेदके अध्ययनका फल मिलता है । जो द्विज नगरके बाहर (एकान्त स्थानमें) स्थित हो, प्रतिदिन एक मासतक एक सहस्र गायत्रीका जप करता है, वह जैसे साँप काँचुलीसे छूट जाता है, इसी प्रकार महान् पापसे छूट जाता है । जो पुरुष आलस्यको छोड़कर प्रतिदिन नियमपूर्वक तीन वर्षतक गायत्रीका जप करता है, वह वायुकी तरह गतिवाला और आकाशकी भाँति निर्लेप होकर परब्रह्म परमात्माको प्राप्त होता है ।' अतएव गायत्रीका जप प्रतिदिन अवश्य करना चाहिये ।

२ गोविन्द—भगवान् श्रीगोविन्दके अनन्य चिन्तनसे क्या नहीं होता ? भगवान् स्वयं कहते हैं—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥

(गीता ९ । २२)

'जो अनन्यभावसे मेरेमें स्थित हुए भक्तजन मुझ परमेश्वरको

निरन्तर चिन्तन करते हुए निष्कामभावसे भजते हैं, उन नित्य एकीभावसे मुझमें स्थितिवाले पुरुषोंका योगक्षेम मैं स्वयं प्राप्त कर देता हूँ ।' अतएव दृढ़ निश्चय और श्रद्धा-प्रेमके साथ भगवान्‌का चिन्तन करना चाहिये ।

३ *गौ*—हिंदू-शास्त्रोंमें गौकी बड़ी महिमा है । गौकी सेवासे सर्व अभीष्टोंकी सिद्धि होती है । गोमूत्र, गोमय, दूध, दही और घृत—यह पञ्चगव्य पवित्र और पापनाशक है । आजकल गौ-जातिका भारतमें बड़ी ही निर्दयताके साथ ह्रास किया जा रहा है । प्रत्येक धर्मभीरु उन्नति चाहनेवाले पुरुषको तत्पर होकर यथाशक्ति गौ-जातिकी रक्षा और गौकी सेवा करनी चाहिये ।

४ *गीता*—गीता तो भगवान्‌का हृदय है । 'गीता मे हृदयं पार्थ ।'

भगवान् व्यासदेवजी कहते हैं—

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः ।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता ॥

(महा० भीष्म० ४३ । १)

'स्वयं कमलनाभ भगवान्‌के मुख-कमलसे निकली हुई गीताका ही भलीभाँति गान करना चाहिये, अन्य शास्त्रोंके विस्तारसे क्या प्रयोजन है ?'

गीताकी महिमा कोई क्या कह सकता है ? जो मन लगाकर गीताका अध्ययन करता है, उसीको अनुभव होता है । गीतामें बहुत-से ऐसे श्लोक हैं कि जिनमेंसे किसी आधे या चौथाई श्लोकके

अनुसार भी आचरण किया जाय तो भगवत्-प्राप्ति सहज ही हो सकती है। कहा गया है—

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत् ॥

'सम्पूर्ण उपनिषद् गौ हैं, दुहनेवाले गोपालनन्दन श्रीकृष्ण हैं, अर्जुन बछड़ा है, श्रेष्ठ बुद्धिवाला पुरुष इस महान् गीतामृतरूपी दुग्धको पान करनेवाला है।' अतएव प्रतिदिन मन लगाकर अर्थ-सहित गीताका पाठ और अध्ययन अवश्य करना चाहिये।

५ *गङ्गास्नान*—श्रीगङ्गाजीकी अपार महिमा है। भक्तोंने गङ्गाजीका नाम ब्रह्मद्रव रक्खा है यानी साक्षात् ब्रह्म ही पिघलकर निराकारसे नीराकार होकर बह चला है। गङ्गाके स्नान-पानसे पापोंका नाश और मुक्तिकी प्राप्ति शास्त्रोंमें जगह-जगह बतलायी गयी है। आज भी गङ्गातट-जैसा पवित्र स्थान और प्रायः नहीं मिलता। अच्छे-अच्छे साधु-महात्मा गङ्गा-तटपर ही निवास करते हैं। विदेशी डाक्टरोंने परीक्षा करके बतलाया है कि गङ्गाजलमें रोगनाशक शक्ति है। किसी भी रोगके बीजाणु होवें, गङ्गामें पड़कर नष्ट हो जाते हैं। वर्षों रक्खे रहनेपर भी गङ्गाजलमें कीड़े नहीं पड़ते, यह तो विख्यात बात है। जो कोई श्रद्धासे श्रीगङ्गाजीका सेवन, स्नान और जलपान करता है, वह परमगतिको पाता है, यह शास्त्रोंका सिद्धान्त है।

चार उपाय

उपर्युक्त पाँच उपाय न हों तो नीचे लिखे चार उपायोंको काममें लाना चाहिये।

संयम, सेवा, साधना, सत्पुरुषोंका संग।
ये चारों करते तुरत मोहनिशाको भंग॥

१ संयम—मन, वाणी, शरीरको इच्छानुसार न चलने देकर और सांसारिक विषय-भोगोंसे रोककर कल्याणमय मार्गमें लगाना ही संयम कहलाता है। मनु महाराजने तो मन, वाणी, शरीरको संयममें रखनेवालेको ही त्रिदण्डी कहा है—

वाग्दण्डोऽथ मनोदण्डः कायदण्डस्तथैव च।
यस्यैते निहिता बुद्धौ त्रिदण्डीति स उच्यते॥
त्रिदण्डमेतन्निक्षिप्य सर्वभूतेषु मानवः।
कामक्रोधौ तु संयम्य ततः सिद्धिं नियच्छति॥

(१२।१०-११

'वाग्दण्ड अर्थात् वाणीका संयम, मनोदण्ड अर्थात् मनका संयम और कायदण्ड अर्थात् शरीरका संयम, इन तीनोंको जो बुद्धिपूर्वक संयममें रखता है वही त्रिदण्डी है। जो मनुष्य समस्त प्राणियोंके प्रति मन, वाणी, शरीरको संयमित कर लेता है तथा उनको रोकनेके लिये काम, क्रोधका संयम करता है, वह मोक्षको प्राप्त करता है।'

जो पुरुष मन, इन्द्रिय और शरीरको वशमें रखकर राग-द्वेषके वशमें न होकर संसारमें विचरता है, वही आनन्दको प्राप्त होता है। संयमी पुरुष ही नीरोग, बलवान्, धर्मात्मा, दीर्घायु और मोक्षके योग्य होते हैं।

२ सेवा—गुरुजनोंकी और प्राणीमात्रकी निष्काम भावसे,

भगवद्बुद्धिसे सेवा करनेवाला पद-पदपर भगवान्‌की सेवा करता हुआ अन्तमें भगवान्‌को प्राप्त करता है।

३ *साधना*—भगवत्प्राप्तिके लिये भजन, ध्यान आदि जो कुछ भी किया जाय सभी साधना है। अपने-अपने अधिकार, विश्वास, प्रकृति और रुचिके अनुसार भगवान्‌को पानेके लिये नियमित साधन अवश्य करना चाहिये।

४ *सत्पुरुषोंका संग*—भागवतमें कहा है—

दुर्लभो मानुषो देहो देहिनां क्षणभङ्गुरः।
तत्रापि दुर्लभं मन्ये वैकुण्ठप्रियदर्शनम्॥

(११।२।२९)

'प्राणियोंके लिये मनुष्यदेह अत्यन्त दुर्लभ और क्षणभंगुर है। इसमें भी भगवान्‌के प्रिय भक्तोंके दर्शन तो और भी दुर्लभ हैं; क्योंकि भक्त, संत-महात्मा एक प्रकारसे भगवान्‌के ही रूप हैं।' गुसाईंजी महाराज तो उन्हें रामसे भी बढ़कर बतलाते हैं—'राम तें अधिक राम कर दासा'। संतोंके संगसे पापोंका नाश होता है, अन्तःकरणकी पुष्टि होती है, मन परमात्मामें लगता है और संशयोंका उच्छेद होकर भगवत्-प्राप्ति होती है। अतएव सत्पुरुषोंके संगका आश्रय अवश्य लेना चाहिये।

राजा रहूगणके प्रति महात्मा जडभरत कहते हैं—

रहूगणैतत्तपसा न याति न चेज्यया निर्वपणाद् गृहाद्वा।
नच्छन्दसा नैव जलाग्निसूर्यैर्विना महत्पादरजोऽभिषेकम्॥

(श्रीमद्भा० ५।१२।१२)

'हे राजन्! परमज्ञान केवल महापुरुषोंकी चरणरज मस्तकपर

धारण करनेसे ही मिलता है। तपसे, वेदोंसे, दानसे, यज्ञसे, गृहस्थ-धर्मके पालनसे, जल, अग्नि या सूर्यकी उपासनारूप कर्मोंसे वह किसी प्रकार भी नहीं मिलता।' अतएव महापुरुषोंका सेवन ही मोक्षका द्वार है।

तीन उपाय

उपर्युक्त चार साधन न कर सकें तो निम्नलिखित तीन साधन करने चाहिये—

सत्य वचन, आधीनता, पर-तिय मातु-समान।
इतनेपै हरि ना मिले, तो तुलसीदास जमान॥

१ सत्य वचन—कहा है—

सत्य बराबर तप नहीं झूठ बराबर पाप।
जिनके हियमें साँच है तिनके हियमें आप॥

सत्य भगवान्‌का स्वरूप है, जहाँ सत्य है, वहीं भगवान् हैं। सत्यवादी होनेके कारण आजतक श्रीहरिश्चन्द्रका नाम चल रहा है। सत्यवादी होनेके कारण ही जो मुँहसे निकल जाता है, वही सत्य हो जाता है। स्वार्थ, आदत, हँसी-मजाक या भविष्यके वचनोंमें भी किसी प्रकार झूठ नहीं बोलना चाहिये।

२ *आधीनता*—अपनेको भगवान्‌के अधीन (अनुकूल) बना देना, अपनी स्वतन्त्रता छोड़कर परमात्माका सेवक बनकर उनकी आज्ञा और संकेतके अनुसार जीवन बिताना ही आधीनता संसारमें भगवद्भावसे पुत्रको माता-पिताके, शिष्यको गुरुके पतिके और सेवकको स्वामीके अधीन रहकर कर्तव्यका पाल भी भगवान्‌के ही अधीन होना है।

भगवान्‌के अधीन होनेपर उसमें भगवान्‌के प्रायः सभी गुणोंका विकास हो जाता है। स्वामीके बलको पाकर सेवक महान् बलवान् हो जाता है। राजाके अधीन रहनेवाला मामूली सिपाही राजाके बलपर बड़े-बड़े धनियों और शक्तिशालियोंको बाँध लेता है, इसी प्रकार भगवान्‌के अधीन होकर मनुष्य भगवान्‌के बलसे बलीयान् हो सारे पापोंपर विजय प्राप्त करके भगवान्‌का परम प्रेमी बन सकता है।

३ *पर-तिय मातु-समान*—स्त्रीमात्र जगत्-जननीका स्वरूप है, यह समझकर अपनी स्त्रीको छोड़कर अन्य सबके चरणोंमें हृदयसे प्रणाम करना और सबके प्रति भक्ति-श्रद्धा रखना मनुष्यके लिये कल्याणप्रद है। जो पुरुष पर स्त्रीमात्रमें मातृ-बुद्धि रखता है, उसके तेज और तपकी वृद्धि होती है और वह पापोंसे बचकर भगवान्‌को पा सकता है।

कहा जाता है कि यह दोहा श्रीतुलसीदासजी महाराजका है और वे इसमें इस बातका जिम्मा लेते हैं कि इन तीनों साधनोंका आश्रय लेनेवाले अवश्य ही तर जायँगे।

दो उपाय

उपर्युक्त तीन साधन न साधे जायँ तो नीचे लिखे दो ही साधनोंका अनुसरण करना चाहिये—

दो बातनको भूल मत जो चाहै कल्यान।
नारायण इक मौतको दूजे श्रीभगवान ॥

१ *मौतकी याद*—संसारकी प्रत्येक वस्तु नाश होनेवाली है, जो उत्पन्न हुआ है, उसका नाश अवश्यम्भावी है। हमारा शरीर

और हमारे सम्बन्धी तथा समस्त विषय एक दिन कालके ग्रास बन जायँगे। फिर इनसे मोह क्यों? इस नाशवान् शरीरके लिये जो प्रतिक्षण मृत्युकी ओर बढ़ रहा है, इतना प्रपञ्च किसलिये? मनुष्यको मौत याद नहीं रहती, इसीसे उसे विषयोंमें वैराग्य नहीं होता। महाराज युधिष्ठिरने यक्षसे कहा है—

> अहन्यहनि भूतानि गच्छन्तीह यमालयम्।
> शेषाः स्थिरत्वमिच्छन्ति किमाश्चर्यमतः परम्॥
>
> (महा० वन० ३१३।११६)

'रोज-रोज प्राणी मरकर यमलोकको जा रहे हैं, (हाथसे उनकी दाह-क्रिया करते हैं) परन्तु बचे हुए लोग सदा जीना ही चाहते हैं, इससे बढ़कर अचरज और क्या होगा! इसलिये 'नारायण स्वामी' मौतको याद रखनेका उपदेश देते हैं, क्योंकि हर समय मौतको याद रखनेसे नये पाप नहीं बन सकते तथा विषयोंमें वैराग्य हो जाता है।

२ *भगवान्‌की याद*—वैराग्यके साथ ही अभ्यास भी होना चाहिये। भगवान्‌ने अभ्यास और वैराग्य दोनोंके सम्पादनसे ही मनका निरोध बतलाया है। मृत्युको नित्य याद रखनेसे वैराग्य तो हो जायगा, परन्तु उससे आनन्द नहीं मिलेगा। जगत् शून्य और विनाशी प्रतीत होगा। इसलिये उसीके साथ भगवान्‌का चिन्तन होना चाहिये। सारे संसारमें भगवान् ही व्याप्त हो रहे हैं और जो कुछ होता है, सब उन्हींकी लीला है। वही परमानन्द और परम चेतन तथा ज्ञानस्वरूप हैं। निरन्तर उनका स्मरण करनेसे सब

पापोंके नाश और मनके भगवदाकार हो जानेपर अनायास ही मोक्षकी प्राप्ति हो जाती है।

एक ही उपाय

ये दो उपाय भी न हों तो भगवान् श्रीकृष्णके मुखसे उपदिष्ट, सबका सार और महान् इस एक उपायका अवलम्बन तो सभीको करना चाहिये। यह एक ही उपाय ऐसा है जिसके उपयोग करनेसे आप ही सब कुछ सिद्ध हो जाता है। उपाय है—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥
(गीता १८।६६)

अर्थात्—

सब धर्मनको छोड़कर एक शरण मम होहि।
चिन्ता तजु, सब पापतें मुक्त करौंगो तोहि॥

'हे अर्जुन! तू सब धर्मोंको अर्थात् सम्पूर्ण कर्मोंके आश्रयको त्यागकर केवल एक मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेव परमात्माकी ही अनन्यशरणको प्राप्त हो, मैं तुझको सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा, तू शोक मत कर।' भगवान् श्रीराम कहते हैं—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम॥
(वा० रा० ६।१८।३३)

'जो एक वार भी मेरी शरण होकर यह कह देता है कि मैं तेरा हूँ, उसको मैं सर्व भूतोंसे अभय कर देता हूँ, यह मेरा व्रत है।'

बस, भगवान्की सर्वतोभावेन शरणागति ही परम और सर्वोत्तम उपाय है। जो भगवान्के शरण हो गया वह भगवान्का हो गया, वह सदाके लिये निर्भय और निश्चिन्त हो गया।* अतएव सबका आश्रय छोड़कर हमारे एकमात्र परम प्रेमी सदा हित करनेवाले भगवान्की शरण ग्रहण करनी चाहिये।

श्रद्धा और सत्संगकी आवश्यकता

एक सज्जनने तीन प्रश्न किये हैं प्रश्न निम्नलिखित हैं--

१--माता, पिता, स्त्री, पुत्रकी भाँति साकार ईश्वरके प्रत्यक्ष दर्शन कैसे हो सकते हैं?

२--ईश्वरमें तर्करहित श्रद्धा किस अभ्याससे हो सकती है?

३--सीयराममय सब जग जानी। करौं प्रनाम जोरि जुग पानी॥' ऐसी सच्ची भावना कैसे हो?

प्रश्नोंका उत्तर

ईश्वर-विषयक ये तीनों ही प्रश्न बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। अपनी साधारण बुद्धिके अनुसार यत्किञ्चित् उत्तर लिखनेका साहस कर रहा हूँ।

(१) पहले प्रश्नका साधारण विवेचन इसी पुस्तकके प्रथम भागके पृष्ठ १५८ एवं १५९ में किया गया है। आप उसे देख सकते

---

* शरणागतिका विशेष तत्त्व जानना हो तो इसी पुस्तकका प्रथम भाग पढ़िये।

हैं, उसके सिवा अपनी बुद्धिके अनुसार कुछ फिर भी लिख देता हूँ।

विशुद्ध प्रेम ही ईश्वरके प्रत्यक्ष दर्शनका प्रधान उपाय है। यह प्रेम किस प्रकार होता है, इसका विवेचन करना चाहिये। सबसे प्रथम यह विश्वास होना आवश्यक है कि ईश्वर है और वह सुहृद्, सर्वशक्तिमान्, सर्वान्तर्यामी, परम दयालु, प्रेममय, आनन्ददाता, सर्वत्र साक्षात् विराजमान है। जबतक इस प्रकारका विश्वास नहीं होता, तबतक मनुष्य परमात्मासे मिलनेका अधिकारी ही नहीं हो सकता। पवित्र अन्तःकरण होनेपर ही मनुष्य अधिकारी हो सकता है। निष्कामभावसे किये हुए भजन, ध्यान, सेवा, सत्संग मनुष्यके हृदयको पवित्र करते हैं और पवित्र हृदय होनेसे मनुष्य अधिकारी बनता है। ईश्वरका ज्ञान भी उसके अधिकारी बननेके साथ-ही-साथ बढ़ता रहता है। इस प्रकार जब मनुष्यको ईश्वरका भली प्रकार ज्ञान हो जाता है और जब वह ईश्वरको भलीभाँति तत्त्वसे जान लेता है, तब ईश्वरसे वह जिस रूपमें मिलना चाहता है, भगवान् उसी रूपमें उसको दर्शन देते हैं। भगवान् सर्वव्यापी परमात्मा सच्चिदानन्दरूपसे तो सर्वदा वर्तमान हैं ही, पर भगवान्के रहस्यका ज्ञाता भगवद्भक्त जिस सगुण, साकार, चेतनमय मूर्तिमें उनसे मिलनेकी इच्छा करता है वह नटवर उसी मोहिनी मूर्तिमें अपने प्रेमी भक्तसे मिलता एवं बातें करता है। इसमें प्रधान कारण प्रेम और पूर्ण विश्वास है, जिसको विशुद्ध श्रद्धा भी कहा जाता है, इसीकी भगवान्ने गीतामें स्थान-स्थानपर प्रशंसा की है। जैसे—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥

(६।४७)

'सम्पूर्ण योगियोंमें भी जो श्रद्धावान योगी मुझमें लगे हुए अन्तरात्मासे मुझको निरन्तर भजता है, वह योगी मुझे परम श्रेष्ठ मान्य है।'

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥
(१२। २)

'मुझमें मनको एकाग्र करके निरन्तर मेरे भजन-ध्यानमें लगे हुए जो भक्तजन अतिशय श्रेष्ठ श्रद्धासे युक्त हुए मुझ सगुणरूप परमेश्वरको भजते हैं, वे मुझको योगियोंमें भी अति उत्तम योगी मान्य हैं, अर्थात् उनको मैं अति श्रेष्ठ मानता हूँ।'

वह सर्वव्यापी सच्चिदानन्दघन प्रभु सगुण साकाररूपसे किस प्रकार प्रकट होते हैं ! इस रहस्यको यथार्थतासे तो भगवान्का परम श्रद्धालु अनन्यप्रेमी पूर्ण भक्त ही जानता है। क्योंकि यह इतना गम्भीर और रहस्यपूर्ण विषय है कि अन्तःकरणकी पवित्रताके बिना साधारण मनुष्योंकी तो बुद्धिमें ही इसका आना सम्भव नहीं। पर जो उस परमेश्वरका नित्य-निरन्तर स्मरण करते हैं, उनके लिये यह भगवान्का रहस्यपूर्ण तत्त्व सहज है।

यद्यपि साधु, महात्मा और शास्त्रोंने इस तत्त्वको समझानेके लिये बहुत प्रयत्न किया है, पर करोड़ोंमें कोई एक विरला ही इस तत्त्वको समझ पाता है—

भगवान्ने गीतामें कहा है—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥
(७। ३)

'हजारों मनुष्योंमें कोई ही मनुष्य मेरी प्राप्तिके लिये यत्न करता है और उन यत्न करनेवाले योगियोंमें भी कोई ही पुरुष मेरे परायण हुआ मुझको तत्त्वसे जानता है अर्थात् यथार्थ मर्मसे जानता है।'

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेन-
　　माश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति
　　श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्॥
(गीता २। २९)

'क्योंकि यह आत्मतत्त्व बड़ा गहन है, इसलिये कोई महापुरुष ही इस आत्माको आश्चर्यकी-ज्यों देखता है और वैसे ही कोई दूसरा महापुरुष ही आश्चर्यकी-ज्यों इसके तत्त्वको कहता है और दूसरा कोई ही इस आत्माको आश्चर्यकी-ज्यों सुनता है और कोई-कोई तो सुनकर भी इस आत्माको नहीं जानता।'

जिस प्रकार चुम्बक पत्थर लोहेको आकर्षित करता है, फोनोग्राफकी चूड़ी और रेडियो शब्दको ग्रहण करते हैं एवं कैमेरेका प्लेट जैसे आकारको पकड़ता है, उसी प्रकार उस भगवान्‌का प्रेमी भक्त अपने अनन्यप्रेमसे भगवान्‌को आकर्षित करके दृढ़ताके साथ पकड़ लेते हैं। कोई देश, कोई वस्तु, कोई जगह भगवान्‌से खाली नहीं, वह सर्वत्र परिपूर्णरूपसे सर्वदा अवस्थित है। प्रेमी भक्त उसको जिस मूर्तिमें, जिस रूपमें और जिस समय प्रकट करना चाहता है, वह लीलानिकेतन नटवर उस प्रेमीके अनन्यप्रेमसे आकर्षित होकर उसी मूर्ति, उसी रूप और उसी समय साक्षात् प्रकट हो जाता है।

ये जितने प्रकारके उदाहरण ऊपर दिये गये हैं—जड-पदार्थ-विषयक होनेके कारण कोई भी उस चेतनरूप परमात्मामें पूर्णरूपसे नहीं घट सकते। क्योंकि परमात्माके सदृश कोई वस्तु है ही नहीं, जिसका उदाहरण देकर उस परमेश्वरके विषयको समझाया जा सके।

संसारमें सभी मनुष्य सुख चाहते हैं। सुखसे या जिससे सुख मिलनेकी आशा रहती है, उससे प्रेम करते हैं। इसलिये जो मनुष्य भगवान्को परम सुखस्वरूप और एकमात्र सुखप्रद समझ लेता है, उससे बढ़कर या उसके समान आनन्दप्रद एवं आनन्दस्वरूप किसी वस्तुको भी नहीं समझता तथा उसपर जिसको पूर्ण विश्वास हो जाता है, वह पुरुष ईश्वरको छोड़ और किसीसे प्रेम नहीं कर सकता। संसारमें जहाँ भी सुख और आनन्द प्रतीत होता है, वह उस आनन्दमय परमात्माके आनन्दका आभासमात्र ही है (बृ० ४ । ३ । ३२)। वह क्षणिक, अल्प और अनित्य है। परमेश्वर अनन्त, नित्य, पूर्ण, चेतन और आनन्दघन है। इसलिये उस नित्य विज्ञानानन्दघन परमात्माके साथ किसी सांसारिक आनन्दकी तुलना नहीं की जा सकती। भजन, ध्यान, सेवा, सत्सङ्ग आदिसे पवित्र अन्तःकरण होनेके साथ-ही-साथ उपर्युक्त प्रकारके ज्ञानरूपी सूर्यका प्रकाश मनुष्यके हृदयाकाशमें चमकने लगता है।

बतलाइये! जो इस प्रकार उस परमानन्दके वास्तविक तत्त्वको समझ लेता है, वह कैसे इस सांसारिक तुच्छ विषयजन्य नाशवान् अनित्य सुखमें फँस सकता है?

इसलिये मनुष्यको परमेश्वरमें अनन्यप्रेम होनेके लिये भजन,

ध्यान, सेवा, सत्सङ्ग, सदाचार आदिकी पूर्ण चेष्टा करनी चाहिये।

(२) उस परम प्यारे परमात्माकी मोहिनी मूर्तिका साक्षात् दर्शन करनेवाले एवं उसके तत्त्वको भलीभाँति जाननेवाले पुरुषोंद्वारा ईश्वरके गुण, प्रेम और प्रभावकी बातोंको प्रेमसे सुनने एवं समझनेसे ईश्वरमें तर्करहित विशुद्ध श्रद्धा उत्पन्न होती है। यदि ऐसे महात्माओं-से मिलना न हो तो प्रेम और श्रद्धासे उस परमेश्वरकी प्राप्तिका प्रयत्न करनेवाले साधकोंका सत्सङ्ग करना चाहिये, एवं उनसे ईश्वर-विषयक गुण, प्रेम और प्रभावकी चर्चा करनी चाहिये। ऐसा करनेसे भी भगवान्‌में श्रद्धा और भक्ति बढ़ती है। यदि इस प्रकारके उच्च श्रेणीके साधकका सङ्ग भी न मिले तो मनुष्यको जिनमें ईश्वर-के प्रेम, प्रभाव, गुण और तत्त्वकी बातोंका वर्णन हो एवं जो ईश्वर या महापुरुषोंद्वारा रचे हुए हों, ऐसे शास्त्रोंका विचारपूर्वक प्रेमसे अध्ययन करना चाहिये। सम्पूर्ण शास्त्रोंमें ईश्वरतत्त्वके ज्ञानके लिये भगवद्गीताके समान दूसरी पुस्तक नहीं है, महाभारतमें लिखा है—

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता॥

(भीष्म० ४३।१)

५ गीताके अध्ययनसे ईश्वरमें पूर्ण श्रद्धा हो सकती है, यदि इन ग्रन्थोंके समझनेकी बुद्धि भी न हो तो उनको परमपिता परमात्मासे नित्यप्रति एकान्तमें सच्चे हृदयसे विनयभावपूर्वक गद्गद होकर प्रेमसहित विशुद्ध श्रद्धा होनेके लिये प्रार्थना करनी चाहिये। उस दयासागरके सामने की हुई सच्चे हृदयकी प्रार्थना कभी व्यर्थ नहीं

होती। इस अभ्याससे परमात्मामें तर्करहित पूर्ण श्रद्धा हो सकती है।

बिना श्रद्धाके ईश्वर-तत्त्वका ज्ञान हो ही नहीं सकता, वरं उत्तरोत्तर पतन ही सम्भव है। जैसे गीतामें लिखा है—

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि॥
(९।३)

'हे परंतप! इस तत्त्वज्ञानरूप धर्ममें श्रद्धारहित पुरुष मुझको न प्राप्त होकर मृत्युरूप संसारचक्रमें भ्रमण करते हैं।'

अतः ईश्वर-तत्त्वके जाननेके लिये श्रद्धाकी परम आवश्यकता है; क्योंकि श्रद्धासे ही ईश्वरके तत्त्वका ज्ञान होकर परम शान्ति प्राप्त होती है। गीतामें भगवान्‌ने कहा है—

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥
(४।३९)

'जितेन्द्रिय, तत्पर हुआ, श्रद्धावान् पुरुष ज्ञानको प्राप्त होता है। ज्ञानको प्राप्त होकर तत्क्षण भगवत्प्राप्तिरूप परम शान्तिको प्राप्त हो जाता है।'

इसलिये ईश्वरमें अनन्य श्रद्धा होनेके लिये कटिबद्ध होकर प्राणपर्यन्त चेष्टा करनी चाहिये।

उपर्युक्त चार साधनोंमेंसे किसी एकका या अधिकका जो जितना अभ्यास करेगा, उसकी उतनी ही श्रद्धा बढ़ेगी एवं उस

परम पिता परमेश्वरमें उतना ही अधिक प्रेम होगा। स
साधनोंका पालन करनेसे शीघ्र ईश्वरमें श्रद्धा हो सकती है। ए
आदर और प्रेमसे किया हुआ अभ्यास अन्तःकरणको पवि
करके बहुत अधिक श्रद्धा बढ़ा देता है।

(३) उपर्युक्त साधनोंका प्रेम और आदरसे जितना अधिक
अभ्यास किया जाता है, उतना ही शीघ्र मनुष्यका हृदय पवित्र हो
जाता है। हृदय पवित्र होनेके साथ ही परमेश्वरमें श्रद्धा बढ़ती है।
श्रद्धाकी वृद्धिसे परमेश्वरमें सर्वदा दृढ़ भावना बढ़ती है, भावनाके
दृढ़ होनेसे सर्वत्र ईश्वरका प्रत्यक्ष दर्शन होने लगता है। उस समय
वह सर्वव्यापी परमेश्वर सीयराममय देखनेवालेको सीयराममय एवं
केवल राममय देखनेवालेको राममय दिखलायी पड़ने लगता है।

ईश्वर-सम्बन्धी वक्ता और श्रोता

श्रीपरमात्माके प्राप्तिके साधनोंमें सबसे पहला मूल-साधन
परमात्माके प्रभावको जानना है, जबतक मनुष्य परमात्माके प्रभाव
और अलौकिक गुणोंको नहीं जानता, तबतक उसे परमात्मापर
विश्वास नहीं होता। परमात्माकी प्राप्ति कठिन नहीं है, कठिन है
वास्तवमें परमात्मापर विश्वास होना। प्रभाव न जाननेके कारण
विश्वासहीन मनुष्य ही ऐसा कह दिया करते हैं कि 'न मालूम
भगवान् हैं या नहीं, और यदि हैं भी तो अपने भाग्यमें उनका
मिलना कहाँ रक्खा है?' परन्तु असलमें यह समझना भूल है,

परमात्मा अवश्य हैं, और वह हैं भी परम दयालु तथा पतितपावन। उनका विरद ही दीनोंको अपनाना, पतितोंको पावन करना, आश्रितोंकी रक्षा करना और शरणागतोंको गोदमें उठाकर अभय करना है। जिस समय भक्तशिरोमणि भरतजी महाराज श्रीराम-चरण-दर्शनकी इच्छासे वन जा रहे थे, उस समय मार्गमें जब वे माता कैकेयीकी कृतियोंकी ओर देखते थे तब उनके पैर पीछे पड़ते थे, उन्हें श्रीरामके सामने जानेमें अत्यन्त संकोच होता था, जब अपनी ओर निहारते तो पैर रुक जाते, संकोच नहीं मिटता, परंतु जब भगवान् श्रीरामके स्वभावकी ओर दृष्टि जाती तब उनकी परम दयालुता और स्वाभाविकी पतितपावनी करनी समझकर पैर आप ही उत्साहसे आगे पड़ते—

फेरति मनहुँ मातु कृत खोरी। चलत भगति बल धीरज धोरी॥
जब समुझत रघुनाथ सुभाऊ। तब पथ परत उताइल पाऊ॥

परंतु यह इसीलिये कि श्रीभरतजी महाराज भगवान्का प्रभाव जानते थे। इस प्रकार जो भगवान्का प्रभाव जानता है, वह आप ही भगवान्की ओर बढ़ने लगता है। परंतु इस प्रभावके जाननेका उपाय क्या है? इसका उपाय है प्रभाव बतलानेवाले ग्रन्थरत्नोंका अध्ययन करना तथा प्रभाव जाननेवाले सत्पुरुषोंद्वारा प्रभावका रहस्य जानना। इस तरहके ग्रन्थोंका मर्म जाननेके लिये भी मर्मज्ञ सत्पुरुषोंकी सहायता आवश्यक होती है। अतएव सत्संगसे ही भगवान्का प्रभाव जाना जा सकता है, यही सिद्धान्त है।

वास्तवमें सत्संगसे बहुत लाभ है। सत्संगका लाभ प्रत्यक्ष भी है। अन्यान्य दान, व्रत, स्नानादि साधनोंका फल कालान्तरमें होता

है, परंतु सत्संगका फल तो हाथोंहाथ देखनेमें आता है। श्रद्धासे सत्संगमें जाकर उपदेश सुननेवाले मनुष्यपर उपदेशोंका असर तत्काल देखनेमें आता है। सुने हुए उपदेशके विरुद्ध आचरण करनेमें उसे संकोच होता है। वक्तापर श्रद्धा होनेके कारण श्रोता उसके वचनोंका बहुत कुछ अनुसरण करने लगते हैं। अवश्य ही वक्ता जिस विषयका उपदेश करता है, वह उसका अनुभवी होना चाहिये, वक्तामें यदि सामर्थ्य न हो तो उसे स्पष्ट कह देना चाहिये कि मैं इसके योग्य नहीं हूँ। यद्यपि श्रद्धालु श्रोताको असमर्थ वक्ताकी भी सदाचरणमें प्रवृत्ति करनेवाली बातोंसे लाभ ही होता है। मनुष्य यदि मिट्टीकी मूर्ति बनाकर श्रद्धासे उससे उपदेश लेना चाहे तो उसे वह मूर्ति ही प्रकारान्तरसे उपदेश दे सकती है। इसमें एकलव्य भीलकी कथा प्रसिद्ध है। (महा० आदि० १३०। ३३ से ३५) फिर मनुष्यमें ऐसी शक्ति हो जाना और उसके उपदेशसे श्रोताओंका कल्याणपथमें अग्रसर होना कौन बड़ी बात है?

वक्ताको चाहिये कि वह अपने हृदयको सदा देखता रहे। कहीं मान-बड़ाईमें भूलकर अपनी स्थितिसे न गिर जाय। श्रोताओं-पर उसी वक्ताके वचनोंका स्थायी असर होता है, जिसमें निम्नलिखित पाँच बातें होती हैं—

(१) वह जिस विषयका प्रतिपादन करता हो, उसमें स्वयं संदेहरहित हो। श्रोताओंकी रुचिके अनुसार ऐसे किसी विषयका सिद्धान्तरूपसे प्रतिपादन नहीं करना चाहिये, जिसको वह स्वयं निःसन्दिग्धरूपसे वैसा ही न मानता हो।

(२) वह जो कुछ कहता हो सो सत्य होना चाहिये। किसी प्रकार भी छल, कपट या असत्यका लेश न रहना चाहिये।

(३) वक्ताका उद्देश्य केवल अपने सिद्धान्तका प्रचार करना ही हो, न कि धन-मान आदि किसी प्रकारका भी स्वार्थ-साधन करना।

(४) अपने सिद्धान्तके प्रतिपादनमें दूसरोंकी निन्दा न करता हो।

(५) जो कुछ उपदेश दे, उसका स्वयं कार्यरूपसे पालन करता हो।

इन पाँचोंमेंसे जिस बातकी जितनी कमी होती है, उतना ही उस वक्ताका प्रभाव जनतापर कम पड़ता है। इसके सिवा वक्ताको यह अभिमान कभी नहीं करना चाहिये कि 'मैं तो सिर्फ परोपकारके लिये ही ऐसा करता हूँ, मेरा इसमें क्या स्वार्थ है! मैं तो केवल दूसरोंको अच्छे मार्गपर लानेके लिये ही कष्ट सहन करता हूँ।' इस प्रकारकी धारणासे वक्ताके मनमें एक तरहका मिथ्या अभिमान उत्पन्न हो जाता है, वह समझ लेता है—मैं जब निःस्वार्थभावसे जनताकी सेवा करता हूँ, तब जनताको मेरा कृतज्ञ होना चाहिये और यों वह उस एहसानमन्द जनतासे सेवाके बदलेमें सेवा, धन या मानके पुरस्कारकी आशा करने लगता है। आशापूर्तिमें बाधा उपस्थित होनेपर वह क्रोधका कारण बन जाती है और अन्तमें क्रोध बढ़कर प्रतिहिंसा हिंसाके रूपमें परिणत हो जाती है। वक्ताका उपकार मानना तो उस

जनताका कर्तव्य है, जिसका वक्ताके उपदेशसे उपकार हुआ है। जबरदस्ती उपकार मनवानेका अधिकार वक्ताको नहीं है; क्योंकि वह जो कुछ करता है, सो वास्तवमें अपने ही स्वार्थके लिये करता है, भले ही उसका वह स्वार्थ कितना ही सात्त्विक और पवित्र क्यों न हो।

बात तो असलमें यह है कि सत्-विचारोंका प्रचार करनेवाले वक्ताकी भलाई श्रोताओंसे कहीं अधिक होती है। उसे तो श्रोताओंका उलटा उपकार मानना चाहिये। आजकल बात कुछ विपरीत हो गयी है। यों तो श्रोताका वक्तापर बहुत उपकार होता है, परन्तु पाँच प्रकारके लाभ तो प्रत्यक्ष हैं—

(१) श्रोताओंके कारण ही वक्ताका समय सत्-चर्चामें व्यय होता है।

(२) श्रोताओंके सामने वक्ता अपनी वाणीसे जो कुछ परमार्थकी बातें कहता है, उनकी स्फुरणा उसके हृदयमें पहले होती है। जब उसके सदुपदेशसे श्रोताओंको लाभ पहुँचता है, तब जिस वक्ताके हृदयमें वे बातें पहले पैदा हुईं, उसको तो उससे अधिक लाभ होना स्वाभाविक ही है। फिर जितनी बातें वाणीसे कही जाती हैं, वे मानसिक भावोंकी अपेक्षा न्यून ही होती हैं; क्योंकि मनका भाव वाणीके द्वारा प्रायः पूर्णरूपसे व्यक्त नहीं किया जा सकता। जितने भाव मनमें पैदा होते हैं, उनसे कम ही बातें कही जाती हैं और जितनी कही जाती हैं, उतनी सब-की-सब श्रोताओंके कानों और मनोंतक उसी रूपमें पूरी-पूरी पहुँच भी नहीं पातीं। इस दृष्टिसे भी वक्ताको ही विशेष लाभ होता है।

(३) यदि वक्ता अयोग्य भी होता है तो बहुत-से प्रेमी श्रोता सज्जनोंकी 'मानसिक सद्भावना' उसमें योग्यता उत्पन्न कर देती है। बहुत-से लोग सच्चे मनसे जिनके प्रति निरन्तर 'शुभ मानसिक संकल्प' करते हों, उसका योग्य बन जाना बहुत सम्भव है।

(४) वक्ता अपने व्याख्यानमें जैसी बातें कहता है, जिस सिद्धान्तका प्रतिपादन करता है, वह उसके पल्ले बँध जाते हैं। वह बात उसमें नहीं भी होती तो अपना प्रभाव बनाये रखनेके लिये वह उन बातोंको अपनेमें उत्पन्न करनेकी चेष्टा करता है। जैसे जो वक्ता व्याख्यानमें तम्बाकू छोड़नेका उपदेश करता है वह स्वयं भी पीनेमें शर्माता है, यों उसके दोष चले जाते हैं। व्याख्यानमें अच्छी बातें कहनी ही पड़ती हैं, इससे वह धीरे-धीरे अच्छा बन जाता है। यह भी श्रोताओंके कारण ही होता है।

(५) अच्छी बातें कहनेके लिये उसे बारंबार सद्ग्रन्थोंका अवलोकन-अध्ययन करना पड़ता है, जिससे उसका ज्ञान और अनुभव क्रमशः बहुत बढ़ जाता है।

इन सारी बातोंपर विचार करनेसे यही सिद्ध होता है कि वक्ताको सदैव श्रोताओंके प्रति कृतज्ञ रहना चाहिये।

श्रोताओंको चाहिये कि वक्ताकी अच्छी बातें अवश्य ही श्रद्धाके साथ सुनें और केवल सुनकर ही न रह जायँ, उन्हें कार्यरूपमें भी परिणत करें। परन्तु कम-से-कम श्रद्धा करनेसे पहले अपनी बुद्धिसे यह निर्णय अवश्य कर लें कि यह मनुष्य श्रद्धाके लायक है

या नहीं । जो वक्ता किसी प्रकारका व्यक्तिगत स्वार्थ-साधन करना चाहता हो, धन-मानकी इच्छा रखता हो. स्त्रियोंसे एकान्तमें मिलता हो, जिसके आचरणोंमें दोष दिखायी पड़े, जिसको बात-बातमें क्रोध आता हो, जो हिंसाका उपदेश करता हो, जिसके उपदेश सत्य, ब्रह्मचर्य, अस्तेय आदि सदाचारोंके विपरीत हों, जो ईश्वरका अस्तित्व न मानता हो, उससे सदा बहुत ही सावधान रहना चाहिये ।

इन दुर्गुणोंके विपरीत जो सदाचारी हों, जिनमें काम, क्रोध, लोभरूपी दोष न हों, जो व्यक्तिगत स्वार्थ-साधनकी चेष्टा न करते हों, जिनके आचरण शुद्ध और निष्काम हों, जिनके सङ्गसे दैवी सम्पत्तिके सद्गुणोंका अपनेमें विकास होता दिखायी पड़े, जो परमात्माके उदार सद्गुणोंके विश्वासी हों और उन्हींकी बड़े प्रेमसे, मनसे चर्चा करते हों, ऐसे सज्जनोंके सङ्गसे परमात्मा-का प्रभाव जाना जाता है, प्रभावके जाननेसे परमात्मामें विश्वास होता है और दृढ़ विश्वाससे भगवान्‌की प्राप्ति होती है ।

बिनु बिस्वास भगति नहिं तेहि बिनु द्रवहिं न रामु ।
राम कृपा बिनु सपनेहुँ जीव न लह बिश्रामु ॥

महात्मा किसे कहते हैं ?

'महात्मा' शब्दका अर्थ और प्रयोग

'महात्मा' शब्दका अर्थ है 'महान् आत्मा' यानी सबका आत्मा ही जिसका आत्मा है । इस सिद्धान्तसे 'महात्मा' शब्द

वस्तुतः एक परमेश्वरके लिये ही शोभा देता है; क्योंकि सबके आत्मा होनेके कारण वे ही महात्मा हैं। श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान् स्वयं कहते हैं—

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ।

(१० । २०)

'हे अर्जुन ! मैं सब भूत-प्राणियोंके हृदयमें स्थित सबका आत्मा हूँ ।'

परन्तु जो पुरुष भगवान्‌को तत्त्वसे जानता है अर्थात् भगवान्‌को प्राप्त हो जाता है वह भी महात्मा ही है, अवश्य ही ऐसे महात्माओंका मिलना बहुत ही दुर्लभ है । गीतामें भगवान्‌ने कहा है—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥

(७ । ३)

'हजारों मनुष्योंमें कोई ही मेरी प्राप्तिके लिये यत्न करता है और उन यत्न करनेवाले योगियोंमें कोई ही पुरुष (मेरे परायण हुआ) मुझको तत्त्वसे जानता है ।'

जो भगवान्‌को प्राप्त हो जाता है, उसके लिये सम्पूर्ण भूतोंका आत्मा उसीका आत्मा हो जाता है; क्योंकि परमात्मा सबके आत्मा हैं और वह भक्त परमात्मामें स्थित है । इसलिये सबका आत्मा ही उसका आत्मा है । इसके सिवा **'सर्वभूतात्मभूतात्मा'** (गीता ५ । ७) यह विशेषण भी उसीके लिये आया है । वह पुरुष सम्पूर्ण भूत-प्राणियोंको अपने आत्मामें और आत्मा-

को सम्पूर्ण भूत-प्राणियोंमें देखता है। उसके ज्ञानमें सम्पूर्ण भूत-प्राणियोंके और अपने आत्मामें कोई भेद-भाव नहीं रहता।

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते॥

(ईश० ६)

'जो समस्त भूतोंको अपने आत्मामें और समस्त भूतोंमें अपने आत्माको ही देखता है, वह फिर किसीसे घृणा नहीं करता।'

सर्वत्र ही उसकी आत्मदृष्टि हो जाती है, अथवा यों कहिये कि उसकी दृष्टिमें एक विज्ञानानन्दघन वासुदेवसे भिन्न और कुछ भी नहीं रहता। ऐसे ही महात्माओंकी प्रशंसामें भगवान्‌ने कहा है—

वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥

(गीता ७। १९)

'सब कुछ वासुदेव ही है, इस प्रकार (जाननेवाला) महात्मा अति दुर्लभ है।'

खेदकी बात है कि आजकल लोग स्वार्थवश किसी साधारण-से-साधारण मनुष्यको भी महात्मा कहने लगते हैं। 'महात्मा' या 'भगवान्' शब्दका प्रयोग वस्तुतः बहुत समझ-सोचकर किया जाना चाहिये। वास्तवमें महात्मा तो वे ही हैं जिनमें महात्माओंके लक्षण और आचरण हों। ऐसे महात्माका मिलना बहुत ही दुर्लभ है, यदि मिल भी जायँ तो उनका पहचानना तो असम्भव-सा ही है, 'महत्सङ्गस्तु

दुर्लभोऽगम्योऽमोघश्च' (नारदभक्तिसूत्र ३९) 'महात्माका सङ्ग दुर्लभ, दुर्गम और अमोघ है ।

साधारणतया उनकी यही पहचान सुनी जाती है कि उनका सङ्ग अमोघ होनेके कारण उनके दर्शन, भाषण और आचरणोंसे मनुष्योंपर बड़ा भारी प्रभाव पड़ता है। ईश्वर-स्मृति, विषयोंसे वैराग्य, सत्य, न्याय और सदाचारमें प्रीति, चित्तमें प्रसन्नता तथा शान्ति आदि सद्गुणोंका स्वाभाविक ही प्रादुर्भाव हो जाता है । इतनेपर भी बाहरी आचरणोंसे तो यथार्थ महात्माओं-को पहचानना बहुत ही कठिन है; क्योंकि पाखण्डी मनुष्य भी लोगोंको ठगनेके लिये महात्माओं-जैसा स्वाँग रच सकता है। इसलिये परमात्माकी पूर्ण दयासे ही महात्मा मिलते हैं और उन्हींकी दयासे उनको पहचाना भी जा सकता है ।

महात्माओंके लक्षण

सर्वत्र समदृष्टि होनेके कारण उनमें राग-द्वेषका अत्यन्त अभाव हो जाता है, इसलिये उनको प्रिय और अप्रियकी प्राप्तिमें हर्ष-शोक नहीं होता । सम्पूर्ण भूतोंमें आत्मबुद्धि होनेके कारण अपने आत्माके सदृश ही उनका सबमें प्रेम हो जाता है, इससे अपने और दूसरोंके सुख-दुःखमें उनकी समबुद्धि हो जाती है और इसीलिये वे सम्पूर्ण भूतोंके हितमें स्वाभाविक ही रत होते हैं ! उनका अन्तःकरण अति पवित्र होनेके कारण उनके हृदयमें भय, शोक, उद्वेग, काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि दोषोंका अत्यन्त अभाव हो जाता है । देहमें अहंकारका अभाव हो जानेसे मान,

बड़ाई और प्रतिष्ठाकी इच्छाकी तो उनमें गन्धमात्र भी नहीं रहती। शान्ति, सरलता, समता, सुहृदता, शीतलता, सन्तोष, उदारता और दयाके तो वे अनन्त समुद्र होते हैं। इसीलिये उनका मन सर्वदा प्रफुल्लित, प्रेम और आनन्दमें मग्न और सर्वथा शान्त रहता है।

महात्माओंके आचरण

देखनेमें उनके बहुत-से आचरण दैवी सम्पदावाले सात्त्विक पुरुषोंके-से होते हैं, परन्तु सूक्ष्म विचार करनेपर दैवी सम्पदावाले सात्त्विक पुरुषोंकी अपेक्षा उनकी अवस्था और उनके आचरण कहीं महत्त्वपूर्ण होते हैं। सत्यस्वरूपमें स्थित होनेके कारण उनका प्रत्येक आचरण सदाचार समझा जाता है। उनके आचरणोंमें असत्यके लिये कोई स्थान ही नहीं रह जाता। अपना व्यक्तिगत किञ्चित् भी स्वार्थ न रहनेके कारण उनके आचरणोंमें किसी भी दोषका प्रवेश नहीं हो सकता, इसलिये उनके सम्पूर्ण आचरण दिव्य समझे जाते हैं। वे सम्पूर्ण भूतोंको अभयदान देते हुए ही विचरते हैं। वे किसीके मनमें उद्वेग करनेवाला कोई आचरण नहीं करते। सर्वत्र परमेश्वरके स्वरूपको देखते हुए स्वाभाविक ही तन, मन और धनको सम्पूर्ण भूतोंके हितमें लगाये रहते हैं। उनके द्वारा झूठ, कपट, व्यभिचार, चोरी आदि दुराचार तो हो ही नहीं सकते। यज्ञ, दान, तप, सेवा आदि जो उत्तम कर्म होते हैं, उनमें भी अहंकारका अभाव होनेके कारण आसक्ति, इच्छा, अभिमान और वासना आदिका नाम-निशान भी नहीं रहता। स्वार्थका त्याग होनेके कारण उनके वचन और आचरणोंका लोगोंपर अद्भुत प्रभाव पड़ता है।

उनके आचरण लोगोंके लिये अत्यन्त हितकर और प्रिय होनेसे लोग सहज ही उनका अनुकरण करते हैं। श्रीगीतामें भगवान् कहते हैं—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥
(३।२१)

'श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करते हैं, दूसरे लोग भी उसीके अनुसार वर्तते हैं, वे जो कुछ प्रमाण कर देते हैं, लोग भी उसीके अनुसार वर्तते हैं।'

उनका प्रत्येक आचरण सत्य, न्याय और ज्ञानसे पूर्ण होता है, किसी समय उनका कोई आचरण बाह्यदृष्टिसे भ्रमवश लोगोंको अहितकर या क्रोधयुक्त माल्रम हो सकता है, किन्तु विचारपूर्वक तत्त्वदृष्टिसे देखनेपर वस्तुतः उस आचरणमें भी दया और प्रेम ही भरा हुआ मिलता है और परिणाममें उससे लोगोंका परम हित ही होता है। उनमें अहंता-ममताका अभाव होनेके कारण उनका वर्ताव सबके साथ पक्षपातरहित, प्रेममय और शुद्ध होता है। प्रिय और अप्रियमें उनकी समदृष्टि होती है। वे भक्तराज प्रह्लादकी भाँति आपत्तिकालमें भी सत्य, धर्म और न्यायके पक्षपर ही दृढ़ रहते हैं। कोई भी स्वार्थ या भय उन्हें सत्यसे नहीं डिगा सकता।

एक समय केशिनीनाम्नी कन्याको देखकर प्रह्लाद-पुत्र विरोचन और अङ्गिरा-पुत्र सुधन्वा उसके साथ विवाह करनेके लिये परस्पर विवाद करने लगे। कन्याने कहा कि 'तुम दोनोंमें जो श्रेष्ठ होगा, मैं उसीके साथ विवाह करूँगी।' इसपर वे दोनों ही अपनेको

श्रेष्ठ बतलाने लगे। अन्तमें वे परस्पर प्राणोंकी बाजी लगाकर इस विषयमें न्याय करानेके लिये प्रह्लादजीके पास गये। प्रह्लादजीने पुत्रकी अपेक्षा धर्मको श्रेष्ठ समझकर यथोचित न्याय करते हुए अपने पुत्र विरोचनसे कहा कि 'सुधन्वा तुझसे श्रेष्ठ है, इसके पिता अङ्गिरा मुझसे श्रेष्ठ हैं और इस सुधन्वाकी माता तेरी मातासे श्रेष्ठ है, इसलिये यह सुधन्वा तेरे प्राणोंका स्वामी है।' यह न्याय सुनकर सुधन्वा मुग्ध हो गया और उसने कहा, 'हे प्रह्लाद! पुत्रप्रेमको त्यागकर तुम धर्मपर अटल रहे, इसलिये तुम्हारा यह पुत्र सौ वर्षतक जीवित रहे।'

श्रेयान् सुधन्वा त्वत्तो वै मत्तः श्रेयांस्तथाङ्गिराः।
माता सुधन्वनश्चापि मातृतः श्रेयसी तव॥
विरोचन सुधन्वायं प्राणानामीश्वरस्तव।
पुत्रस्नेहं परित्यज्य यस्त्वं धर्मे व्यवस्थितः॥
अनुजानामि ते पुत्रं जीवत्वेष शतं समाः॥

(महा० सभा० ६७। ८७-८८)

महात्मा पुरुषोंका मन और उनकी इन्द्रियाँ जीती हुई होनेके कारण न्यायविरुद्ध विषयोंमें तो उनकी कभी प्रवृत्ति ही नहीं होती। वस्तुतः ऐसे महात्माओंकी दृष्टिमें एक सच्चिदानन्दघन वासुदेवसे भिन्न कुछ भी नहीं होनेके कारण यह सब भी लीलामात्र ही है, तथापि लोकदृष्टिमें भी उनके मन, वाणी, शरीरसे होनेवाले आचरण परम पवित्र और लोकहितकर ही होते हैं। कामना, आसक्ति और अभिमानसे रहित होनेके कारण उनके मन

और इन्द्रियोंद्वारा किया हुआ कोई भी कर्म अपवित्र या लोकहानिकर नहीं हो सकता। इसीसे वे संसारमें प्रमाणस्वरूप माने जाते हैं।

महात्माओंकी महिमा

ऐसे महापुरुषोंकी महिमाका कौन बखान कर सकता है ? श्रुति, स्मृति, पुराण, इतिहास, संतोंकी वाणी और आधुनिक महात्माओंके वचन इनकी महिमासे भरे हैं।

गोस्वामी तुलसीदासजीने तो यहाँतक कह दिया है कि भगवान्‌को प्राप्त हुए भगवान्‌के दास भगवान्‌से भी बढ़कर हैं—

मोरें मन प्रभु अस बिस्वासा। राम ते अधिक राम कर दासा॥
राम सिंधु घन सज्जन धीरा। चंदन तरु हरि संत समीरा॥

सो कुल धन्य उमा सुनु जगत पूज्य सुपुनीत।
श्रीरघुबीर परायन जेहिं नर उपज बिनीत॥

ऐसे महात्मा जहाँ विचरते हैं, वहाँका वायुमण्डल पवित्र हो जाता है। श्रीनारदजी कहते हैं—

तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि सुकर्मीकुर्वन्ति कर्माणि सच्छास्त्रीकुर्वन्ति शास्त्राणि। (नारदभक्ति० ६९)

'वे अपने प्रभावसे तीर्थोंको (पवित्र करके) तीर्थ बनाते हैं, कर्मोंको सुकर्म बनाते हैं और शास्त्रोंको सत्-शास्त्र बना देते हैं।' वे जहाँ रहते हैं, वही स्थान तीर्थ बन जाता है या उनके रहनेसे तीर्थका तीर्थत्व स्थायी हो जाता है, वे जो कर्म करते हैं, वे

ही सुकर्म बन जाते हैं, उनकी वाणी ही शास्त्र है अथवा वे जिस शास्त्रको अपनाते हैं, वही सत्-शास्त्र समझा जाता है।

शास्त्रमें कहा है—

कुलं पवित्रं जननी कृतार्था वसुन्धरा पुण्यवती च तेन।
अपारसंवित्सुखसागरेऽस्मिल्लीनं परे ब्रह्मणि यस्य चेतः॥

(स्कन्दपु० माहे० कौ० खं० ४५। १४०)

'जिसका चित्त अपार संवित् सुखसागर परब्रह्ममें लीन है, उससे कुल पवित्र, माता कृतार्थ और पृथ्वी पुण्यवती हो जाती है।'

धर्मराज युधिष्ठिरने भक्तराज विदुरजीसे कहा था—

भवद्विधा भागवतास्तीर्थभूताः स्वयं विभो।
तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि स्वान्तःस्थेन गदाभृता॥

(श्रीमद्भा० १। १३। १०)

'हे स्वामिन्! आप-सरीखे भगवद्भक्त स्वयं तीर्थरूप हैं (पापियोंके द्वारा कलुषित हुए) तीर्थोंको आपलोग अपने हृदयमें स्थित भगवान् श्रीगदाधरके प्रभावसे पुनः तीर्थत्व प्राप्त करा देते हैं।'

महात्माओंका तो कहना ही क्या है, उनकी आज्ञा-पालन करनेवाले मनुष्य भी परमपदको प्राप्त हो जाते हैं। भगवान् स्वयं भी कहते हैं कि जो किसी प्रकारका साधन न जानता हो वह भी महान् पुरुषोंके पास जाकर उनके कहे अनुसार चलनेसे मुक्त हो जाता है।

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः॥

(गीता १३। २५)

'परन्तु दूसरे इस प्रकार मुझको तत्त्वसे न जानते हुए दूसरोंसे अर्थात् तत्त्वको जाननेवाले महापुरुषोंसे सुनकर ही उपासना करते हैं। वे सुननेके परायण हुए पुरुष भी मृत्युरूप संसार-सागरसे निःसन्देह तर जाते हैं।'

महात्मा बननेके उपाय

इसका वास्तविक उपाय तो परमेश्वरकी अनन्य-शरण होना ही है; क्योंकि परमेश्वरकी कृपासे ही यह पद मिलता है। श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने कहा है—

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥

(१८। ६२)

'हे भारत! सब प्रकारसे उस परमेश्वरकी ही अनन्य शरणको प्राप्त हो, उस परमात्माकी दयासे ही तू परम शान्ति और सनातन परमधामको प्राप्त होगा।'

परन्तु इसके लिये ऋषियोंने और भी उपाय बतलाये हैं। जैसे मनु महाराजने धर्मके दस लक्षण कहे हैं—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥

(६। ९२)

'धृति, क्षमा, मनका निग्रह, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, बुद्धि, विद्या, सत्य और अक्रोध—ये दस धर्मके लक्षण हैं।'

महर्षि पतञ्जलिने अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये (जो कि आत्मसाक्षात्कारके लिये अत्यन्त आवश्यक है) एवं मनके निरोध करनेके लिये बहुत-से उपाय बतलाये हैं। जैसे—

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्। (योगसूत्र १। ३३)

'सुखियोंके प्रति मैत्री, दुखियोंके प्रति करुणा, पुण्यात्माओंको देखकर प्रसन्नता और पापियोंके प्रति उपेक्षाकी भावनासे चित्त स्थिर होता है।

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः (२। ३०)
शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः। (२। ३२)

'अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह—ये पाँच यम हैं और शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान—ये पाँच नियम हैं।'

और भी अनेक ऋषियोंने महात्मा बननेके यानी परमात्माके पदको प्राप्त होनेके लिये सद्भाव और सदाचार आदि अनेक उपाय बतलाये हैं।

भगवान्ने श्रीमद्भगवद्गीताके तेरहवें अध्यायमें श्लोक ७ से ११ तक 'ज्ञान' के नामसे और सोलहवें अध्यायमें श्लोक १-२-३ में

'दैवी-सम्पदा' के नामसे एवं सतरहवें अध्यायमें श्लोक १४-१५-१६ में 'तप' के नामसे सदाचार और सद्गुणोंका ही वर्णन किया है।

यह सब होनेपर भी महर्षि पतञ्जलि, शुकदेव, भीष्म, वाल्मीकि, तुलसीदास, सूरदास यहाँतक कि स्वयं भगवान्‌ने भी शरणागतिको ही बहुत सहज और सुगम उपाय बताया है। अनन्य भक्ति, ईश्वर-प्रणिधान, अव्यभिचारिणी भक्ति और परम प्रेम आदि उसीके नाम हैं।

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥

(गीता ८।१४)

'हे पार्थ ! जो पुरुष मुझमें अनन्यचित्तसे स्थित हुआ सदा ही निरन्तर मुझको स्मरण करता है उस मुझमें युक्त हुए योगीके लिये मैं सुलभ हूँ अर्थात् सहज ही प्राप्त हो जाता हूँ।'

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम॥

(वा० रा० ६।१८।३३)

'जो एक बार भी मेरे शरण होकर 'मैं तेरा हूँ' ऐसा कह देता है, मैं उसे सर्वभूतोंसे अभय प्रदान कर देता हूँ, यह मेरा व्रत है।'

इसलिये पाठक सज्जनोंसे प्रार्थना है कि ज्ञानी, महात्मा और भक्त बननेके लिये ज्ञान और आनन्दके भण्डार सत्यस्वरूप उस परमात्माको ही अनन्य शरण लेनी चाहिये। फिर उपर्युक्त सदाचार और सद्भाव तो अनायास ही प्राप्त हो जाते हैं।

भगवान्‌की शरण ग्रहण करनेपर उनकी दयासे आप ही सारे विघ्नोंका नाश होकर भक्तको भगवत्-प्राप्ति हो जाती है। योगदर्शनमें कहा है—

'तस्य वाचकः प्रणवः' 'तज्जपस्तदर्थभावनम्' 'ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च'

(१ । २७—२९)

'उसका वाचक प्रणव (ओङ्कार) है।' उसका जाप'और उसके अर्थकी भावना करनी चाहिये।' 'इससे अन्तरात्माकी प्राप्ति और विघ्नोंका अभाव भी होता है।'

भगवत्-शरणागतिके बिना इस कलिकालमें संसार-सागरसे पार होना अत्यन्त ही कठिन है।

कलिजुग केवल नाम अधारा।
सुमिरि सुमिरि भव उतरहु पारा॥
कलिजुग सम जुग आन नहिं जौं नर कर बिस्वास
गाइ राम गुन गन बिमल भव तर बिनहिं प्रयास॥
हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥

(ना० पु० १ । ४१ । १५)

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥

(गीता ७ । १४)

'कलियुगमें हरिका नाम, हरिका नाम, केवल हरिका नाम ही (उद्धार करता) है, इसके सिवा अन्य उपाय नहीं है, नहीं है, नहीं है ।'

'क्योंकि यह अलौकिक (अति अद्भुत) त्रिगुणमयी मेरी योगमाया बड़ी दुस्तर है, जो पुरुष निरन्तर मुझको ही भजते हैं, वे इस मायाको उल्लङ्घन कर जाते हैं, यानी संसारसे तर जाते हैं ।'

हरि माया कृत दोष गुन बिनु हरि भजन न जाहिं ।
भजिअ राम तजि काम सब अस बिचारि मन माहिं ॥

महात्मा बननेके मार्गमें मुख्य विघ्न

ज्ञानी, महात्मा और भक्त कहलाने और बननेके लिये तो प्रायः सभी इच्छा करते हैं, परंतु उसके लिये सच्चे हृदयसे साधन करनेवाले लोग बहुत ही कम हैं । साधन करनेवालोंमें भी परमात्माके निकट कोई ही पहुँचता है, क्योंकि राहमें ऐसी बहुत-सी विपद्-जनक घाटियाँ आती हैं, जिनमें फँसकर साधक गिर जाते हैं । उन घाटियोंमें 'कञ्चन' और 'कामिनी' ये दो घाटियाँ बहुत ही कठिन हैं, परंतु इनसे भी कठिन तीसरी घाटी मान-बड़ाई और ईर्ष्याकी है । किसी कविने कहा है—

कञ्चन तजना सहज है, सहज त्रियाका नेह ।
मान बड़ाई ईर्ष्या दुर्लभ तजना येह ॥

इन तीनोंमें भी सबसे कठिन है बड़ाई । इसीको कीर्ति, प्रशंसा, लोकैषणा आदि कहते हैं । शास्त्रमें जो तीन प्रकारकी

तृष्णा (पुत्रैषणा, लोकैषणा और वित्तैषणा) बतायी गयी है, उन तीनोंमें लोकैषणा ही सबसे अधिक बलवान् है। इसी लोकैषणाके लिये मनुष्य धन, धाम, पुत्र, स्त्री और प्राणोंतकका भी त्याग करनेके लिये तैयार हो जाता है।

जिस मनुष्यने संसारमें मान-बड़ाई और प्रतिष्ठाका त्याग कर दिया वही महात्मा है और वही देवता तथा ऋषियोंद्वारा भी पूजनीय है। साधु और महात्मा तो बहुत लोग कहलाते हैं, किंतु उनमें मान-बड़ाई और प्रतिष्ठाका त्याग करनेवाला कोई विरला ही होता है। ऐसे महात्माओंकी खोज करनेवाले भाइयोंको इस विषयका कुछ अनुभव भी होगा। हमलोग पहले-पहल जब किसी अच्छे पुरुषका नाम सुनते हैं तो उनमें श्रद्धा होती है। पर उनके पास जानेपर जब हमें उनमें मान-बड़ाई, प्रतिष्ठा दिखलायी देती है तब उनपर हमारी वैसी श्रद्धा नहीं ठहरती, जैसी उनके गुण सुननेके समय हुई थी। यद्यपि अच्छे पुरुषोंमें किसी प्रकार भी दोषदृष्टि करना हमारी भूल है, परन्तु स्वभाव-दोषसे ऐसी वृत्तियाँ होती हुई प्रायः देखी जाती हैं और ऐसा होना बिल्कुल निराधार भी नहीं है। क्योंकि वास्तवमें एक ईश्वरके सिवा बड़े-से-बड़े गुणवान् पुरुषमें भी दोषोंका कुछ मिश्रण रहता ही है। जहाँ बड़ाईका दोष आया कि झूठ, कपट और दम्भ भी आ ही जाते हैं। जब झूठ, कपट और दम्भको स्थान मिल जाता है तो अन्यान्य दोषोंके आनेको सुगम मार्ग बन जाता है। यह कीर्तिरूपी दोष देखनेमें छोटा-सा है, परंतु यह केवल महात्माओंको छोड़कर अन्य अच्छे-से-अच्छे पुरुषोंमें भी सूक्ष्म और

गुप्तरूपसे रहता है। यह साधकको साधन-पथसे गिराकर उसका मूलोच्छेदन कर डालता है।

अच्छे पुरुष बड़ाईको हानिकर समझकर विचार-दृष्टिसे उसको अपनेमें रखना नहीं चाहते और प्राप्त होनेपर उसका त्याग भी करना चाहते हैं। तो भी यह सहजमें उनका पिण्ड नहीं छोड़ती। इसका शीघ्र नाश तो तभी होता है जब कि यह हृदयसे बुरी लगने लगे और इसके प्राप्त होनेपर यथार्थमें दुःख और घृणा हो। साधकके लिये साधनमें विघ्न डालनेवाली यह मायाकी मोहिनी मूर्ति है, जैसे चुम्बक लोहेको, स्त्री कामी पुरुषको, धन लोभी पुरुषको आकर्षण करता है, यह उससे भी बढ़कर साधकको संसारसमुद्रकी ओर खींचकर उसे इसमें बरबस डुबो देती है। अतएव साधकको सबसे अधिक इस बड़ाईसे ही डरना चाहिये। जो मनुष्य बड़ाईको जीत लेता है, वह सभी विघ्नोंको जीत सकता है।

योगी पुरुषोंके ध्यानमें तो चित्तकी चञ्चलता और आलस्य—ये दो ही महाशत्रुके तुल्य विघ्न करते हैं। चित्तमें वैराग्य होनेपर विषयोंमें और शरीरमें आसक्तिका नाश हो जाता है, इससे उपर्युक्त दोष तो कोई विघ्न उपस्थित नहीं कर सकते, परंतु बड़ाई एक ऐसा महान् दोष है, जो इन दोषोंके नाश होनेपर भी अंदर छिपा रहता है। अच्छे पुरुष भी जब हम उनके सामने उनकी बड़ाई करते हैं तो उसे सुनकर विचारदृष्टिसे इसको बुरा समझते हुए भी इसकी मोहिनी शक्तिसे मोहित हुए-से उस बड़ाई करनेवालेके अधीन-से हो जाते हैं। विचार करनेपर मालूम होता है कि इस कीर्तिरूपी मोहिनी

शक्तिसे मोहित न होनेवाला वीर करोड़ोंमें कोई एक ही है। कीर्ति-रूपी मोहिनी शक्ति जिनको नहीं मोह सकती, वही पुरुष धन्य है, वही मायाके दासत्वसे मुक्त है, वही ईश्वरके समीप है और वही यथार्थ महात्मा है। यह बहुत ही गोपनीय रहस्यकी बात है।

जिसपर भगवान्‌की पूर्ण दया होती है, या यों कहें जो भगवान्‌की दयाके तत्त्वको समझ जाता है, वही इस कीर्तिरूपी दोषपर विजय पा सकता है। इस विघ्नसे बचनेके लिये प्रत्येक साधकको सदा सावधान रहना चाहिये।

महापुरुषोंकी महिमा

संसारमें सबसे अधिक संख्या तो सांसारिक भोगोंमें आसक्त मनुष्योंकी ही है। भगवत्-प्राप्तिके साधनमें लगे हुए अच्छे पुरुषोंकी संख्या भी कुछ अंशमें देखनेमें आती है, पर महापुरुष तो विरले ही हैं और जो हैं उनसे लोग पूरा लाभ नहीं उठा रहे हैं। इसके मुख्य कारण दो हैं—(१) अश्रद्धा और (२) पहचाननेकी योग्यताका अभाव। श्रद्धा या तो श्रद्धावान् पुरुषोंके सङ्गसे होती है अथवा अन्तःकरणकी शुद्धिसे। पर श्रद्धालुओंकी संख्या भी बहुत कम है और जो हैं भी उनमें हमारी श्रद्धा नहीं है। महापुरुषोंको न पहचाननेका कारण भी अश्रद्धा ही है।

मनुष्योंकी दृष्टि स्वभावतः दोष-दर्शनकी ओर ही अधिक रहती है जिसके कारण श्रद्धा पहले तो कठिनतासे उत्पन्न होती है और

होती है तो उसका स्थिर रहना बड़ा ही कठिन होता है। अच्छे पुरुषोंमें भी लोग दोष-बुद्धि कर ही लेते हैं। साक्षात् भगवान् श्रीराम और भगवान् श्रीकृष्ण हमारी विशेष श्रद्धाके पात्र हैं, परन्तु दोष-दृष्टिवालोंको उनके चरित्रकी आलोचना करनेपर उनमें भी दोष मिल ही जाते हैं। वाल्मीकीय रामायणमें तो श्रीरामचन्द्रजीके चरित्रमें अनेक दोष और संदेहजनक स्थल मिल ही सकते हैं, पर जिन गोस्वामी तुलसीदासजीने दोषोंका बहुत कुछ परिहार करनेकी चेष्टा की है, उनके 'मानस' में भी अज्ञ और अश्रद्धालु लोग दो-तीन स्थलोंपर संदेह, तर्क और अश्रद्धा कर बैठते हैं। उनका कहना है कि रामने वालिको छिपकर बाणद्वारा मारा, शूर्पणखाके साथ मजाक किया और अग्नि-परीक्षामें उत्तीर्ण हो जानेपर भी निरपराधिनी सीताका परित्याग करके लोकनिन्दाको अधिक महत्त्व देकर न्याय और आत्मबलकी न्यूनता दिखलायी। इसके सिवा श्रीराम साधारण मनुष्योंकी भाँति सीताके लिये विलाप करने और जोर-जोरसे रोने लगे। इसी प्रकार श्रीकृष्णकी बाल-लीलामें वे चोरी, व्यभिचार और झूठ आदिके दोष लगाते हैं। उनके प्रौढ़ावस्थाके कार्योंमें भी अनेक दोषोंकी कल्पना करते रहते हैं—जैसे युधिष्ठिरको मिथ्याभाषणके लिये प्रेरित करना, युद्धक्षेत्रमें शस्त्र धारण न करनेकी प्रतिज्ञाको तोड़कर आवेश और क्रोधमें आकर उन्मत्तकी भाँति भीष्मके सम्मुख दौड़ना। इन स्थलोंपर उन्हें श्रीकृष्णमें मिथ्याभाषण, प्रतिज्ञाभङ्ग और अनुचित व्यवहारके दोष प्रत्यक्ष दृष्टिगत होते हैं। कहनेका तात्पर्य यह है कि दोष देखनेवालोंको तो निर्विकार अवतारोंमें भी दोष मिल ही जाते हैं। तब दूसरोंकी तो बात ही क्या है? परंतु बात तो यह

है कि हम विषय-विमूढ़ जीव भगवान्‌की लीला और उनके कार्यों-को क्या समझें ? उनपर किसी प्रकारका कानून तो लागू है नहीं और यदि है भी तो हम उसे समझ ही कैसे सकते हैं ? जब ज्ञानी-की क्रियाओंको समझनेमें ही हमारी बुद्धि जवाब दे देती है तो फिर साक्षात् मायापति ईश्वरके कार्योंको विचारने और समझनेकी हममें योग्यता ही क्या है ? यदि हम स्वभाव-दोषसे उनको तर्क-की कसौटीपर कसनेका निन्दनीय प्रयास करें तो वह हमारी युक्ति और तर्कके आधारपर ही ईश्वरकी सिद्धि हुई । फिर ईश्वरमें ईश्वरत्व ही क्या रहा ? ऐसी दशामें तो कोई भी व्यक्ति श्रद्धाके योग्य प्रमाणित नहीं होता—किसीपर भी श्रद्धा नहीं की जा सकती।

पर, हमें यह बात भलीभाँति समझ लेनी चाहिये कि उत्तम क्रियाशील ज्ञानीकी समस्त क्रियाओंको हम समझ नहीं सकते। अतः उनमें शङ्का करनी किसी भी प्रकारसे उचित नहीं है । यदि श्रद्धाकी कमीके कारण उनमें कोई दोष दीख भी जाय तो विचारद्वारा मनमें समाधान करनेकी चेष्टा करनी चाहिये । इतना करनेपर भी यदि संतोष न हो तो श्रद्धा और विनयपूर्वक उन्हें पूछकर भी संदेह निवृत्त किया जा सकता है । महात्माओंको न पहचाननेमें प्रधान हेतु अन्तःकरणकी मलिनतासे पैदा हुई अश्रद्धा ही है । जब हम किसी महापुरुषके पास जाते हैं तो अश्रद्धाको प्रायः साथ ही लेकर जाते हैं । हम इसी बातकी परीक्षा करते फिरते हैं कि किन महात्माजीमें कितना पानी है । दुःखकी बात तो यह है कि हम एक साधारण वैद्यको भी इतनी

परीक्षा नहीं करते । वह चाहे नितान्त अज्ञ ही हो, पर फिर भी हम अपना जीवन सर्वतोभावेन उसके समर्पण कर देते हैं । यदि वह विष पिला दे तो भी हम उसे पीनेमें नहीं हिचकते । मेरे कहनेका यह अभिप्राय नहीं कि कोई ढोंगी मनुष्य महात्मा बन बैठा हो तो उसीमें अन्धे होकर श्रद्धा कर लेनी चाहिये । श्रद्धा करनेकी आवश्यकता है सच्चे महापुरुषोंमें, पर जबतक हमको ऐसे पूर्ण महात्मा न मिलें, तबतक हम जिन्हें अपनी बुद्धि-से अच्छे पुरुष समझें उन्हींके सद्गुणोंको ग्रहण करना चाहिये । दुर्गुण तो किसीके भी नहीं लेने चाहिये । उपनिषद्में कहा है—

यान्यनवद्यानि कर्माणि । तानि सेवितव्यानि । नो इतराणि । यान्यस्माकꣳ सुचरितानि । तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि ॥ (तैत्ति० १ । ११ । २)

गुरु कहता है—'हे शिष्य ! जो शास्त्रोक्त दोषरहित कर्म हैं, उन्हीं-का तुम्हें आचरण करना चाहिये, शास्त्रविरुद्धका नहीं, हममें भी जो अच्छे कर्म हैं, केवल उन्हींका तुम्हें अनुकरण करना उचित है, दूसरे (निन्दनीय) कर्मोंका नहीं ।'

पूर्ण महात्माओंके दर्शन हो जायँ तब तो कहना ही क्या है, क्योंकि उनके मुखसे जो शब्द निकलते हैं, वे पूर्णतः तुले हुए होते हैं । जैसे एक व्यापारी अपनी दूकानका माल तौल-तौलकर ग्राहकों-को देता है—अंदाजसे नहीं । इसी प्रकार महापुरुषकी वाणीका प्रत्येक शब्द उसके हृदयरूपी तराजूपर तुल-तुलकर आता है । उनके वाक्य अमूल्य होते हैं, उनकी क्रियाएँ अमूल्य होती हैं और

उनका भजन अमूल्य होता है। उनके मन, वाणी और शरीरके प्रत्येक कार्य महत्त्वपूर्ण और तात्त्विक होते हैं। उनकी मौन-अक्रिय-अवस्थामें भी विश्व-कल्याणका उपदेश भरा रहता है। अतः उनका भाषण, स्पर्श, दर्शन, कर्म, ध्यान और यहाँतक कि उनकी छूई हुई वस्तु भी पवित्र समझी जाती है। भगवान्‌ने ऐसे ही महापुरुषोंका अनुकरण करना बतलाया है।

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥

(गीता ३। २१)

वे जो कुछ प्रमाणित कर देते हैं (स्वयं चाहे न करें और केवल कह दें कि मैं अमुक कार्यको अच्छा मानता हूँ) लोग उसीको प्रामाणिक मानने लगते हैं। उनका उपदेश, उनको किया हुआ नमस्कार, उनके साथ किया हुआ सम्भाषण—सभी कुछ कल्याणकारक होता है। ज्ञान-प्राप्तिद्वारा आत्मोद्धारके लिये उन पुरुषोंकी शरण ग्रहण करनी चाहिये। भगवान् श्रीकृष्णने कहा है—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥

(गीता ४। ३४)

'हे अर्जुन! उन तत्त्वको जाननेवाले ज्ञानी पुरुषोंसे, भलीभाँति दण्डवत्-प्रणाम, सेवा और निष्कपट-भावसे किये हुए प्रश्नोंद्वारा उस ज्ञानको जानो, वे मर्मको जाननेवाले ज्ञानीजन तुम्हें उस ज्ञानका उपदेश करेंगे।'

इस प्रकारके पुरुष यदि हमें मिल जायँ और फिर हम उन्हें पहचानकर, उनका अमोघ सङ्ग करें तथा उनकी बातोंको लोहेकी लकीर—ईश्वरकी आज्ञाके तुल्य मानकर काममें लावें तो हम अपना तो क्या, दूसरोंका भी कल्याण करनेमें समर्थ हो सकते हैं। गङ्गाके स्नान-पानसे जिस प्रकार बाहर-भीतरकी पवित्रता होती है, उससे भी बढ़कर महात्माओंका सङ्ग पावन करनेवाला होता है। दुर्भाग्यवश यदि ऐसे सिद्ध भक्तोंकी प्राप्ति न हो अथवा होकर भी यदि हम उन्हें पहचान न सकें तो दूसरे दर्जेमें शास्त्रों और दैवी-सम्पदावाले साधकोंको आधार बनाना चाहिये। शास्त्रोंकी अधिकता और उनमें प्रतिपादित विषयकी गूढ़ताको न समझ सकनेके कारण केवल गीता ही हमारे लिये पर्याप्त हो सकती है; क्योंकि भगवान्‌ने इसमें सब शास्त्रोंका सार भर दिया है। अतः सर्वस्वका नाश होनेपर भी गीता और महात्मा पुरुषोंकी बात नहीं टालनी चाहिये। इतनी श्रद्धा हो जानेपर फिर कल्याण होनेमें देरीका कोई काम नहीं। जिस माताके गर्भसे ऐसा सुपुत्र उत्पन्न हो वह निस्संदेह ही पुण्यवती और सौभाग्यशालिनी है।

पुत्रवती जुबती जग सोई। रघुपति भगतु जासु सुतु होई॥
सो कुल धन्य उमा सुनु जगत पूज्य सुपुनीत।
श्रीरघुबीर परायन जेहिं नर उपज बिनीत॥

ऐसे महापुरुष भागीरथीकी तरह स्वयं पवित्र और दूसरोंको भी पवित्र करनेवाले होते हैं। शास्त्रकारोंने तो महात्माओंकी महिमा गङ्गासे भी बढ़कर बतलायी है। इस विषयकी निम्नलिखित कथा प्रसिद्ध है—

एक बार गङ्गाने ब्रह्माजीके पास जाकर यह प्रार्थना की कि, 'महाराज ! असंख्य पापियोंके दल मुझमें स्नान करके अपने अनन्त जन्मोंके पाप छोड़ जाते हैं, फिर मेरे लिये भी तो कोई ऐसा उपाय होना चाहिये कि जिससे मैं भी पापमुक्त और पवित्र बन सकूँ।' इसके उत्तरमें ब्रह्माजी बोले—'गङ्गे ! संतोंके होते हुए तुझे चिन्ता ही किस बातकी है ? उनके चरणस्पर्शमात्रसे तेरे समस्त पापोंका तत्काल विध्वंस हो जायगा ।' वास्तवमें संतोंकी चरण-रजमें ऐसी अद्भुत शक्ति है कि उसे मस्तकपर रखते ही मनुष्य पवित्र हो जाता है । ऐसे भगवद्भक्त पवित्रको भी पवित्र करनेवाले होते हैं । 'तीर्थी-कुर्वन्ति तीर्थानि ।' (नारदभक्तिसूत्र ६९) वे जहाँ तप करते हैं, वही भूमि तीर्थ बन जाती है । तीर्थोंका तीर्थत्व संतों और प्रभुके सङ्गसे ही माना जाता है । जहाँ भगवान्ने वास किया अथवा महापुरुषोंने तपस्या की, वही स्थान तीर्थ बन गया । कपिलायतन और भारद्वाज-आश्रमके दर्शनार्थ लोग इसीलिये जाते हैं कि वहाँ कपिल और भारद्वाजने तपस्या की थी । पञ्चवटी और चित्रकूटकी पवित्रता भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके वहाँ निवास करनेके कारण ही मान्य है। नर-नारायणकी तपोभूमि होनेके कारण ही बदरिकाश्रमके दर्शनार्थ लोग कठिन कष्ट सहकर भी जाते हैं । पुलको वानर-सेनाने बनाया था, इसीसे आज सेतुबन्ध-रामेश्वरके पाषाणखण्डोंको लोग पूज्य मानते हैं । भक्त जो क्रिया कर जाते हैं, वह लाखों वर्षोंके बाद भी पूजित होती है । नैमिषारण्यमें संत एकत्र होकर हरि-चर्चा किया करते थे, इसीसे वह स्थान तीर्थ माना जाता है । अवध और सरयूकी महिमाका प्रधान कारण श्रीरामावतार ही है । मथुरा,

गोकुल और वृन्दावन आदि तीर्थ श्रीकृष्णावतारके कारण ही इतने अधिक मान्य और पूजित हैं। संसारमें जितने भी तीर्थ और देव-स्थान हैं, उन सबकी महिमाके प्रधान कारण भगवान् और उनके भक्त ही हैं। परमपावनी भागीरथी प्रभुचरणोंके प्रभावसे ही सर्व-श्रेष्ठ मानी जाती है—

स्रोतसामस्मि जाह्नवी

(गीता १०। ३१)

कहीं-कहीं तो भक्तोंकी महिमा भगवान्से भी बढ़कर बतलायी गयी है। यथा—

मोरें मन प्रभु अस बिस्वासा। राम ते अधिक राम कर दासा॥
राम सिंधु घन सज्जन धीरा। चंदन तरु हरि संत समीरा॥

इन चौपाइयोंमें श्रीरामकी निन्दा नहीं समझनी चाहिये, इनसे उनकी महिमा और भी बढ़ती है। यद्यपि प्रत्यक्षमें इनके द्वारा भक्तोंकी महिमा ही प्रकट होती है, पर वस्तुतः यह महिमा भगवान्-की ही है; क्योंकि उनकी महामहिमासे ही भक्त महिमान्वित होते हैं। ऐसे महापुरुषोंका संग मिलना बड़ा ही कठिन है, पुण्यके प्रभावसे ही उनकी प्राप्ति होती है—

पुन्य पुंज बिनु मिलहिं न संता। सतसंगति संसृति कर अंता॥

भगवान् श्रीकृष्णने भी कहा है—

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः॥

(गीता १३। २५)

'दूसरे यानी जो मन्द-बुद्धिवाले पुरुष हैं, वे स्वयं इस प्रकार न जानते हुए दूसरोंसे यानी तत्त्वके जाननेवाले महापुरुषोंसे सुनकर उपासना करते हैं—उनके कहनेके अनुसार ही श्रद्धासहित तत्पर होकर साधन करते हैं, (इससे) वे सुननेके परायण हुए पुरुष भी मृत्युरूपी संसार-सागरसे निस्संदेह तर जाते हैं।'

वेद, उपनिषद्, इतिहास, पुराण सभी शास्त्रोंमें स्थान-स्थानपर महापुरुषोंकी महिमाका एक स्वरसे गान किया गया है। फिर परमात्माकी गुणगरिमाकी तो बात ही क्या है ? उनकी महिमाका जितना भी गान किया जाय, सभी थोड़ा है। महात्माओंकी अथवा वैभव-सम्पन्न सांसारिक लोगोंकी जो कुछ भी बड़ी-से-बड़ी महिमा हमारे देखने-सुननेमें आती है, वह सब वास्तवमें भगवान्‌की ही महिमा है। भगवान्‌ने कहा है—

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम्॥

(गीता १०।४१)

'हे अर्जुन ! जो-जो भी ऐश्वर्ययुक्त, कान्तियुक्त और शक्तियुक्त वस्तु है, उस-उसको तू मेरे ही तेजके अंशसे उत्पन्न हुई जान।' ऐसे महामहिम प्रभुके या प्रेमी भक्तोंके समागमद्वारा भी जो मनुष्य लाभ नहीं उठा सकते, उनके लिये भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने ठीक ही कहा है—

जो न तरै भव सागर नर समाज अस पाइ।
सो कृत निंदक मंदमति आत्माहन गति जाइ॥

संत-शिरोमणि तुलसीदासजीने तो साधु-सङ्गके सुखको मुक्तिके सुखसे भी अधिक आदर दिया है—

तात स्वर्ग अपबर्ग सुख धरिअ तुला एक अंग ।
तूल न ताहि सकल मिलि जो सुख लव सतसंग ॥

उन्होंने तो यहाँतक कह दिया है कि बिना सत्सङ्गके मनुष्यका उद्धार हो ही नहीं सकता—

बिनु सतसंग न हरि कथा तेहि बिनु मोह न भाग ।
मोह गएँ बिनु राम पद होइ न दृढ़ अनुराग ॥

इस प्रकार महात्माओंके अमोघ सङ्ग और महती कृपासे जो व्यक्ति परमात्माके रहस्यसहित प्रभावको तत्त्वसे जान जाता है, वह स्वयं परम पवित्र होकर इस अपार संसार-सागरसे तरकर दूसरोंको भी तारनेवाला बन सकता है ।

जन्म कर्म च मे दिव्यम्

भगवान्‌के जन्म-कर्मकी दिव्यता एक अलौकिक और रहस्यमय विषय है, इसके तत्त्वको वास्तवमें तो भगवान् ही जानते हैं, अथवा यत्किंचित् उनके वे भक्त जानते हैं, जिनको उनकी दिव्य मूर्तिका प्रत्यक्ष दर्शन हुआ हो; परंतु वे भी जैसा जानते हैं, कदाचित् वैसा कह नहीं सकते । जब एक साधारण विषयको भी मनुष्य जिस प्रकार अनुभव करता है, उसी प्रकार नहीं कह सकता तब

ऐसे अलौकिक विषयको कोई कैसे कह सकता है ? इस विषयमें विस्तारपूर्वक सूक्ष्म विवेचनरूपसे शास्त्रोंमें प्रायः स्पष्ट उल्लेख भी नहीं मिलता, जिसके आधारपर मनुष्य उस विषयमें कुछ विशेष समझ सके। इस स्थितिमें यद्यपि इस विषयपर लिखनेमें मैं अपनेको असमर्थ मानता हूँ, तथापि अपने मनोरञ्जनार्थ अपने मनके कुछ भावोंको यत्किंचित् प्रकट करता हूँ।

भगवान्‌का जन्म दिव्य है, अलौकिक है, अद्भुत है। इसकी दिव्यताको जाननेवाला करोड़ों मनुष्योंमें शायद ही कोई एक होगा। जो इसकी दिव्यताको जान जाता है, वह मुक्त हो जाता है। स्वयं भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥
(४।९)

'हे अर्जुन! मेरा जन्म और कर्म दिव्य अर्थात् अलौकिक है, इस प्रकार जो पुरुष तत्त्वसे जानता है, वह शरीरको त्यागकर फिर जन्मको नहीं प्राप्त होता, किंतु मुझको ही प्राप्त होता है।'

इस रहस्यको नहीं जाननेवाले लोग कहा करते हैं कि निराकार सच्चिदानन्दघन परमात्माका साकाररूपमें प्रकट होना न तो सम्भव है और न युक्तिसंगत ही है। वे यह भी शङ्का करते हैं कि सर्वव्यापक, सर्वत्र समभावसे स्थित, सर्वशक्तिमान् भगवान् पूर्णरूपसे एक देशमें कैसे प्रकट हो सकते हैं ? और भी अनेक प्रकारकी शङ्काएँ की जाती हैं। वास्तवमें ऐसी शङ्काओंका होना

कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। जब मनुष्य-जीवनमें इस लोककी किसी अद्भुत बातके सम्बन्धमें भी बिना प्रत्यक्ष ज्ञान हुए उसपर पूरा विश्वास नहीं होता, तब भगवान्के विषयमें विश्वास न होना आश्चर्य अथवा असम्भव नहीं कहा जा सकता। भौतिक विषयको तो उसके क्रियासाध्य होनेके कारण विज्ञानके जाननेवाले किसी भी समय प्रकट करके उसपर विश्वास करा भी सकते हैं, किंतु परमात्मा-सम्बन्धी विषय बड़ा ही विलक्षण है। प्रेम और श्रद्धासे स्वयमेव निरन्तर उपासना करके ही मनुष्य इस तत्त्वका प्रत्यक्ष कर सकता है। कोई भी दूसरा मनुष्य अपनी मानवी शक्तिसे इसे प्रकट करके नहीं दिखला सकता। भगवान्ने कहा है—

> भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
> ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥
>
> (गीता ११।५४)

'हे श्रेष्ठ तपवाले अर्जुन! अनन्य भक्ति करके तो इस प्रकार मैं प्रत्यक्ष देखनेके लिये और तत्त्वसे जाननेके लिये तथा प्रवेश करनेके लिये अर्थात् एकीभावसे प्राप्त होनेके लिये भी शक्य हूँ।'

विचार करनेपर यह प्रतीत होगा कि ऐसा होना युक्तिसंगत ही है। प्रह्लादको भगवान्ने खम्भेमेंसे प्रकट होकर दर्शन दिया था, इस प्रकार भगवान्के प्रकट होनेके अनेक प्रमाण शास्त्रोंमें विभिन्न स्थलोंपर मिलते हैं। सर्वशक्तिमान् परमात्मा तो असम्भवको भी सम्भव कर सकते हैं, फिर यह तो सर्वथा युक्तिसंगत है। भगवान् जब सर्वत्र विद्यमान हैं तब उनका खम्भमेंसे प्रकट हो जाना कौन आश्चर्यको

बात है ? यदि यह कहें कि निराकार, सर्वव्यापक परमात्मा एक देशमें पूर्णरूपसे कैसे प्रकट हो सकते हैं तो इसको समझानेके लिये हम अग्निका उदाहरण सामने रखते हैं, यद्यपि यह सम्पूर्णरूपसे पर्याप्त नहीं हैं, क्योंकि परमात्माके सदृश व्यापक वस्तु अन्य कोई है ही नहीं, जिसकी परमात्माके साथ तुलना की जा सके।

अग्नितत्त्व कारणरूपसे अर्थात् परमाणुरूपसे निराकार है और लोकमें समभावसे सभी जगह अप्रकटरूपेण व्याप्त है। लकड़ियोंके मथनेसे, चकमक-पत्थरसे और दियासलाईकी रगड़से अथवा अन्य साधनोंद्वारा चेष्टा करनेपर वह एक जगह अथवा एक ही समय कई जगह प्रकट होती है, और जिस स्थानमें अग्नि प्रकट होती है, उस स्थानमें अपनी पूर्ण शक्तिसे ही प्रकट होती है। अग्निकी छोटी-सी शिखाको देखकर कोई यह कहे कि यहाँ अग्नि पूर्णरूपसे प्रकट नहीं है, तो यह उसकी भूल है। जहाँपर भी अग्नि प्रकट होती है, वह अपनी दाहक तथा प्रकाशक शक्तिको पूर्णतया साथ रखती हुई ही प्रकट होती है और आवश्यक होनेपर वह जोरसे प्रज्वलित होकर सारे ब्रह्माण्डको भस्म करनेमें समर्थ हो सकती है। इस तरह पूर्णशक्तिसम्पन्न होकर एक जगह या एक ही समय अनेक जगह एकदेशीय साकार-रूपमें प्रकट होनेके साथ ही वह अग्नि अव्यक्त—निराकाररूपमें सर्वत्र व्याप्त भी रहती है। इसी प्रकार निराकार सर्वव्यापी विज्ञानानन्दघन अक्रियरूप परमात्मा अप्रकटरूपसे सब जगह व्याप्त होते हुए भी सम्पूर्ण गुणोंसे सम्पन्न अपने पूर्ण प्रभावके सहित एक जगह अथवा एक ही कालमें अनेक जगह प्रकट हो सकते हैं; इसमें

आश्चर्यकी कौन-सी बात है ? इस प्रकार भगवान्का प्रकट होना तो सर्वप्रकारसे युक्तिसङ्गत ही है ।

कोई-कोई पुरुष यह शङ्का करते हैं कि भगवान् सर्वशक्तिमान् हैं, वे अपने संकल्पमात्रसे ही रावण और कंस आदिको दण्ड दे सकते थे, फिर उन्हें श्रीराम और श्रीकृष्णके रूपमें अवतार लेनेकी क्या आवश्यकता थी ? यह शंका भी सर्वथा अयुक्त है । ईश्वरके कर्तव्यके विषयमें इस प्रकारकी शंका करनेका मनुष्यको कोई अधिकार नहीं है तथापि जिनका चित्त अज्ञानसे मोहित है, उनके मनमें ऐसी शंका हो जाया करती है । भगवान्के अवतरणमें बहुत-से कारण हो सकते हैं, जिनको वस्तुतः वे ही जानते हैं । फिर भी अपनी साधारण बुद्धिके अनुसार कई कारणोंमेंसे एक यह भी कारण समझमें आता है कि वे संसारके जीवोंपर दया करके सगुणरूपमें प्रकट होकर एक ऐसा ऊँचा आदर्श रख जाते हैं— संसारको ऐसा सुलभ और सुखकर मुक्तिमार्ग बतला जाते हैं, जिसे वर्तमान एवं भावी संसारके असंख्य जीव परमेश्वरके उपदेश और आचरणको लक्ष्यमें रखकर उनका अनुकरण कर कृतार्थ होते रहते हैं ।

भगवान्के जन्म और विग्रह दिव्य होते हैं, यह बड़े ही रहस्यका विषय है । भगवान्का जन्म साधारण मनुष्योंकी भाँति नहीं होता । भगवान् श्रीकृष्ण जब कारागारमें वसुदेव-देवकीके सामने प्रकट हुए, उस समयका श्रीमद्भागवतका प्रसंग देखने और विचारनेसे मनुष्य समझ सकता है कि उनका जन्म साधारण मनुष्योंकी भाँति नहीं हुआ । अव्यक्त सच्चिदानन्दघन परमात्मा अपनी लीलासे ही शङ्ख, चक्र, गदा, पद्मसहित विष्णुके रूपमें वहाँ

प्रकट हुए। उनका प्रकट होना और पुनः अन्तर्धान होना उनकी स्वतन्त्र लीला है, वह हमलोगोंके उत्पत्ति-विनाशकी तरह नहीं है। भगवान्‌की तो बात ही निराली है। एक योगी भी अपने योगबलसे अन्तर्धान हो जाता है और पुनः उसी स्वरूपमें प्रकट होकर दर्शन देता है; परंतु उसकी अन्तर्धानकी अवस्थामें उसे कोई मरा हुआ नहीं समझता। जब महर्षि पतञ्जलि आदि योगके ज्ञाता एक योगीकी ऐसी शक्ति बतलाते हैं तब परमात्मा ईश्वरके लिये अपने पहले रूपको छिपाकर दूसरे रूपमें प्रकट होने आदिमें तो बड़ी बात ही क्या है? अवश्य ही भगवान् श्रीकृष्णका अवतरण साधारण लोक-दृष्टिमें उनके जन्म लेनेके सदृश ही हुआ, परन्तु वास्तवमें वह जन्म नहीं था, वह तो उनका प्रकट होना था। श्रीशुकदेवजी कहते हैं—

कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमखिलात्मनाम्।
जगद्धिताय सोऽप्यत्र देहीवाभाति मायया॥

(श्रीमद्भा० १०। १४। ५५)

'आप इन श्रीकृष्णको सम्पूर्ण भूतप्राणियोंके आत्मा जानें। इस लोकमें भक्तजनोंके उद्धारके लिये वे ही भगवान् अपनी मायासे देहधारी-से प्रतीत होते हैं।'

जब भगवान् दिव्यरूपसे प्रकट हुए तब माता देवकी उनकी अनेक प्रकारसे स्तुति करती हुई कहती हैं—

उपसंहर विश्वात्मन्नदो रूपमलौकिकम्।
शङ्खचक्रगदापद्मश्रिया जुष्टं चतुर्भुजम्॥

(श्रीमद्भा० १०। ३। ३२)

*

'हे विश्वात्मन् ! आप शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म और श्रीसे सुशोभित चार भुजावाले अपने इस अद्भुतरूपको छिपा लीजिये ।' देवकीके प्रार्थना करनेपर भगवान्‌ने अपने चतुर्भुजरूपको छिपाकर द्विभुज बालकका रूप धारण कर लिया ।

इत्युक्त्वाऽऽसीद्धरिस्तूष्णीं भगवानात्ममायया ।
पित्रोः संपश्यतोः सद्यो बभूव प्राकृतः शिशुः ॥
(श्रीमद्भा० १० । ३ । ४६)

इससे इनका प्रकट होना ही स्पष्ट सिद्ध होता है । गीतामें भी भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजीने अर्जुनके प्रार्थना करनेपर पहले उसे अपना विश्वरूप दिखलाया, फिर उसीकी प्रार्थनापर चतुर्भुजरूप धारण किया और अन्तमें पुनः द्विभुजरूप होकर दर्शन दिये । इससे प्रकट होता है कि भगवान् अपने भक्तोंकी इच्छाके अनुसार उन्हें दर्शन देकर अन्तर्धान हो जाते हैं । इस प्रकार भगवान्‌के प्रकट और अन्तर्धान होनेको जो लोग मनुष्योंके जन्म और मरणके सदृश समझते हैं, वे भगवान्‌के तत्त्वको नहीं जानते । अपने जन्मकी दिव्यताको दिखलाते हुए भगवान् गीतामें अर्जुनके प्रति कहते हैं—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ॥
(४ । ६)

'मैं अविनाशीस्वरूप, अजन्मा होनेपर भी तथा सब भूतप्राणियोंका ईश्वर होनेपर भी अपनी प्रकृतिको अधीन करके योगमायासे प्रकट होता हूँ ।'

इस श्लोकमें 'अपि' और 'सन्' शब्दोंसे भगवान्‌का यह कथन स्पष्ट है कि मेरे प्रकट होनेके तत्त्वको नहीं जाननेवाले मूर्खोंको मैं, अजन्मा होता हुआ भी जन्मता हुआ-सा प्रतीत होता हूँ। जब मैं सगुणरूपसे अन्तर्धान होता हूँ तब मेरे इस छिपनेके रहस्यको न जाननेवाले मूर्खोंकी दृष्टिमें मैं अविनाशी, विनाशभावको प्राप्त होता हुआ-सा प्रतीत होता हूँ। जब मैं लीलासे साधारणरूपमें प्रकट होता हूँ तब उसका यथार्थ मर्म न जाननेवाले मूढ़ोंकी दृष्टिमें मैं सर्वव्यापी सच्चिदानन्दघन परमात्मा सारे भूतप्राणियोंका ईश्वर होता हुआ भी साधारण मनुष्य-सा प्रतीत होता हूँ।

उपर्युक्त वर्णनसे यह सिद्ध हो जाता है कि भगवान्‌का प्रकट होना और अन्तर्धान होना मनुष्योंकी उत्पत्ति और विनाशके सदृश नहीं है। उनका जन्म मनुष्योंके जन्मकी भाँति होता तो एक क्षणके अंदर एक शरीरसे दूसरे शरीरका परिवर्तन करना जैसे उन्होंने देवकी और अर्जुनके सामने किया था, कभी नहीं बन सकता।

मनुष्योंके शरीरके विनाशकी तरह भगवान्‌के दिव्य वपुका विनाश भी नहीं समझना चाहिये। जिस शरीरका विनाश होता है वह तो यहीं पड़ा रहता है, किन्तु देवकीके सामने चतुर्भुजरूपके और अर्जुनके सामने विश्वरूप और चतुर्भुजरूपके अदृश्य हो जानेपर उन वपुओंकी वहाँ उपलब्धि नहीं होती। इतना ही नहीं, भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजीने जिस देहसे एक सौ पचीस वर्षतक लोकहितके लिये विविध लीलाएँ कीं वह देह भी अन्तमें नहीं मिला। वे उसी लीलामय वपुसे ही परमधामको पधार गये। इसके बाद भी जब-जब

भक्तोंने इच्छा की, तब-तब उसी श्यामसुन्दर शरीरसे पुनः प्रकट होकर उन्हें दर्शन देकर कृतार्थ किया। यदि उनके देहका विनाश हो गया होता तो परमधाम पधारनेके अनन्तर इस प्रकार पुनः प्रकट होना। कैसे बनता?

इससे यह बात सिद्ध हुई कि भगवान्‌का अन्तर्धान होना ही अपने परमधाममें सिधारना है, न कि मनुष्यदेहोंकी भाँति विनाश होना। श्रीमद्भागवतमें भी लिखा है—

लोकाभिरामां स्वतनुं धारणाध्यानमङ्गलम्।
योगधारणयाऽऽग्नेय्यादग्ध्वा धामाविशत्स्वकम्॥
(११।३१६)

'भगवान् योगधारणाजनित अग्निके द्वारा धारणाध्यानमें मंगलकारक अपनी लोकाभिरामा मोहिनीमूर्तिको भस्म किये बिना ही इस अपने शरीरसे परमधामको पधार गये।'

भगवान्‌का प्राकट्य भूतप्राणियोंकी उत्पत्तिकी अपेक्षा ही नहीं, किन्तु योगियोंके प्रकट होनेकी अपेक्षा भी अत्यन्त विलक्षण है। वह जन्म दिव्य है, अलौकिक है, अद्भुत है। भगवान् मूल प्रकृतिको अपने अधीन किये हुए ही अपनी योगमायासे प्रकट होते हैं। जगत्‌के छोटे-बड़े सभी चराचर जीव प्रकृतिके और अपने गुण, कर्म, स्वभावके वशमें हुए प्रारब्धके अनुसार सुख-दुःखादि भोगोंको भोगते हैं। यद्यपि योगीजन साधारण मनुष्योंकी भाँति ईश्वरकी मायाके और अपने स्वभावके पराधीन तो नहीं हैं तथापि उनका जन्म मूल-प्रकृतिको वशमें करके ईश्वरकी भाँति लीलामात्र नहीं

होता। परन्तु परमात्मा किसीके वशमें होकर प्रकट नहीं होते। वे अपनी इच्छासे केवल कारणवश ही अवतरित होते हैं, इसीलिये भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ॥

(४।६)

ईश्वरका प्रकट होना उनकी लीला है और जीवोंका जन्म लेना दुःखमय है, ईश्वर प्रकट होनेमें सर्वथा स्वतन्त्र हैं और जीव जन्म लेनेमें सर्वथा परतन्त्र हैं। ईश्वरके जन्ममें हेतु है जीवोंपर उनकी अहैतुकी दया और जीवोंके जन्ममें हेतु है उनके पूर्वकृत शुभाशुभ कर्म। जीवोंके शरीर अनित्य, पापमय, रोगग्रस्त, लौकिक और पाञ्चभौतिक होते हैं एवं ईश्वरका शरीर परमदिव्य अप्राकृत होता है। वह पाञ्चभौतिक नहीं होता। श्रीमद्भागवतमें ब्रह्माजी कहते हैं-

अस्यापि देव वपुषो मदनुग्रहस्य
स्वेच्छामयस्य न तु भूतमयस्य कोऽपि।
नेशे महि त्ववसितुं मनसान्तरेण
साक्षात्तवैव किमुतात्मसुखानुभूतेः ॥

(१०।१४।२)

'हे देव! आपके इस दिव्य प्रकट देहकी महिमाको भी कोई नहीं जान सकता, जिसकी रचना पञ्चभूतोंसे न होकर मुझपर अनुग्रह करनेके लिये अपने भक्तोंकी इच्छाके अनुसार ही हुई है। फिर आपके उस साक्षात् आत्मसुखानुभव अर्थात् विज्ञानानन्दघन स्वरूपको तो हमलोग समाधिके द्वारा भी नहीं जान सकते।'

इससे भी यह बात समझमें आती है कि भगवान्‌का शरीर लौकिक पञ्चभूतोंसे बना हुआ नहीं होता। वह तो उनका खास संकल्प है, दिव्य प्रकृतियोंसे बना है, पाप-पुण्यसे रहित होनेके कारण अनामय अर्थात् रोगसे रहित एवं विशुद्ध है। विज्ञानानन्द-घन परमात्माके सगुणरूपमें प्रकट होनेके कारण ही उस रूपको आनन्दमय कहा है। मानो सम्पूर्ण अनन्त आनन्द ही मूर्तिमान् होकर प्रकट हो गया है, या यों समझिये कि साक्षात् प्रेम ही दिव्य मूर्ति धारण कर प्रकट हो गया है। इसीसे जो उस आनन्द और प्रेमार्णव श्यामसुन्दर दिव्य शरीरका तत्त्व जान लेता है वह प्रेममें मुग्ध हो जाता है, आनन्दमय बन जाता है। प्रेम और आनन्द वास्तवमें एक ही चीज है; क्योंकि प्रेमसे ही आनन्द होता है। प्रकृतिके सम्बन्ध बिना मनुष्यकी चर्म-दृष्टिसे वे दृष्टि-गोचर नहीं हो सकते। इसीलिये परमेश्वर अपनी प्रकृतिके शुद्ध सत्त्वको साथ लिये हुए प्रकट होते हैं अर्थात् जिन दिव्य शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदिका योगी लोगोंको अनुभव होता है, उन्हीं दिव्य धातुओंसे सम्बन्ध किये हुए भगवान् प्रकट होते हैं, भक्तोंपर अनुग्रहकर वे विज्ञानानन्दघन परमात्मा जब अपने भक्तोंको दर्शन देकर उनसे वार्तालाप करते हैं, तब अपनी लीलासे उपर्युक्त दिव्य तन्मात्राओंको स्वाधीन करके ही वे प्रकट हुआ करते हैं, क्योंकि नेत्र रूपको देख सकता है, अतएव भगवान्‌को रूपवाला बनना पड़ता है, त्वचा स्पर्शको विषय करती है, अतएव भगवान्‌को स्पर्शवाला बनना पड़ता है, नासिका गन्धको विषय करती है, अतएव भगवान्‌को दिव्य गन्धमय वपु धारण करना पड़ता है।

इसी प्रकार मन और बुद्धि मायाका कार्य होनेसे मायासे सम्मिलित वस्तुको ही चिन्तन करने और समझनेमें समर्थ हैं। इसलिये निराकार सर्वव्यापी विज्ञानानन्दघन परमात्मा प्रकृतिके गुणोंसहित अपने भक्तोंको विशेष ज्ञान करानेके लिये साकार होकर प्रकट होते हैं, प्रकृतिके सहित उस शुद्ध सच्चिदानन्दघन परमात्माके प्रकट होनेका तत्त्व सबकी समझमें नहीं आता। इसीलिये भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्॥

(७।२५)

'अपनी योगमायासे छिपा हुआ मैं सबके प्रत्यक्ष नहीं होता हूँ, इसीलिये यह अज्ञानी मनुष्य मुझ जन्मरहित, अविनाशी परमात्माको तत्त्वसे नहीं जानता है अर्थात् मुझे जन्मने-मरनेवाला मानता है।'

तत्त्वको न जाननेके कारण ही लोग भगवान्‌का अपमान भी किया करते हैं और भगवान्‌की शक्ति-सामर्थ्यकी सीमा बाँधते हुए कह देते हैं कि विज्ञानानन्दघन निराकार परमात्मा साकाररूपसे प्रकट हो ही नहीं सकते। वे साक्षात् परमेश्वर भगवान् श्रीकृष्णको परमात्मा न मानकर एक मनुष्यविशेष मानते हैं, भगवान्‌के सम्बन्धमें इस प्रकारकी धारणा करनी किसी चक्रवर्ती विश्व-सम्राट्‌को एक साधारण ताल्लुकेदार मानकर उसका अपमान करनेकी भाँति ईश्वरकी अवज्ञा या उनका अपमान करना है। भगवान्‌ने गीतामें कहा भी है—

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥
(९ । ११)

'सम्पूर्ण भूतोंके महान् ईश्वररूप मेरे परमभावको न जाननेवाले मूढलोग, मनुष्यका शरीर धारण करनेवाले मुझ परमात्माको तुच्छ समझते हैं अर्थात् अपनी योगमायासे संसारके उद्धारके लिये मनुष्यरूपमें विचरते हुए मुझको साधारण मनुष्य मानते हैं ।'

इससे यह बात सिद्ध हो गयी कि निराकार सर्वव्यापी भगवान् जीवोंके ऊपर दया करके धर्मकी संस्थापनाके लिये दिव्य साकार-रूपसे समय-समयपर अवतरित होते हैं । इस प्रकार शुद्ध सच्चिदा-नन्द निराकार परमात्माके दिव्य गुणोंके सहित प्रकट होनेके तत्त्वको जो जानता है वही पुरुष उस परमात्माकी दयासे परमगतिको प्राप्त होता है ।

जिस प्रकार भगवान्के जन्मकी अलौकिकता है उसी प्रकार भगवान्के कर्मोंकी भी अलौकिकता है । इसलिये भगवान्के कर्मोंकी दिव्यता जाननेसे पुरुष परमपदको प्राप्त हो जाता है । भगवान्के कर्मोंमें क्या दिव्यता है, उसका जानना क्या और जाननेसे मुक्ति कैसे होती है, इस विषयमें कुछ लिखा जाता है । भगवान्के कर्मोंमें अहैतुकी दया, समता स्वतन्त्रता, उदारता, दक्षता और प्रेम आदि गुण भरे रहनेके कारण मनुष्योंकी तो बात ही क्या, सिद्ध योगियों-की अपेक्षा भी उनके कर्मोंमें अत्यन्त विलक्षणता होती है । वे सर्वशक्तिमान्, सर्वसामर्थ्यवान्, असम्भवको भी सम्भव कर देनेवाले होनेपर भी न्यायविरुद्ध कोई कार्य नहीं करते, उन विज्ञानानन्दघन

भगवान् श्रीकृष्णने सर्वभूतप्राणियोंपर परम दया करके धर्मकी स्थापना और जीवोंका कल्याण किया । उनकी प्रत्येक क्रियामें प्रेम एवं दक्षता, निष्कामता और दया परिपूर्ण है । जब भगवान् वृन्दावनमें थे, तब उनकी बाललीलाकी प्रत्येक प्रेममयी क्रियाको देखकर गोप और गोपियाँ मुग्ध हो जाया करती थीं । भगवान् श्रीकृष्णके तत्त्वको जाननेवाले जितने भी स्त्री-पुरुष थे, उनमें कोई एक भी ऐसा नहीं था जो उनकी प्रेममयी लीलाको देखकर मुग्ध न हो गया हो । उनकी मुरलीकी तानको सुनकर मनुष्य तो क्या, पशु-पक्षीतक मुग्ध हो जाते थे । उनके शरीर और वाणीकी चेष्टाएँ ऐसी अद्भुत थीं, जिनका किसी मनुष्यमें होना असम्भव है । प्रौढ़-अवस्थामें भी उनके कर्मोंकी विलक्षणताको देखकर उनके तत्त्वको जाननेवाले प्रेमी भक्त पद-पदपर मुग्ध हुआ करते थे। अर्जुन तो उनके कर्म और आचरणोंपर तथा हाव-भाव चेष्टाको देख-देखकर इतना मुग्ध हो गया था कि वह सदा उनके इशारेपर कठपुतलीकी भाँति कर्म करनेके लिये तैयार रहता था ।

भगवान्‌के लिये कोई कर्तव्य न होनेपर भी वे केवल जीवोंको सन्मार्गमें लगानेके लिये ही कर्म किया करते हैं । गीतामें भगवान्‌ने स्वयं कहा है—

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन ।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥
(३ । २२)

'हे अर्जुन ! यद्यपि मुझे तीनों लोकोंमें कुछ भी कर्तव्य नहीं

है तथा किञ्चित् भी प्राप्त होनेयोग्य वस्तु अप्राप्त नहीं है तो भी मैं कर्ममें ही बर्तता हूँ ।'

भगवान्‌को समता भी बड़ी प्रिय है । इसलिये गीतामें भी उन्होंने समताका वर्णन किया है ।

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥
(६ । ९)

'सुहृद्, मित्र, वैरी, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेषी और बन्धुगणोंमें तथा धर्मात्माओंमें और पापियोंमें भी जो समान भाववाला है वह अतिश्रेष्ठ है ।'

गीतामें केवल कहा ही नहीं, अपितु काम पड़नेपर भगवान्‌ने अपने मित्र और वैरियोंके साथ बर्ताव भी समताका ही किया । महाभारत-युद्धके प्रारम्भमें दुर्योधन और अर्जुन युद्धके लिये मदद माँगने द्वारिका गये और दोनोंहीने भगवान्‌से युद्धमें सहायताकी प्रार्थना की । भगवान् श्रीकृष्णने कहा कि एक ओर मेरी एक अक्षौहिणी नारायणी सेना है और दूसरी ओर मैं अकेला हूँ, पर मैं युद्धमें हथियार नहीं लूँगा । इससे यह बात सिद्ध हुई कि भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुन और दुर्योधन दोनोंके साथ समान व्यवहार किया । यहाँ यह विचारणीय विषय है कि भगवान् श्रीकृष्णको अर्जुन कितना अधिक प्रिय था, वे कहनेको ही दो शरीर थे । महाभारत मौसलपर्वमें वसुदेवजी अर्जुनसे कहने लगे—

योऽहं तमर्जुनं विद्धि योऽर्जुनः सोऽहमेव तु ॥
यद्ब्रूयात्तत्तथा कार्यमिति बुध्यस्व भारत ।

(६ । २१-२२)

'हे अर्जुन ! तू समक्ष, श्रीकृष्णने मुझे कहा—'जो मैं हूँ सो अर्जुन है और जो अर्जुन है सो मैं हूँ, वह जैसा कहे, आप वैसा ही कीजियेगा ।'

तथा श्रीमद्भगवद्गीतामें भी भगवान्‌ने कहा है—

भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥

(४ । ३)

इतना होते हुए भी वे अपने प्रिय सखा अर्जुनके विपक्षमें लड़नेवाले उसके शत्रु दुर्योधनको भी समानभावसे सहायता करनेको तैयार हो गये । जो अपने मित्रका शत्रु होता है वह अपना शत्रु ही समझा जाता है । महाभारत उद्योगपर्वमें भगवान् श्रीकृष्ण जब सन्धि कराने गये तब उन्होंने स्वयं यह कहा भी था—

यस्तान्द्वेष्टि स मां द्वेष्टि यस्ताननु स मामनु ।
एकात्म्यं मां गतं विद्धि पाण्डवैर्धर्मचारिभिः ॥

(९१ । २८)

जो पाण्डवोंका वैरी है, वह मेरा वैरी है और जो उनके अनुकूल है वह मेरे अनुकूल है । मैं धर्मात्मा पाण्डवोंसे अलग नहीं हूँ । ऐसा होनेपर भी भगवान्‌ने दुर्योधनकी सैन्यबलसे सहायता की । संसारमें ऐसा कौन पुरुष होगा, जो अपने प्रेमी मित्रके शत्रु-को उसीसे युद्ध करनेके कार्यमें सहायता दे । परन्तु भगवान्‌की

समताका कार्य विलक्षण था। इस मददको पाकर दुर्योधन भी अपनेको कृतकृत्य मानने लगा। और उसने ऐसा समझा कि मानो मैंने श्रीकृष्णको ठग लिया—

कृष्णं चापहृतं ज्ञात्वा सम्प्राप परमां मुदम्।
दुर्योधनस्तु तत्सैन्यं सर्वमादाय पार्थिवः॥
(उद्योगपर्व ७।२४)

भगवान् श्रीकृष्णके प्रभावको दुर्योधन नहीं जानता था, इसीलिये उसने इसमें उनकी उदारता और समता तथा महत्ताका तत्त्व न जानकर इसे मूर्खता समझा। जो लोग महान् पुरुषोंके प्रभावको नहीं जानते, उनको उन महापुरुषोंकी क्रियाओंके अन्दर दया, समता एवं उदारता आदि गुण दृष्टिगोचर नहीं होते। दुर्योधनके उदाहरणसे यह बात प्रत्यक्ष प्रमाणित होती है।

भगवान् श्रीकृष्ण जो कुछ भी करते थे, सबके अन्दर समता, निःस्वार्थता, अनासक्तता आदि भाव पूर्ण रहते थे, इसीसे वे कर्मोंके द्वारा कभी लिपायमान नहीं होते थे। गीतामें उन्होंने कहा भी है—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्॥
न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते॥
(४।१३-१४)

'हे अर्जुन! गुण और कर्मोंके विभागसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य

और शूद्र मेरेद्वारा रचे गये हैं, उनके कर्ताको भी मुझ अविनाशी परमेश्वरको तू अकर्ता ही जान। क्योंकि कर्मोंके फलमें मेरी स्पृहा नहीं है, इसलिये मुझको कर्म लिपायमान नहीं करते। इस प्रकार जो मुझको तत्त्वसे जानता है वह भी कर्मोंसे नहीं बँधता।' तथा-

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु॥
(९।९)

'हे अर्जुन! उन कर्मोंमें आसक्तिरहित और उदासीनके सदृश स्थित हुए मुझ परमात्माको वे कर्म नहीं बाँधते।'

भगवान्‌की तो बात ही क्या है, तत्त्वको जाननेवाला पुरुष भी कर्मोंमें लिपायमान नहीं होता। अब यह बात समझनेकी है कि उपर्युक्त श्लोकोंके तत्त्वको जानना क्या है? वह यही है कि भगवान् श्रीकृष्णको कर्मोंमें आसक्ति, विषमता और फलकी इच्छा नहीं रहती थी। जो मनुष्य यह समझकर कि कर्मोंमें आसक्ति, फलकी इच्छा एवं विषमता ही बन्धनके हेतु हैं इन दोषोंको त्याग-कर अहङ्काररहित होकर कर्म करता है, वही कर्मोंके तत्त्वको जानकर कर्म करता है। इस प्रकार कर्मके तत्त्वको जानकर कर्म करनेवाला कर्मके द्वारा नहीं बँधता। ऐसा समझकर जो स्वयं इन दोषोंको त्यागकर कर्म करता है वही इस तत्त्वको समझता है। जैसे संखिया, पारा आदिके दोषोंको मारकर उनका सेवन करने-वालेको हानिकी जगह परम लाभ पहुँचता है, इसी प्रकार विषमता, अभिमान, फलकी इच्छा और आसक्तिको त्यागकर कर्मोंका सेवन करनेवाला मनुष्य उनसे न बँधकर मुक्तिको प्राप्त होता है।

दूधमें विष मिला हुआ है, यह जानकर कोई भी मनुष्य उस दूधका पान नहीं करता है। यदि करता है तो उसे अत्यन्त मूढ़ समझना चाहिये। इसी प्रकार कर्मोंमें आसक्ति, कर्तृत्व-अभिमान, फलकी इच्छा और विषमता आदि दोष विषसे भी अधिक विष होकर मनुष्यको वार-बार मृत्युके चक्करमें डालनेवाले हैं। जो पुरुष इस प्रकार समझता है वह उपर्युक्त दोषोंसे युक्त होकर कभी कर्म नहीं करता।

भगवान् श्रीकृष्णके कर्मोंमें और भी अनेक विचित्रताएँ हैं जिनको हम नहीं जान सकते और जो यत्किञ्चित् जानते हैं उसको भी समझना वहुत कठिन है। हम तो चीज ही क्या हैं, भगवान्की लीलाओंको देखकर ऋषि, मुनि और देवतागण भी मोहित हो जाया करते थे। श्रीमद्भागवतमें लिखा है कि एक समय श्रीकृष्णचन्द्रजीकी लीलाओंको देखकर ब्रह्माजीको भी मोह हो गया था, उन्होंने ग्वालबालोंके सहित बछड़ोंको ले जाकर एक कन्दरामें रख दिया। महाराज श्रीकृष्णचन्द्रजीने यह जानकर तुरन्त वैसे ही दूसरे ग्वालवाल और बछड़े रच लिये और गौओं तथा गोपियों आदि किसीको यह मालूम नहीं हुआ कि यह बालक तथा बछड़े दूसरे ही हैं।

वास्तवमें ब्रह्माजी-जैसे महान् देव ईश्वरके विषयमें मोहित हो जायें, यह वात युक्तिसे सम्भव नहीं मालूम होती, किन्तु ईश्वरके लिये कोई बात भी असम्भव नहीं है। वे असम्भवको भी सम्भव करके दिखा सकते हैं। विचारनेकी बात है कि इस प्रकार-

के अलौकिक तथा अद्भुत कर्म साधारण मनुष्यकी तो बात ही क्या है योगीलोग भी नहीं कर सकते ।

परमात्माके जन्म और कर्मकी दिव्यताका विषय बड़ा अलौकिक और रहस्यमय है । अर्जुन भगवान्‌का अत्यन्त प्रिय सखा था; इसी-लिये भगवान्‌ने यह अत्यन्त गोपनीय रहस्य अर्जुनके प्रति कहा था।

इस प्रकार भगवान्‌के जन्म और कर्मकी दिव्यताको जो तत्त्व-से जानता है वही भगवान्‌को तत्त्वसे जानता है । अतएव हम सबको इसके तत्त्वको समझनेकी कोशिश करनी चाहिये । जो पुरुष इस तत्त्वको जितना ही अधिक समझेगा, वह उतना ही आनन्दमें मुग्ध होता हुआ परमात्माके नजदीक पहुँचेगा । उसके कर्मोंमें भी अलौकिकता भासने लगेगी और वह भगवान्‌के प्रभावको जानकर प्रेममें मुग्ध हो शीघ्र ही परमगतिको प्राप्त हो जायगा ।

भगवान्‌का अवतार-शरीर

एक सज्जनने निम्नलिखित प्रश्न किये हैं । प्रश्न महत्त्वके हैं। संक्षेपमें उत्तरसहित प्रश्न प्रकाशित किये जाते हैं । प्रश्नोंकी भाषामें कुछ सुधार किया गया है—

१—क्या पूर्णावतार भगवान् श्रीकृष्ण आदिके पाञ्चभौतिक स्थूल शरीर होते हैं ?

२—साधारण जीवोंके शरीरका अभिमानी तो जीवात्मा होता है परन्तु अवतार-शरीरका अभिमानी कौन होता है ?

३—यदि सगुण ईश्वरको ही उस शरीरका अभिमानी माना जाय तो जो विश्वात्मा इस समस्त विश्वका अभिमानी है, वह केवल एक शरीरका अभिमानी कैसे हो सकता है ?

४—एक शरीरका अभिमानी है तो उसमें कुछ भेद होगा या नहीं यानी वह जिस प्रकार सामान्यरूपसे सब स्थानोंमें है, उससे अवतार-शरीरमें कुछ विशेषरूपसे है या नहीं ?

५—श्रीमद्भगवद्गीतासे पूर्वके किसी ग्रन्थमें अवतारवादका बीजरूपसे भी वर्णन है क्या ?

इनका क्रमशः उत्तर इस प्रकार है—

(१) भगवान्‌का जन्म और उनका विग्रह सर्वथा दिव्य एवं अलौकिक है। मलिन विकाररूप पञ्चमहाभूत जो हमलोगोंके दृष्टिगोचर होते हैं, भगवान्‌का शरीर उनसे बना हुआ नहीं होता। तत्त्वको न जाननेवाले अज्ञ मनुष्योंको ऐसा ही प्रतीत होता है कि भगवान् श्रीकृष्णका शरीर हमलोगों-जैसा ही है। भगवान् कहते हैं—

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥
(गीता ७ । २५)

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥
(गीता ९ । ११)

'अपनी योगमायासे छिपा हुआ मैं सबके प्रत्यक्ष नहीं होता

हूँ, इसलिये अज्ञानी मनुष्य मुझ अजन्मा, अविनाशी परमात्माको (तत्त्वसे) नहीं जानता, वह मुझे जन्म लेने और मरनेवाला समझता है।'

'सम्पूर्ण भूतोंके महान् ईश्वररूप मेरे परम भावको न जाननेवाले मूढ़लोग मनुष्यका शरीर धारण करनेवाले मुझ परमात्माको तुच्छ समझते हैं अर्थात् अपनी योगमायासे संसारके उद्धारके लिये मनुष्यरूपमें लीला करते हुए मुझको साधारण मनुष्य मानते हैं।'

भगवान्‌के परमतत्त्वको जाननेवाले बड़भागी पुरुषोंको तो भगवान्‌का शरीर सर्वथा दिव्य ही प्रतीत होता है, उनकी दृष्टिसे भगवान्‌का यथार्थ स्वरूप कभी ओझल नहीं होता, इसीसे वे मुक्त होते हैं। स्वयं भगवान् कहते हैं—

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥

(गीता ४।९)

'हे अर्जुन! मेरा जन्म और कर्म दिव्य अर्थात् अलौकिक है, इस प्रकार जो पुरुष तत्त्वसे जानता है वह शरीरको त्यागकर पुनः जन्मको प्राप्त नहीं होता। वह तो मुझ (परमात्मा) को ही प्राप्त होता है।'

सर्वशक्तिमान् सच्चिदानन्दघन परमात्मा अजन्मा, अविनाशी, सर्वभूतोंके परमगति और परम आश्रय हैं, वे केवल धर्मकी स्थापना और संसारका उद्धार करनेके लिये ही अपनी योगमायासे सगुण-

रूप होकर प्रकट होते हैं। उनके समान सुहृद्, प्रेमी और पतित-पावन दूसरा कोई नहीं है। ऐसा समझकर जो पुरुष परमेश्वरका अनन्यप्रेमसे निरन्तर चिन्तन करता हुआ आसक्तिरहित हो संसारमें बर्तता है, वही वास्तवमें उन्हें तत्त्वसे जानता है। ऐसे तत्त्वज्ञकी दृष्टि ही वास्तविक दृष्टि है। जो लोग मायाके आवरणसे ढके रहनेके कारण वास्तविक दृष्टिसे शून्य हैं, वे परमात्माके साकाररूपको विकारी पाञ्चभौतिक मानते हैं। असलमें न तो भगवान्‌का शरीर ही साधारण प्राणियोंका-सा है और न उनका अवतरण ही जीवोंकी उत्पत्तिके समान है। जीव मायाबद्ध है, वह उसीके नियन्त्रणमें पाप-पुण्योंके अनुसार परवश हुआ जन्म-मरणको प्राप्त होता है। भगवान् कहते हैं—

भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥

(गीता ९।८)

'प्रकृतिके वशसे परतन्त्र हुए इस सम्पूर्ण भूतसमुदायको मैं रचता हूँ।' परन्तु भगवान् इस प्रकार पाप-पुण्यका फल भोगनेके लिये पाप-पुण्यके परवश होकर जन्म ग्रहण नहीं करते। प्रकृति और माया उनकी चेरी हैं, शक्ति हैं, वे प्रकृतिको अपने अधीन करके शुद्ध संकल्प और शुद्ध सत्त्वसे, लीलामात्रसे ही लोकोद्धार और धर्म-संस्थापनके लिये प्रकट होते हैं। वे मायाको अधीन बनाकर लीलासे ही शरीर धारण करते हैं। उनका लीलाविग्रह उन शुद्ध महाभूतोंका होता है, जिन भूतोंकी दिव्य मात्राओंका योगीगण योगबलसे अनुभव किया करते हैं। दिव्य सत्त्वका शरीर होनेके कारण उसमें किसी भी शारीरिक और मानसिक

विकारको किञ्चित् भी स्थान नहीं होता। इसीसे उसको 'अनामय' कहते हैं। इसी कारण किसी भी प्रामाणिक ग्रन्थमें कहीं ऐसा उल्लेख नहीं मिलता कि अवतार-शरीरको कभी कोई रोग हुआ हो। भागवत, महाभारत आदि ग्रन्थोंमें अवतारके लिये 'अनामय' शब्दका प्रयोग तो बहुत स्थानोंपर मिलता है।

जब एक योगी भी अपनी योगशक्तिके बलसे अनेक शरीर धारण कर सकता है तब महान् योगेश्वरेश्वर मायाके स्वामी लीलामय भगवान्के लिये एकसे अनेक रूपोंमें प्रकट हो जाना कौन बड़ी बात है। इसी लीलाका नाम योगमाया है। अपने अवतारजन्मको प्राकृत मनुष्योंके जन्मसे भिन्न प्रकारका सिद्ध करते हुए भगवान् कहते हैं—

> अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
> प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया॥
>
> (गीता ४।६)

'मैं अविनाशीस्वरूप अजन्मा होनेपर भी तथा समस्त भूत-प्राणियोंका ईश्वर होनेपर भी अपनी प्रकृतिको अधीन करके योग-मायासे प्रकट होता हूँ।'

यहाँ 'माया' शब्द लीलाका वाचक है, प्रकृतिका नहीं। 'प्रकृति' शब्द तो अलग आया ही है, 'माया' भी उसी अर्थमें होता तो इसका प्रयोग व्यर्थ होता। इस श्लोकमें आया हुआ 'अपि' शब्द भी इस सिद्धान्तका समर्थन करता है कि भगवान् उत्पन्न नहीं होते—उत्पन्न हुए-से प्रतीत होते हैं, अजन्मा रहनेपर

भी जन्मते हुए-से दिखायी देते हैं। वे अपनी लीलासे 'लोकदृष्टि' में मनुष्य प्रतीत होते हैं। भगवान्‌के विग्रहका यह रहस्य साधारण मनुष्योंके मन-बुद्धिसे परेकी बात है। भगवद्रूपमें स्थित परम भक्त महात्मालोग ही भगवत्कृपासे इसे जान सकते हैं।

सोइ जानइ जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई॥

(२) भगवान्‌के शरीरमें कोई भी अभिमानी नहीं होता। जब अज्ञान-दशासे ज्ञान-दशामें पहुँचे हुए एक जीवन्मुक्तका कार्य भी देहाभिमानीके बिना चल जाता है, तब श्रीभगवान्‌के दिव्य शरीरमें भिन्न अभिमानीके अध्यारोपकी क्या आवश्यकता है? उस दिव्य शरीरके द्वारा सर्वव्यापी विज्ञानानन्दघन परमात्माकी सत्तास्फूर्तिसे कार्य होते हैं। लोगोंको समझानेके लिये यह कहा जा सकता है कि शुद्ध ब्रह्मके साथ समष्टिचेतन—जो एक ही तत्त्वरूप परमात्मा है, वही अभिमानीके सदृश स्थित प्रतीत होता है। यदि यह कहा जाय कि सृष्टिकर्ता ईश्वर उसमें अभिमानी हैं तो इससे सृष्टिकर्ता ईश्वर अपने शुद्ध सच्चिदानन्दघन ब्रह्मस्वरूपसे अलग कर दिये जाते हैं। यदि कोई सज्जन यह कहें कि हम वास्तवमें तो मायाविशिष्ट ईश्वर और शुद्ध ब्रह्मको पृथक्-पृथक् नहीं मानते, केवल लोगोंको समझानेके लिये सृष्टिकर्ता समष्टिचेतन अंशमें ही अध्यारोप करके उसे औपचारिक अभिमानी मानते हैं तो इसमें कोई आपत्ति नहीं है।

(३) यह तो कहा ही जा चुका कि ईश्वर वास्तवमें उस शरीरका अभिमानी नहीं होता। विश्वका अभिमानी एकदेशीय शरीरका अभिमानी कैसे बन सकता है? यह एक साधारण-सी

बात है और विचार करते ही समझमें आ सकती है। जब सम्पूर्ण विश्वमें व्याप्त अग्निका अभिमानी देवता एक होनेपर भी (अव्यक्तरूपसे अग्निके सर्वत्र व्यापक रहते हुए भी) अनेक भिन्न-भिन्न स्थानोंमें व्यक्त प्रज्वलित मूर्ति धारण करके उसका अभिमानी-सा बन सबकी दी हुई आहुतियोंको ग्रहण कर उनके अनुसार फल देता है, तब सर्वशक्तिमान्, सर्वाश्रय, सर्वव्यापी परमात्माके लिये ऐसा करनेमें कौन-सा आश्चर्य है ? जैसे एक विशेष स्थानमें प्रज्वलित व्यक्त अग्निका अभिमानी वहाँकी आहुतियोंको ग्रहण करता हुआ भी अन्य सब जगहोंसे लुप्त नहीं हो जाता, इसी प्रकार परमात्माके एक जगह प्रकट हो जानेसे अन्य सम्पूर्ण स्थानोंमें उसका अभाव नहीं हो जाता। शास्त्रोंके अनुसार जब अग्नि, इन्द्र, वरुण आदि देवगण स्तुति-आराधनासे प्रसन्न हो एक ही साथ अनेक स्थानोंमें प्रकट होकर उपासकोंको उनके भावानुसार वर देनेकी शक्ति रखते हैं तो फिर सर्वदेवदेव भगवान्‌के ऐसा करनेमें क्या आश्चर्य है !

(४) भगवान् शरीरके अभिमानी तो नहीं हैं, परन्तु अवतार-शरीरमें उनका विशेषत्व अवश्य है, वह शरीर वास्तवमें उनकी दिव्य मूर्ति ही है। सब जगह समानभावसे सर्वशक्तिमत्ताके साथ विराजित होनेपर भी अपने अवतारमें वे विशेषरूपसे हैं। जैसे सब जगह समान-भावसे व्याप्त होनेपर भी हृदयमें भगवान्‌का विशेषरूपसे रहना माना गया है। **'सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टः'** (१५।१५) **'हृदि सर्वस्य विष्ठितम्'**(१३।१७), **'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति'** (१८।६१) आदिसे सिद्ध है। उनमें भी ज्ञानीके हृदयमें तो

उनका और भी विशेषरूपसे रहना बतलाया गया है। भगवान् कहते हैं—

> समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
> ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥
> (गीता ९। २९)

'मैं सब भूतोंमें समभावसे व्यापक हूँ, न कोई मेरा अप्रिय है और न प्रिय है; परन्तु जो भक्त मुझको प्रेमसे भजते हैं, वे मुझमें और मैं भी उनमें (प्रत्यक्ष प्रकट) हूँ।' इस प्रकार जब भक्तोंके हृदयमें भगवान्‌की विशेषता सिद्ध है तब अपने परम दिव्य व्यक्त लीला-विग्रहमें विशेषतासे होना तो प्रत्यक्ष ही सिद्ध है। भगवान् श्रीकृष्ण अपने लिये स्वयं कहते हैं—

> ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
> शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥
> (गीता १४। २७)

'हे अर्जुन! अविनाशी परब्रह्मका, अमृतका, नित्य धर्मका और अखण्ड एकरस आनन्दका मैं ही आश्रय हूँ।'

सूर्यका प्रकाश सब जगह समान होनेपर भी काठ और काँच-में प्रत्यक्ष भेद प्रतीत होता है। काठमें प्रतिबिम्ब नहीं होता, पर काँचमें होता है। काँचोंमें भी सूर्यमुखी काँचमें तो इतनी विशेषता है कि उससे रूई और कपड़े भी जल जाते हैं। सर्वत्र व्याप्त होनेपर भी संसारके पदार्थोंकी अपेक्षा हृदयमें विशेषता है। ज्ञानी या भक्तके हृदयमें उससे भी अधिक विशेषता है। अवतार-विग्रहमें

तो उन सबसे अधिक विशेषता है। वह तो उनका स्वरूप ही है, इससे उसके कार्य भी सब भगवद्रूप ही हैं।

(५) अवतारवादका वर्णन अनेक ग्रन्थोंमें है। श्रीवाल्मीकि-रामायणमें (जो जगत्‌में आदिकाव्य माना जाता है) ही अवतार-वादका स्पष्ट वर्णन है। 'कल्याण'के 'रामायणाङ्क' में प्रकाशित 'वाल्मीकीय रामायणमें अवतारवादकी सिद्धि' शीर्षक लेख ध्यान-पूर्वक पढ़ना चाहिये।

भगवान् श्रीकृष्णका प्रभाव

भगवान् श्रीकृष्ण साक्षात् पूर्ण ब्रह्मके अवतार थे या यों कहिये कि साक्षात् पूर्ण ब्रह्म ही श्रीकृष्णरूपमें प्रकट हुए हैं। उनके दिव्य गुण, प्रभाव और लीलाओंकी आश्चर्यमयी उपदेशप्रद मधुर लीलाओंसे हमारे प्राचीन ग्रन्थ भरे पड़े हैं। श्रीमद्भागवत, महाभारत, जैमिनीय अश्वमेध और अन्यान्य पुराण आदिमें भगवान्‌के प्रेम, प्रभाव और ऐश्वर्यकी अलौकिक बातें स्थान-स्थानपर प्रसिद्ध हैं। जन्मते ही चतुर्भुजरूपसे प्रकट होकर फिर छोटे बालक बन जाना, यशोदा मैयाको मुखके अंदर ब्रह्माण्ड दिखलाना, गोप-बालक और बछड़ोंकी नवीन सृष्टि करना, अक्रूरजीको मार्ग और जलके अंदर एक ही साथ दोनों जगह एक ही रूपमें दर्शन देना, कंस आदि महान् असुरोंका लीलामात्रसे विनाश कर देना, गुरु, ब्राह्मण और देवकी-जीके मृत पुत्रोंको ला देना, विविध रूपोंसे एक ही साथ सम्पूर्ण रानियोंके महलोंमें निवास करना, द्रौपदीके स्मरण करते ही

उसका चीर बढ़ा देना, दुर्वासाजीके आतिथ्यके समय संकटापन्न द्रौपदीके स्मरण करते ही अचानक वहाँ प्रकट हो जाना, कौरवोंकी सभामें विराट् रूप दिखाना, प्रिय भक्त अर्जुनको भक्ति और ज्ञानका रहस्य समझाते हुए उसे विश्वरूप और चतुर्भुजरूपसे दर्शन देना, अर्जुनकी रक्षाके लिये जयद्रथवधके समय सूर्यका अस्त दिखाकर फिर सूर्यको प्रकट कर देना, युद्धके अन्तमें अर्जुनको पहले रथसे नीचे उतारकर फिर स्वयं उतरते ही रथका जलकर भस्म होते दिखलाना और यह कहना कि यह रथ तो भीष्म, द्रोणादिके बाणोंसे पहले ही दग्ध हो चुका था, परन्तु मैंने अपने संकल्पसे इसे टिका रक्खा था, शरशय्यापर पड़े हुए भीष्मकी सारी पीड़ाओंको हरकर उन्हें अतुल बल, तेज और ज्ञान प्रदान करना, ऋषि उत्तङ्कको अपना अलौकिक प्रभाव और ऐश्वर्ययुक्त रूप दिखलाना, मृत परीक्षित्को जीवित करना, अश्वमेध-यज्ञके समय पाण्डवोंके स्मरण करते ही द्वारकासे अचानक रातके समय आ जाना, सुधन्वासे लड़ते हुए अर्जुनके द्वारा याद करनेपर तुरंत उपस्थित होकर रथकी लगाम हाथमें ले लेना और शरीरसहित ही परमधाम पधारना आदि अनेकों अद्भुत कर्मोंकी कथाओंके पढ़नेसे यह स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि ऐसे कर्म मनुष्यके लिये तो असम्भव हैं ही, देवताओंकी शक्तिसे भी अतीत हैं। इस छोटे-से लेखमें अति संक्षेपके साथ भगवान्के कुछ अद्भुत कर्मोंका दिग्दर्शन कराया जाता है।

भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी प्रेम और आनन्दकी तो मूर्ति ही थे। उनका अवतार प्रेम और धर्मके संस्थापन और प्रचारके लिये

ही हुआ था। भगवान्‌ने विशुद्ध प्रेमका जो विशाल प्रवाह बहा दिया उसे एक बार समझ लेनेपर ऐसा कौन है जिसका हृदय द्रवित और आनन्दसे पुलकित न हो जाय। परन्तु उनकी प्रेममयी लीला और उनके गहन प्रेमके तत्त्वका ज्ञान उनके अनुग्रहसे ही हो सकता है। श्रीमद्भागवत आदि पुराणोंमें गोपियोंके साथ भगवान्‌के प्रेमके व्यवहारका जो वर्णन आता है उसे पढ़नेपर मनुष्यके हृदयमें अनेक प्रकारकी शङ्काएँ उत्पन्न होती हैं। अक्षरोंके अर्थसे तो उस प्रेममें विषयविकार ही टपकता है, परन्तु यह प्रसङ्ग विचारणीय है। यदि गोपियोंके साथ भगवान्‌का विषयजन्य अनुचित प्रेम होता तो उद्धव-सरीखे महात्मा और गौराङ्गमहाप्रभु-सदृश त्यागी भक्त और संतजन उसकी कभी प्रशंसा नहीं करते। गोपियोंका प्रेम मूर्खतापूर्ण नहीं था, वे श्रीकृष्णको साक्षात् भगवान् समझती थीं। स्वयं गोपियोंके वाक्य हैं—

न खलु गोपिकानन्दनो भवानखिलदेहिनामन्तरात्मदृक्।
विखनसार्थितो विश्वगुप्तये सख उदेयिवान् सात्वतां कुले॥

(श्रीमद्भा० १०।३१।४)

'हे सखे! ब्रह्माकी प्रार्थनापर आपने विश्वके पालनके लिये सात्वत (यदु) कुलमें अवतार लिया है। आप केवल यशोदाके ही पुत्र नहीं हैं, वास्तवमें आप समस्त प्राणियोंके अन्तरात्माके साक्षी हैं।' इससे सिद्ध होता है कि उनका प्रेम विशुद्ध और ज्ञानपूर्ण था। उनके प्रेमकी सभी संत पुरुषोंने सराहना की है। इतना ही नहीं, स्वयं भगवान्‌ने भी उनके प्रेमकी महिमा गायी है और अर्जुनसे कहा है कि—

निजाङ्गमपि या गोप्यो ममेति समुपासते।
ताभ्यः परं न मे पार्थ निगूढप्रेमभाजनम् ॥

'हे पार्थ ! जो गोपियाँ अपने शरीरको मेरा (कृष्णका) है, ऐसा समझकर ही सँभाल रखती हैं उन्हें छोड़कर मेरे निगूढ प्रेमका पात्र और कोई नहीं है।'

इसके अतिरिक्त भगवान् स्वयं ज्ञानस्वरूप हैं, उनमें तो विषय-विकारकी आशंका ही नहीं की जा सकती । कोई यह पूछे कि फिर भागवत आदि पुराणोंमें वैषयिक प्रसंगोंका क्या अर्थ है । मेरी साधारण बुद्धिके अनुसार तो इसका यही उत्तर है कि उन शब्दोंका मतलब समझनेकी कुछ भी आवश्यकता नहीं है। इतिहास, स्मृति, पुराण आदि ग्रन्थोंमें जहाँ कहीं भी ईश्वरपर झूठ, कपट, व्यभिचार आदि दोषोंका आरोप प्रतीत हो और मद्य, मांस आदिके सेवन तथा असत्य, दम्भ, व्यभिचार आदि दोषोंका विधान मिले, उन पंक्तियोंको छोड़कर ही शेष सदुपदेशको ग्रहण करना और तदनुसार आचरण करना चाहिये ।

संसार परिवर्तनशील है । देश, काल, वस्तु आदिका प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता है। पुरानी घटनाओंमें समयका बहुत व्यवधान पड़ जानेके कारण समयके परिवर्तनसे शास्त्रोंके वर्णनकी सारी बातोंका पूरा मतलब ठीक-ठीक समझमें नहीं आता। इसके सिवा दीर्घकालतक देशपर विधर्मियोंका आधिपत्य रहनेके कारण हमारे शास्त्रोंमें धर्मके विपरीत झूठ, कपट, चोरी आदि कुभाव घुसेड़ दिये गये हों तो भी कोई आश्चर्य नहीं है। अतएव पुराणोंकी

सभी बातोंको अक्षरशः समझाने और उनकी पूर्वापर पूरी श्रृङ्खला बैठाकर उन्हें मिथ्या या सत्य सिद्ध करनेका दायित्व हम साधारण लोगोंको अपने ऊपर नहीं लेना चाहिये। क्योंकि हमलोग सर्वज्ञ नहीं हैं। इसके सिवा भगवान् संसारमें अवतार ग्रहण करके जो लीला करते हैं, उनमें कहीं शास्त्रकी मर्यादाके विपरीत दोषका आभास दिखलायी दे तो इस विषयमें मनमें यही निश्चय रखना चाहिये कि भगवान्में कोई दोष कभी हो नहीं सकता। भगवान् और उनके कर्म सर्वथा दिव्य हैं। साथ ही पुराण-इतिहास आदिको भी असत्य नहीं कहा जा सकता।

भगवान्के लीलामय दिव्य जन्म-कर्मका रहस्य सम्पूर्णरूपसे तो देवता और महर्षियोंकी भी समझमें नहीं आ सकता। भगवान्ने स्वयं ही कहा है—

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः॥
(गीता १०।२)

'मेरी उत्पत्तिको अर्थात् विभूतिसहित लीलासे प्रकट होनेको न देवतालोग जानते हैं और न महर्षिगण ही जानते है; क्योंकि मैं सब प्रकारसे देवताओं और महर्षियोंका भी आदिकारण हूँ।' यद्यपि इतिहास-पुराण आदि शास्त्रोंके रचयिता ऋषि, तत्त्वको जाननेवाले सिद्ध महापुरुष और योगी थे तथापि वे भी भगवान् श्रीराम और श्रीकृष्णकी लीला और उनके प्रभावको सम्पूर्णरूपसे वर्णन करनेमें असमर्थ थे। फिर भी उन महात्माओंने कृपा-परवश हो जो कुछ लिखा है सो सत्य ही है, अल्पबुद्धि होनेके कारण हमलोग उनके

भावोंको ठीक-ठीक समझ नहीं सकते और अपनी अल्पज्ञताका दोष उन महात्माओंके मत्थे मढ़ते हैं।

महाभारत आदिसे यह स्पष्ट सिद्ध है कि अवताररूपमें प्रकट हुए भगवान्‌को सब ऋषिगण नहीं पहचान सकते थे। उनमेंसे कोई-कोई तत्त्ववेत्ता महात्मा महर्षि ही भगवान्‌की कृपासे उनको जानते थे —

तुम्हरिहि कृपाँ तुम्हहि रघुनंदन। जानहिं भगत भगत उर चंदन॥

क्योंकि भगवान् जिस शरीरमें जन्म ग्रहण करते हैं उसी शरीरके समान सब चेष्टा करते हैं। जब भगवान् मनुष्य-शरीरमें अवतीर्ण होते हैं तब मनुष्यके अनुसार चेष्टा करते हैं। उस समय उनके मनुष्योचित कर्मोंको देखकर मुनिगणोंको भी भ्रम हो जाता है, फिर मनुष्योंकी तो बात ही क्या है? श्रीवसिष्ठजीने कहा है—

देखि देखि आचरन तुम्हारा। होत मोह मम हृदयँ अपारा॥

महाभारतके अश्वमेधपर्वके ३वें अध्यायमें कथा है कि कौरव-पाण्डवोंके युद्धकी समाप्तिके बाद युधिष्ठिर महाराजसे आज्ञा लेकर भगवान् श्रीकृष्ण हस्तिनापुरसे जा रहे थे। मार्गमें मरुस्थलमें निवास करनेवाले गुरु-भक्त तपस्वी ऋषि उत्तङ्कसे उनकी भेंट हुई। पाँच पाण्डवोंके सिवा अन्य सारे कौरवोंके विनाशकी बात भगवान् श्रीकृष्णके मुखसे सुनकर ऋषि उत्तङ्कको बड़ा क्रोध आ गया और वे उनसे बोले कि 'आपने सब प्रकारसे शक्तिसम्पन्न होनेपर भी युद्ध-का निवारण नहीं किया, इसलिये मैं आपको शाप दूँगा।' भगवान् बड़े दयालु थे, उन्होंने मुनिको शाप देनेसे रोककर कहा कि, 'हे

तपस्विश्रेष्ठ ! तुमने अपने गुरुको सेवा करके प्रसन्न किया है जिससे तुम्हारे तपका बड़ा तेज है, मैं उस तपका नाश कराना नहीं चाहता, मुझपर तुम्हारे शापका कोई असर नहीं होगा, शाप देनेसे तुम्हारे तपका नाश हो जायगा। इसलिये तुम मेरे अध्यात्म-विषयक आत्मतत्त्व और प्रभावकी बातें सुनो।' तदनन्तर ५४ वें अध्यायमें ऋषि उत्तङ्कके पूछनेपर भगवान्‌ने अपने अवतार लेनेका कारण तथा प्रभाव और स्वरूपका वर्णन किया—

बह्वीः संसरमाणो वै योनीर्वर्त्तामि सत्तम।
धर्मसंरक्षणार्थाय धर्मसंस्थापनाय च ॥१३॥
तैस्तैर्वेषैश्च रूपैश्च त्रिषु लोकेषु भार्गव।
अहं विष्णुरहं ब्रह्मा शक्रोऽथ प्रभवाप्ययः ॥१४॥
भूतग्रामस्य सर्वस्य स्रष्टा संहार एव च।
अधर्मे वर्तमानानां सर्वेषामहमच्युतः ॥१५॥
धर्मस्य सेतुं बध्नामि चलिते चलिते युगे।
तास्ता योनीः प्रविश्याहं प्रजानां हितकाम्यया ।१६॥

'हे द्विजवर, भार्गव ! मैं धर्मकी रक्षा और स्थापना करनेके लिये बहुत-सी योनियोंमें उन योनियोंके वेष और रूपोंसे युक्त हुआ तीनों लोकोंमें अवतार धारण करता हूँ। मैं ही विष्णु, ब्रह्मा और इन्द्र हूँ। मैं ही उत्पत्ति और प्रलयरूप हूँ तथा सकल भूत-समुदायका रचनेवाला और संहार करनेवाला भी मैं ही हूँ। मैं अच्युत परमात्मा परिवर्तनशील युगोंमें प्रजाके हितकी कामनासे भिन्न-

भिन्न योनियोंमें प्रवेश करके अधर्ममें बर्तनेवाले समस्त प्राणियोंके लिये धर्मकी मर्यादाको दृढ़ करता हूँ।'

यदा त्वहं देवयोनौ वर्त्तामि भृगुनन्दन।
तदाहं देववत्सर्वमाचरामि न संशयः ॥१७॥

'हे भृगुनन्दन! जब मैं देवयोनिमें प्रकट होता हूँ तब निःसन्देह देवताओंके समान ही समस्त आचरण करता हूँ।'

यदा गन्धर्वयोनौ वा वर्त्तामि भृगुनन्दन।
तदा गन्धर्ववत्सर्वमाचरामि न संशयः ॥१८॥

'हे भार्गव! जब मैं गन्धर्वयोनिमें प्रकट होता हूँ तब निःसन्देह गन्धर्वोंके समान ही समस्त आचरण करता हूँ।'

नागयोनौ यदा चैव तदा वर्त्तामि नागवत्।
यक्षराक्षसयोन्योस्तु यथावद्विचराम्यहम् ॥१९॥

'जब मैं नागयोनिमें उत्पन्न होता हूँ तो नागों-जैसा बर्ताव करता हूँ और जब यक्ष-राक्षसोंकी योनियोंमें उत्पन्न होता हूँ तो उन्हींके अनुरूप आचरण करता हूँ।'

मानुष्ये वर्तमाने तु कृपणं याचिता मया।
न च ते जातसम्मोहा वचोऽगृह्णन्त मोहिताः ॥२०॥

'इस समय मनुष्ययोनिमें उत्पन्न होकर मनुष्य-जैसा आचरण करते हुए मैंने दीनतापूर्वक उन लोगोंसे प्रार्थना की, परन्तु वे मोहसे अन्धे हो रहे थे, अतः उन मूर्खोंने मेरा कहना न माना।'

इस प्रकार भगवान्‌के प्रभाव और स्वरूपकी बात सुनकर ऋषिको भगवान् श्रीकृष्णके साक्षात् परमात्मा होनेका पूर्ण विश्वास हो गया और ऋषिने विनीतभावसे भगवान्‌से विश्वरूप-दर्शन करानेके लिये प्रार्थना की। ऋषिकी प्रार्थनापर भगवान्‌ने अनुग्रह करके उन्हें अपना विश्वरूप दिखलाया, जिसे देखकर उत्तङ्क ऋषि भगवान्‌की स्तुति करने लगे। तदनन्तर ऋषिको वरदान देकर भगवान् द्वारिकापुरीको पधार गये।

ऋषि उत्तङ्कके इस दृष्टान्तसे यह सिद्ध होता है कि भगवान्‌की कृपा बिना यज्ञ, दान, तप और गुरु-सेवन आदि करनेवाले तपस्वी ऋषि भी भगवान्‌के अवतार-विग्रहको पहचान नहीं सकते। भगवान् दया करके जिसको अपना परिचय देते हैं वे ही उन्हें पहचान सकते हैं और फिर उनकी कृपासे तद्रूप हो जाते हैं।

सोइ जानइ जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई॥

जबतक भगवान् स्वयं दया करके अपनेको नहीं जनाते, तबतक दूसरेके द्वारा जनाये जानेपर भी भगवान्‌को नहीं जाना जा सकता। संजयके बहुत कुछ समझाने और प्रभाव बतलानेपर भी धृतराष्ट्रने भगवान्‌को नहीं जाना। महाभारत-उद्योगपर्वके ६८ वें अध्यायमें कथा है—संजय दूत बनकर पाण्डवोंके पास जाते हैं और वहाँसे लौटकर भगवान् वेदव्यासजीकी आज्ञासे भगवान् श्रीकृष्णके प्रभाव और ईश्वर-सम्बन्धी तत्त्वका वर्णन करते हैं—

यतः सत्यं यतो धर्मो यतो ह्रीरार्जवं यतः।
ततो भवति गोविन्दो यतः कृष्णस्ततो जयः॥ ९॥

'जहाँ सत्य है, जहाँ धर्म है, जहाँ लज्जा है, जहाँ सरलता है वहीं कृष्ण हैं और जहाँ कृष्ण हैं वहीं जय है।'

पृथिवीं चान्तरिक्षं च दिवं च पुरुषोत्तमः।
विचेष्टयति भूतात्मा क्रीडन्निव जनार्दनः॥१०॥

'सब प्राणियोंके आत्मस्वरूप पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण खेल करते हुए-से पृथ्वी, अन्तरिक्ष और देवलोकको चेष्टायुक्त कर रहे हैं।'

स कृत्वा पाण्डवान् सत्रं लोकं सम्मोहयन्निव।
अधर्मनिरतान्मूढान्दग्धुमिच्छति ते सुतान्॥११॥

'वे ही भगवान्, लोगोंको मोहित करते हुए-से पाण्डवोंको निमित्त बनाकर अधर्मनिरत तुम्हारे मूर्ख पुत्रोंको भस्म करना चाहते हैं।'

कालचक्रं जगच्चक्रं युगचक्रं च केशवः।
आत्मयोगेन भगवान् परिवर्तयतेऽनिशम्॥१२॥

'भगवान् केशव कालचक्र, जगच्चक्र और युगचक्रको अपनी योगशक्तिसे निरन्तर घुमाते हैं।'

कालस्य च हि मृत्योश्च जङ्गमस्थावरस्य च।
ईशते भगवानेकः सत्यमेतद्ब्रवीमि ते॥१३॥

'मैं आपसे यह सत्य कहता हूँ कि वे भगवान् श्रीकृष्ण अकेले ही काल, मृत्यु और चराचर समस्त जगत्का शासन करते हैं।'

ईशन्नपि महायोगी सर्वस्य जगतो हरिः।
कर्माण्यारभते कर्तुं कीनाश इव वर्धनः॥१४॥

'महायोगी श्रीकृष्ण सम्पूर्ण जगत्का शासन करते हुए ही धन-धान्यादिकी वृद्धि करनेवाले किसानकी तरह कर्मोंका आरम्भ करते हैं।'

तेन वञ्चयते लोकान्मायायोगेन केशवः।
ये तमेव प्रपद्यन्ते ते न मुह्यन्ति मानवाः ॥१५॥

'भगवान् केशव उस अपनी योगमायासे मनुष्योंको ठगते हैं। जो मनुष्य केवल उसीकी शरणमें चले जाते हैं, वे मायासे मोहित नहीं होते।'

यह सुनकर धृतराष्ट्र संजयसे पूछते हैं कि 'माधव श्रीकृष्ण सब लोकोंके महान् ईश्वर हैं, इस बातको तू कैसे जानता है और मैं उन्हें क्यों नहीं जानता।' संजय कहते हैं, 'हे राजन्! जिनका ज्ञान अज्ञानके द्वारा ढँका हुआ है, वे भगवान् श्रीकृष्णको नहीं जान सकते। आपमें वह ज्ञान नहीं है, इसलिये आप नहीं जानते, मैं जानता हूँ।' तदनन्तर उद्योगपर्वके ७०वें अध्यायमें फिर धृतराष्ट्रने संजयसे पूछा कि 'हे संजय! श्रीकृष्णके विषयमें मैं तुमसे पूछता हूँ। तू मुझे कमलनयन श्रीकृष्णकी कथा सुना जिससे मैं श्रीकृष्णके नाम और चरित्रोंको जानकर पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णको प्राप्त होऊँ।' इसके बाद संजयने श्रीकृष्णके नाम, गुण और प्रभावका अनेक श्लोकोंमें वर्णन किया तो भी धृतराष्ट्र भगवान् श्रीकृष्णको भलीभाँति नहीं पहचान सके। इससे यह बात सिद्ध होती है कि जिसपर भगवान्की दया होती है, वही भगवान्को पहचान सकता है।

भगवान्की प्रत्येक क्रियामें विलक्षण भाव भरा है। वे सर्व-शक्तिसम्पन्न, बुद्धिके सागर और बड़े ही कुशल थे। उनकी कोई

भी क्रिया या उनका एक भी संकल्प कभी निष्फल नहीं होता था। कहीं उनकी कोई चेष्टा निष्फल हुई है तो वह उनकी इच्छासे ही हुई है। उस निष्फलतामें बड़ा रहस्य भरा रहता है। भगवान् जब पाण्डवोंके दूत बनकर हस्तिनापुर गये और उनके सन्धिरूप कार्यकी सिद्धि नहीं हुई, इसमें यही कारण है कि उनकी सन्धि करानेकी इच्छा ही नहीं थी। यह बात दूत बनकर जाते समय द्रौपदीके साथ उनकी जो बातचीत हुई है, उससे स्पष्ट सिद्ध है। द्रौपदी उस समय अनेक विलाप करती हुई भगवान्से प्रार्थना करती है—

सुता द्रुपदराजस्य वेदिमध्यात् समुत्थिता।
धृष्टद्युम्नस्य भगिनी तव कृष्ण प्रिया सखी॥
आजमीढकुलं प्राप्ता स्नुषा पाण्डोर्महात्मनः।
महिषी पाण्डुपुत्राणां पञ्चेन्द्रसमवर्चसाम्॥
सुता मे पञ्चभिर्वीरैः पञ्च जाता महारथाः।
अभिमन्युर्यथा कृष्ण तथा ते तव धर्मतः॥
साहं केशग्रहं प्राप्ता परिक्लिष्टा सभां गता।
पश्यतां पाण्डुपुत्राणां त्वयि जीवति केशव॥

(महा० उद्योग० ८२। २१-२४)

'हे कृष्ण! यज्ञवेदीसे उत्पन्न हुई राजा द्रुपदकी पुत्री, धृष्टद्युम्नकी बहिन, आपकी प्यारी सखी, आजमीढ-कुलमें ब्याही गयी महात्मा पाण्डुकी पुत्रवधू, इन्द्रके समान तेजस्वी पाँच पाण्डुपुत्रोंकी महारानी, उन पाँच वीरोंसे उत्पन्न पाँच महारथी पुत्र जो कि धर्मके नाते अभिमन्युके समान ही आपको प्रिय हैं, उनकी माता ऐसी

मैं पाण्डुपुत्रोंके देखते हुए और हे केशव ! आपके जीवित रहते हुए केश पकड़कर सभामें लायी गयी और दुःखित की गयी थी ।'

जीवत्सु पाण्डुपुत्रेषु पाञ्चालेष्वथ वृष्णिषु ।
दासीभूतास्मि पापानां सभामध्ये व्यवस्थिता ॥२५॥

'पाण्डुपुत्रोंके, पाञ्चालोंके और वृष्णियोंके जीवित रहते हुए भी पापियोंकी सभामें लायी जाकर, मैं दासी बना ली गयी थी ।'

निरमर्षेष्वचेष्टेषु प्रेक्षमाणेषु पाण्डुषु ।
पाहि मामितिगोविन्द मनसा चिन्तितोऽसि मे ॥२६॥

'यह सब देखते हुए भी पाण्डव जब क्रोधरहित और निश्चेष्ट ही बने रहे तब 'हे गोविन्द ! मेरी रक्षा करो' ऐसा मैंने मनसे चिन्तन किया था ।'

अयं ते पुण्डरीकाक्ष दुःशासनकरोद्धृतः ।
स्मर्तव्यः सर्वकार्येषु परेषां सन्धिमिच्छता ॥३६॥

'हे पुण्डरीकाक्ष ! शत्रुओंके साथ सन्धि करते समय सब कामोंमें यह दुःशासनके हाथसे खींची हुई मेरी वेणी आपको याद रखनी चाहिये ।'

दुःशासनभुजं श्यामं संच्छिन्नं पांशुगुण्ठितम् ।
यद्यहं तु न पश्यामि का शान्तिर्हृदयस्य मे ॥३९॥

'यदि मैं दुःशासनकी श्याम भुजाको कटकर धूलिमें सनी हुई नहीं देखूँगी तो मेरे हृदयको कैसे शान्ति मिलेगी ।'

इत्युक्त्वा बाष्परुद्धेन कण्ठेनायतलोचना।
रुरोद कृष्णा सोत्कम्पं सस्वरं बाष्पगद्गदम् ॥४२॥

'शोकावरुद्ध कण्ठसे इस प्रकार विलाप करके विशालनेत्रा द्रौपदी, काँपती हुई गद्गद होकर उच्चस्वरसे रोने लगी।'

द्रौपदीके वचन सुनकर भगवान् दया करके कौरवोंको नष्ट करनेकी घोर प्रतिज्ञा करते हुए कहते हैं—

चलेद्धि हिमवाञ् शैलो मेदिनी शतधा फलेत्।
द्यौः पतेच्च सनक्षत्रा न मे मोघं वचो भवेत् ॥४८॥

'भले ही हिमालय पर्वत विचलित हो जाय, पृथ्वीके सैकड़ों टुकड़े हो जायँ, तारोंके सहित स्वर्ग गिर पड़े, पर मेरे वचन व्यर्थ नहीं हो सकते।'

सत्यं ते प्रतिजानामि कृष्णे बाष्पो निगृह्यताम्।
हतामित्राञ् श्रिया युक्तानचिराद् द्रक्ष्यसे पतीन् ॥४९॥

'हे द्रौपदी! अश्रुओंको रोको, मैं तुम्हारेसे सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ कि तू अपने पतियोंको शीघ्र ही राज्यश्रीसे युक्त और निहत-शत्रु अर्थात् जिनके शत्रु मर चुके हैं ऐसे देखेगी।'

इससे सिद्ध है कि भगवान्को युद्ध अवश्यमेव कराना था, केवल संसारकी मर्यादा रखनेके लिये तथा अपने प्यारे पाण्डवोंका कलङ्क दूर करनेके लिये ही उनका हस्तिनापुर जाकर सन्धिके लिये चेष्टा करना समझा जाता है।

युद्धमें अस्त्र-ग्रहण न करनेकी प्रतिज्ञा करके प्रिय भक्त भीष्म-

के लिये चक्र ग्रहण करनेमें भी उनकी इच्छा ही कारण है। भीष्मपर्वका यह प्रसङ्ग देखनेसे मालूम होता है कि यह बड़े ही रहस्य और वीर-रससे भरी हुई प्रेममयी लीला है। भीष्मपितामह बड़े ही भक्त और श्रद्धालु थे। उनकी प्रसन्नताके लिये ही भगवान्‌ने यह विचित्र क्रिया की। वास्तवमें भगवान्‌की सम्पूर्ण क्रियाएँ निर्दोष और दिव्य हैं। उनकी दिव्यताका जानना साधारण बात नहीं है।

भगवान्‌के अनन्त दिव्य गुणोंकी महिमा कौन गा सकता है? संसारमें क्षमा, दया, शान्ति आदि जितने गुण दीखते हैं, तेज, ऐश्वर्य आदि जितनी विभूतियाँ प्रतीत होती हैं, शक्ति और प्रताप आदि जितने उच्च भाव हैं, उन सबको भगवान् श्रीकृष्णके तेजके एक अंशका ही विस्तार समझना चाहिये। भगवान् स्वयं कहते हैं—

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्॥
अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥

(गीता १०। ४१-४२)

'जो-जो भी विभूतियुक्त अर्थात् ऐश्वर्ययुक्त एवं कान्तियुक्त और शक्तियुक्त वस्तु है, उस-उसको तू मेरे तेजके अंशसे ही उत्पन्न हुई जान। अथवा हे अर्जुन! इस बहुत जाननेसे तेरा क्या प्रयोजन है, मैं इस सम्पूर्ण जगत्‌को (अपनी योगमायाके) एक अंशमात्रसे धारण करके स्थित हूँ।'

ईश्वर दयालु और न्यायकारी है

सच्चिदानन्दघन अखिल विश्वेश्वर परमदयालु परमेश्वरकी सत्ताको स्वीकार करनेवाले प्रायः सभी मतोंके लोग इस बातको स्वीकार करते हैं कि ईश्वर दयालु और न्यायकारी है। ईश्वरमें केवल दयालुता या केवल न्यायकारिताका एकाङ्गी भाव नहीं है, उसमें ये दोनों ही गुण एक ही समय, एक ही साथ पूर्णरूपसे रहते हैं और वे जीवोंके प्रति व्यवहार करनेमें दोनों ही भावोंसे एक ही साथ काम लेते हैं। इसपर कुछ लोग ऐसी शंका किया करते हैं कि 'न्याय और दया दोनों गुण एक साथ कैसे रह सकते हैं? अदालतमें न्यायासनपर बैठा हुआ जज यदि दयाके वश होकर दण्डके योग्य वास्तविक अपराधी व्यक्तिको बिल्कुल दण्ड न दे या उचितसे कम दे, तो क्या उसके न्यायमें कोई बाधा नहीं आती? अथवा यदि वह अपराधीको पूरा दण्ड दे दे तो उसकी दया वहाँ क्या बिल्कुल बेकार नहीं रह जाती? इसी प्रकार ईश्वरके लिये भी क्यों नहीं समझना चाहिये?'

इस शंकाका उत्तर देना सहज काम नहीं है। परमात्माके गुणोंका विवेचन करना और उनपर टीका-टिप्पणी करना मुझ-जैसे मनुष्यके लिये तो निरा लड़कपन ही है, परंतु अपने चित्त-विनोदार्थ परमात्माके गुणगानकी भावनासे यत्किंचित् प्रयत्न किया जाता है। वास्तवमें मनुष्यकृत कानूनके साथ ईश्वरके कानूनकी समता कदापि नहीं की जा सकती। मनुष्य यदि स्वार्थसे कानून नहीं बनाता तो उसपर वातावरण और परिस्थितिका प्रभाव तो जरूर ही पड़ता है।

भविष्यके विवेचनमें भी वह सर्वथा निर्मूल नहीं समझा जा सकता, आसक्ति या अन्य किसी कारणवश उसमें अन्यान्य प्रकारसे भी भूलके लिये गुंजाइश रह सकती है, परंतु ईश्वरमें भूलके लिये तनिक भी गुंजाइश नहीं है। इसके सिवा ईश्वर दया, न्याय और उदारताकी अनन्त निधि होनेके कारण उसके कानूनमें भी दया, न्याय और उदारताकी बाहुल्यता रहती है। सच्ची बात तो यह है कि जगत्को सत्य समझनेवाला मनुष्य स्वार्थहीन न होनेके कारण न्याय, दया और उदारतासे भरे कानून बना ही नहीं सकता। सब प्रकारसे स्वार्थरहित, सबके सुहृद्, दयाके समुद्र महापुरुष, जिनके सुहृदता, दया, प्रेम, वात्सल्यता आदि गुणोंका थाह ही नहीं मिलता, भले ही वैसे नियम बना सकें, साधारण मनुष्योंका तो यह काम नहीं है। अतएव यद्यपि मानवी कानूनके साथ ईश्वरीय कानूनकी तुलना तो हो ही नहीं सकती, तथापि विचार करनेपर मनुष्यमें भी दया और न्याय दोनोंका एक साथ रहना सिद्ध हो सकता है। इसके लिये कुछ कल्पित उदाहरण दिये जाते हैं।

रामलाल नामक एक व्यापारीके दो हजार रुपये नारायणप्रसाद नामक कायस्थमें लेने थे। नारायणप्रसाद सच्चा और ईमानदार आदमी था, परंतु कई तरहकी आपत्तियाँ आ जानेके कारण उसका सारा रोजगार नष्ट हो गया, घरकी सारी सम्पत्ति, यहाँतक कि पत्नीके सुहागके गहने भी बिक गये और वह चालीस रुपये मासिकपर एक जगह नौकरी करने लगा। इतनी कम आमदनीमें बहुत ही मुश्किलसे उसके बड़े कुटुम्बके पेटमें अनाज पहुँचता था, परंतु चारों ओर

फैली हुई बेकारीमें अधिककी कहीं गुंजाइश ही नहीं थी। रामलालने रुपयोंके लिये तकाजा शुरू किया, परंतु नारायणप्रसाद किसी तरह रुपये नहीं दे सका। रामलालने अदालतमें नालिश कर दी। जिस जजके सामने मुकद्दमा था, वह बड़ा ही नेक, कानूनका जानकार, न्यायकारी और दयालु था। नारायणप्रसादने जजकी सेवामें उपस्थित होकर कहा कि 'हुजूर ! मुझे सेठ रामलालके दो हजार रुपये जरूर देने हैं और मैं मरते दमतक उन्हें दूँगा, परंतु इस समय मेरी बड़ी ही तंग हालत है, मेरे घरमें एक पैसा भी नहीं है, न कोई मिल्कियत ही है, आप भलीभाँति जाँच कर लें। मैं चालीस रुपये महीनेपर एक जगह नौकर हूँ, घरमें लड़के-बच्चे मिलाकर सब आठ प्राणी हैं, उनकी गुजर बड़ी कठिनतासे होती है तथापि मैं किसी तरह कष्ट सहकर भी दो सौ रुपये सालाना किस्तके हिसाबसे रामलालजीको दूँगा। इतनेपर भी रामलालजी मुझे बाध्य करेंगे और आप जेल भेजेंगे तो मैं जेल चला जाऊँगा, पर इंसॉल्वेंट (दीवालिया) नहीं होऊँगा, पर इस हालतमें मेरे बाल-बच्चोंपर आफतका पहाड़ टूट पड़ेगा। हुजूरको जैसा अच्छा लगे वैसा ही करें।'

नारायणप्रसादकी सच्ची बातें सुनकर जज प्रसन्न हो गया, उसने कहा कि 'भाई ! तुम अपने महाजनको समझा-बुझाकर ठीक कर लो, तुम्हारी ऐसी हालतपर उसे जरूर तुम्हारी शर्त मान लेनी चाहिये।' नारायणप्रसादने रामलालको बहुत समझाया, बहुत विनय-प्रार्थना की, परंतु रामलालने कहा कि 'मैं किसी तरह नहीं मानूँगा।' अदालतमें मामला पेश हुआ। रामलालके

दो हजार रुपये नारायणप्रसादको देने हैं, यह साबित हो गया। जजने जाँच करके इस बातका पता लगा लिया कि नारायणप्रसादने अपनी जो हालत बतलायी थी सो अक्षरशः सत्य है, स्वयं रामलालने भी इस बातको मंजूर किया। इसपर रामलालके मने करनेपर भी जजने नारायणप्रसादके कथनानुसार २००) सालानाकी किश्त करके उसपर दो हजारकी डिग्री दे दी। जजकी दयालुता देखकर नारायणप्रसाद विह्वल हो गया। क्या इस फैसलेमें जज अन्यायी समझा जायगा? क्या उसका यह काम रिश्वतखोरीका माना जायगा, अथवा क्या इसमें दयालुता नहीं मानी जायगी? इसमें दया और न्याय—दोनों ही हैं। जब यहाँके कानूनमें ऐसा होता है, तब श्रीभगवान् अपने भक्तको उसके इच्छानुसार फैसला दे दें तो क्या इसमें उनकी दयालुता या न्यायमें कोई दोष आता है?

अब फौजदारीके दो उदाहरण देखिये—

गोविन्दराम और रामप्रसाद एक ही मुहल्लेमें रहते थे, वे आपसमें सदा ही तर्क-वितर्क किया करते। तर्कमें लड़ाईका डर रहता ही है। एक दिन परस्पर शास्त्रार्थमें रामप्रसादको अपने विपरीत सिद्धान्त सुनकर गुस्सा आ गया। क्रोधमें मनुष्यकी बुद्धि मारी जाती है। अतः उसने दो-चार हाथ जोरसे गोविन्दरामपर जमा दिये। गोविन्दरामने उसपर फौजदारी दावा कर दिया। रामप्रसादको इस बातका पता लगते ही उसने मैजिस्ट्रेटकी सेवामें जाकर सारी बातें सच-सच कह दीं। उसने कहा कि 'हमलोग धर्मके सम्बन्धमें आपसमें विवाद कर रहे थे, गोविन्दरामने मुझे न्याययुक्त ही फटकारा था।

परन्तु अपने मनके बहुत विपरीत होनेसे मुझे गुस्सा आ ही गया, जिससे मेरेद्वारा यह अपराध बन गया । जो कुछ दोष है सो वास्तवमें मेरा ही है, मुझे अपनी करनीपर बड़ा ही पश्चात्ताप है, अब आप जो कुछ आज्ञा करें वही करनेको मैं तैयार हूँ ।' मैजिस्ट्रेटने कहा कि 'भाई! मैं इसमें कुछ भी नहीं कर सकता, तुम गोविन्दरामके पास जाकर उससे क्षमा-प्रार्थना करो, वह चाहे तो तुम्हें क्षमा कर सकता है, तुम्हारे लिये यही सबसे सरल उपाय है ।' मैजिस्ट्रेटकी बात सुनकर रामप्रसाद गोविन्दरामके घर गया और उसके चरणोंमें पड़कर अपना दोष स्वीकार करते हुए क्षमा-प्रार्थना की और कहा कि 'अब मैं आपकी चरण-शरण आ पड़ा हूँ, मैं जरूर अपराधी हूँ, पर मुझे छोड़ना पड़ेगा ।' उसकी अनुनय-विनय सुनकर और उसके हृदयमें सच्चा पश्चात्ताप देखकर गोविन्दराम राजी हो गया और उसने मुकदमा उठानेकी दरखास्त दे दी । मैजिस्ट्रेटने दरखास्त मंजूर करके रामप्रसादको बेदाग छोड़ दिया । क्या इसमें कोई भी मनुष्य यह कह सकता है कि गोविन्दराम या मैजिस्ट्रेटने कोई अन्याय किया या उन्होंने दया नहीं की? एक समय भक्त अम्बरीषका अपराध करनेपर दुर्वासा मुनिको भगवान् श्रीविष्णुने भी उसीकी शरणमें भेजा था; वहाँ जानेपर अम्बरीषने चक्रसे विनय करके उनके प्राण बचा दिये थे! दया और न्याय—दोनों ही क्रियाएँ साथ-साथ सम्पन्न हुईं ।

शिवराम नामक एक भले स्वभावका सदाचारी मनुष्य एक गाँवमें रहता था, उसी गाँवमें एक डाकूका घर था । शिवराम कभी-कभी उससे डकैतीकी घटनाएँ सुनता था । कुसङ्गका फल बहुत बुरा होता है । शिवरामका मन एक दिन ललचाया, लोभने

उसकी बुद्धि बिगाड़ दी, परिणाम—ज्ञानशून्य होकर वह नन्दराम नामक गृहस्थके घर डाका डालकर तीन हजार रुपये नकद और कुछ गहने लूट लाया। आत्मरक्षाके लिये रोकनेवालोंपर दो-चार लाठियाँ भी जमा दीं।

धन लेकर घर पहुँचा और अपनी स्त्रीसे सारा हाल कहा। शिवरामकी पत्नी बड़ी साध्वी थी, उसे स्वामीके इस कुकृत्यको सुनकर बड़ा दुःख हुआ। उसने चरणोंमें सिर टेककर स्वामीको धर्म सुझाया और प्रार्थना की कि यह धन अभी आप लौटा दीजिये। शिवराम वास्तवमें अच्छा आदमी था, वह डकैती-पेशावाला तो था ही नहीं, कुसङ्गसे उसकी बुद्धि नष्ट हो गयी थी। स्त्रीके समझानेपर उसे अपना अपराध दीपककी ज्योतिकी भाँति स्पष्ट दीखने लगा। पत्नीकी सलाहसे वह तुरंत धन लेकर कलक्टर साहेबके बंगलेपर गया और रुपये तथा गहने उनके पास रखकर आत्मसमर्पण करते हुए उसने गिड़गिड़ाकर कहा कि 'मुझसे बड़ा भारी अपराध हो गया, कुसङ्गसे मेरे मनमें लोभ पैदा हो गया था, जिससे मेरी मति मारी गयी, मैंने बेचारे नन्दरामको अन्यायरूपसे सताया और वह कुकर्म किया जो मेरे बाप-दादोंमें किसीने भी नहीं किया था। मेरा अपराध किसी प्रकार क्षम्य तो नहीं है परंतु मैं आपकी शरण हूँ, आप मुझे बचाइये, भविष्यमें मैं कभी ऐसा कुकर्म नहीं करूँगा।' कलक्टरको उसकी बातपर विश्वास हो गया, उसने सोचा कि यदि इसकी नीयत खराब होती तो माल लेकर हाजिर क्यों होता? कलक्टरने उसे वहीं रोककर पुलिसके द्वारा नन्दरामको बुलवाया। नन्दराम पुलिसमें इत्तला करने जा ही रहा था कि उसको एक कानिस्टेबलने आकर कहा—

'तुम्हारे घर जिसने डकैती की है, वह मालसमेत कलक्टर साहेबके बंगलेपर हाजिर है, साहेबने तुम्हें अभी बुलाया है।' माल मिलनेकी बात सुनते ही नन्दरामको बड़ी खुशी हुई और वह तुरंत ही सिपाही-के साथ साहेबके बंगलेपर जा पहुँचा। उसे देखकर शिवरामने उसके चरण पकड़ लिये और अपना अपराध क्षमा करनेके लिये रो-रोकर प्रार्थना करने लगा। नन्दरामने उसकी एक भी नहीं सुनी और कहा कि 'तुझे जेल भिजवाये बिना मैं कभीं नहीं छोड़ूँगा।' मामला कोर्टमें गया, कलक्टर साहेबके पूछनेपर शिवरामने वही बातें साफ-साफ फिर कह दीं, जो उसने बंगलेपर कही थी। इसपर साहेबने नन्दरामसे पूछा कि 'बताओ, इसकी चाल-चलनके सम्बन्धमें तुम्हारा क्या खयाल है?' नन्दरामको स्वीकार करना पड़ा कि 'मैं इसे जानता हूँ, यह अच्छे घरानेका लड़का है, डाकुओंकी संगतिसे ही इसको दुर्बुद्धि पैदा हुई होगी, परंतु इसे सजा जरूर मिलनी चाहिये, नहीं तो यह फिर ऐसे ही काम करेगा।' कलक्टर दयालु था, वह शिवरामकी सरलता और सत्यतापर मुग्ध हो गया और उसने भविष्यके लिये सावधान करके शिवरामको छोड़ दिया। इस प्रकार दया करनेवाला कलक्टर क्या अन्यायी समझा जायगा? इसी प्रकार सच्चे और सरल हृदयसे भगवान्‌की शरण होनेपर वे भी मुक्त कर देते हैं।

यहाँपर यह प्रश्न उठ सकता है, ये सब उदाहरण तो साधारण अपराधोंके हैं। खून आदिके मामलेमें विपक्षके लोग राजी हो जायँ तो भी न्यायकारी जज अपराधीको नहीं छोड़ सकता, यदि छोड़ देता है तो वह अवश्य ही अन्यायी समझा जाता है। इसका उत्तर देनेसे

पूर्व यह समझना चाहिये, खून या मनुष्य-वध तीन प्रकारसे किया जाता है। न्यायके लिये, भूलसे या जान-बूझकर अन्यायसे। न्यायके लिये किया जानेवाला मनुष्य-वध तो खूनके अपराधमें गिना ही नहीं जाता। निःस्वार्थभावसे धर्मकी रक्षाके लिये, लोकहितके लिये, न्यायरक्षाके लिये या आत्मरक्षाके लिये जो नर-वध होते हैं, उनमें तो मारनेवाला दण्डनीय ही नहीं होता। अपराधीको न्याययुक्त फाँसीकी सजा देनेवाले जज या फाँसीकी सजा पाये हुए मनुष्यको फाँसीपर लटकानेवाले जल्लादको कोई अपराधी नहीं मानता। यथार्थमें डाकुओंसे धन-प्राणको बचानेके लिये उनपर शस्त्र-प्रहार करनेवाला भी पुरस्कारका पात्र समझा जाता है। हालमें एक बंगाली युवतीने बुरी नीयतसे घरमें घुस आनेवाले एक नौजवानको मार डाला था। वह पकड़ी गयी, परन्तु कोर्टने उसके कार्यकी प्रशंसा करते हुए उसे छोड़ दिया। अवश्य ही मनुष्यके न्यायमें उस गलतीके लिये गुंजाइश रह सकती है कि वह किसी स्थलमें न्यायानुकूल कर्म करनेवालेको भी दण्डनीय समझ लेता है, परंतु अन्तर्यामी सर्वतश्चक्षु परमात्माके यहाँ तो ऐसी भूलकी कोई सम्भावना ही नहीं।

दूसरे प्रकारका खून भूलसे होता है। ऐसे खूनका अपराधी कसूरवार तो समझा जाता है, क्योंकि उसकी असावधानीसे ही नर-हत्या होती है। ऐसा अपराधी चेष्टा करनेपर छूट भी जाता है या कोशिशकी कमीसे उसे कुछ सजा भी हो सकती है।

तीसरे प्रकारका खून क्रोध, लोभ, वैर आदिके कारण जान-

बूझकर किया जाता है, ऐसा अपराधी कसूर साबित होनेपर यहाँके कानूनके अनुसार प्रायः न्यायालयसे नहीं छूट सकता।

इसमें पहलेके उदाहरण तो दिये जा चुके हैं, ऐसे और भी अनेक उदाहरण मिल सकते हैं। श्रीखड्गबहादुर नामक नैपाली युवकने अत्याचारी हीरालाल अग्रवालको मार डाला था, उसे हल्का दण्ड भी हो गया था; परंतु लोगोंके कहनेपर वाइसरायने उसे छोड़ दिया।

दूसरेके लिये निम्नलिखित उदाहरण दिया जाता है—राजपूतानेके एक गाँवका रामसिंह नामक एक राजपूत नवयुवक जंगलमें पहाड़ीके नीचे निशाना मारना सीख रहा था, पास ही उसका मित्र सजनसिंह खड़ा था। निशानेपर मारनेके लिये वह बन्दूकका घोड़ा दबा ही रहा था कि सामनेसे एक आदमी जाता दिखलायी पड़ा, उसको बचानेके लिये उसने हाथ घुमाया, घोड़ा दब गया और गोली छूटकर पास खड़े हुए सजनसिंहके हृदयको चीरकर पार हो गयी, वह धड़ामसे गिर पड़ा। रामसिंहके होश हवा हो गये। पुलिस आयी। रामसिंह खूनके अपराधमें पकड़ा गया, एक तो उसे अपने हाथसे मित्रके मरनेका दुःख था और दूसरा यह राजसंकट। बेचारेकी बड़ी ही दुर्दशा थी। कोर्टमें मामला पेश हुआ। रामसिंहने सारी घटना सच-सच सुनाकर दुःख प्रकट करते हुए क्षमा माँगी। हाकिमने सजनसिंहके घरवालोंसे पूछा कि 'आपलोग सच कहें कि आपकी समझसे रामसिंहकी नीयतमें कोई दोष था या नहीं? यह जिस गलतीको बता रहा है, उसके सम्बन्धमें आपलोगोंकी क्या धारणा है?' उन लोगोंने कहा कि 'हमलोग भी इस बातपर तो विश्वास

करते हैं कि इसकी नीयत सजनसिंहको मारनेकी नहीं थी, वह इसका मित्र भी था, हमलोग भी उस समय वहीं उपस्थित थे, परन्तु इसकी असावधानीसे वह मारा गया, अतएव इसे दण्ड अवश्य मिलना चाहिये।' हाकिमने उसकी नीयत और सत्यतापर विश्वास कर आगेके लिये सतर्क करते हुए उसे बेदाग छोड़ दिया। क्या इस प्रकार दया करनेवाले हाकिमको कोई अन्यायी कह सकता है? जब मनुष्य भी इस तरह दया और न्यायका वर्ताव एक साथ कर सकता है, तब शरण जानेपर न्यायकी रक्षा करते हुए ही परमात्मा उसके अपराधोंको क्षमा कर दें, इसमें क्या आश्चर्य है!

इस उदाहरणपर एक प्राचीन गाथाका स्मरण हो आता है, जिसमें भूलसे अपराध करनेवाले परम धार्मिक पुरुषको भी दण्ड भोगना पड़ा था। इतिहास महाराज दशरथका है, जिनके हाथसे मातृ-पितृ-भक्त श्रवणकुमार मारा गया था। इस इतिहासको लेकर लोग यह प्रश्न किया करते हैं कि, 'जब महाराज दशरथका भूलसे किया हुआ अपराध क्षमा नहीं हुआ तब यह कैसे माना जा सकता है कि भूलसे किये हुए अपराधीका अपराध क्षमा हो जाता है?' इस शंकाका उत्तर इतिहाससहित इस प्रकार है—

महाज दशरथ एक समय रातको वनमें हिंसक पशुओंके शिकारके लिये गये थे। एक जगह उन्होंने नदीमें हाथीकी गर्जना-सा शब्द सुनकर तीक्ष्ण शब्दवेधी बाण मारा, उसी क्षण किसीके कराहनेकी स्पष्ट आवाज आयी और यह शब्द सुने कि 'अरे, मुझ निर्दोष तपस्वीको बिना अपराध किसने मारा? मैंने किसीका क्या

बुराई की थी जो इस प्रकार मुझे मार डाला, अब मेरे बूढ़े मा-बापकी कौन सेवा करेगा ? उन्हें कौन खिलावे-पिलावेगा ?' इन दयनीय शब्दोंको सुनकर दशरथके हृदयमें बड़ी व्यथा हुई। उन्होंने घबराये हुए दौड़कर नदी-तीरपर आकर देखा तो एक जटाधारी तपस्वी ऋषि खूनसे लथपथ पड़े हैं। दशरथके क्षमा-प्रार्थना करनेपर ऋषिने कहा कि 'मेरे अन्धे मा-बाप प्यासे थे, मैं उनके लिये जल भरने आया था, घड़ा भरनेमें शब्द हुआ, इसीपर तुमने बाण मार दिया। मेरे माता-पिता मेरी बाट देखते होंगे, जाकर उन्हें यह वृत्तान्त कहो, उनको प्रसन्न करो, जिससे वह तुम्हें शाप न दे दें। मेरे शरीरसे बाण निकाल दो, मुझे बड़ी पीड़ा हो रही है। तुम्हें ब्रह्महत्याका पाप नहीं लगेगा; क्योंकि मैं श्रवणकुमार नामक वैश्य हूँ।' इसपर दशरथजीने उनका बाण निकाला और उसके निकलते ही श्रवणके प्राण भी निकल गये। राजा जल लेकर श्रवणके माता-पिताके पास गये। वे पुत्रकी प्रतीक्षा कर रहे थे, पैरोंकी आहट सुनकर उन्होंने देरसे आनेका कारण पूछा। दशरथने अपना नाम-पता बताकर बड़ी ही विनयके साथ सारा हाल उन्हें सुनाया और जल पीनेके लिये प्रार्थना की। बूढ़े दम्पति एक बार मूर्छित हो गये, फिर होशमें आकर कहने लगे—'राजन् ! अपना यह अशुभ कर्म तुम स्वयं आकर हमसे न कहते तो तुम्हारे सिरके हजारों टुकड़े हो गये होते। तुमने भूलसे यह कार्य किया है, कहीं जान-बूझकर करते तो समस्त रघुकुल ही नष्ट हो जाता। अब हम दोनोंको भी वहीं ले चलो।' दशरथ दोनोंको वहाँ ले गये। वे दोनों पुत्रके शरीरको स्पर्श करके वहीं गिर पड़े और भाँति-भाँतिसे विलाप करने लगे।

दुखी ऋषिने मरते समय कहा—'दशरथ! जैसे मैं आज पुत्र-वियोगके दुःखसे मर रहा हूँ, वैसे ही तुम्हारी मृत्यु भी पुत्र-वियोगके शोकसे ही होगी।' इतना कहकर वे दोनों भी परलोक सिधार गये।

तदनन्तर राजाने यज्ञ किया जिसके फलस्वरूप राजाके श्रीराम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न—ये चार पुत्र हुए। श्रीरामको वनवास हुआ और इसी पुत्र-वियोगके कारण ही राजाकी मृत्यु हुई। यह इतिहास (वाल्मीकिरामायण २। ६३ में) है। इससे राजाको दण्ड अवश्य मिला, परन्तु यह दण्ड वास्तवमें बहुत ही अल्प था। पुत्र वनवासी हुए न कि श्रवणकी भाँति उनका चिर-वियोग हो गया था। हमारी समझमें यदि राजा दशरथ विशेष चेष्टा करते तो सम्भवतः यह दण्ड भी क्षमा हो सकता था। राजाकी व्याकुल दशाको देखकर श्रवणने तो अपनी ओरसे उन्हें क्षमा कर ही दिया था और माता-पिताको समझानेके लिये भेजा था। इसी प्रकार श्रवणके माता-पिताकी विशेष दया हो जाती तो वहाँसे भी दशरथजी बेदाग छूट सकते थे। उन्होंने जितनी कोशिश की, उतना ही कार्य भी हुआ। कोशिश करना भी प्रायश्चित्त ही है। सम्भव है महाराज दशरथ उस समय परमेश्वरसे विशेष प्रार्थना करते और ईश्वर चाहते तो श्रवणकुमारके पिताकी बुद्धिमें पवित्रता और दयाका संचार करके उनके द्वारा दशरथको क्षमा करवा देते। यदि ऐसा होता तो ईश्वरके न्यायमें कोई भी दोष नहीं समझा जाता।

बात तो यह है कि मनुष्यके द्वारा कैसा भी अपराध क्यों न बन जाय, ईश्वरकी शरण होकर उसके अनुकूल प्रायश्चित्तादि उपाय करनेसे बिना ही भोग किये, उसके पाप क्षमा हो सकते हैं।

प्रायश्चित्त आदि उपायोंसे भी फलभोगके समान ही पापोंका नाश हो जाता है; क्योंकि प्रायश्चित्त भी एक प्रकारसे भोग ही है।

अवश्य ही वर्तमान कालके कानूनमें तीसरे प्रकारके जान-बूझकर बुरी नीयतसे किये हुए खूनके लिये दयाका ऐसा कोई प्रयोग नहीं मिल सकता, जिसका उदाहरण देकर ईश्वरकी दया समझायी जा सके; परन्तु इतना तो सभीको मानना होगा कि सच्चे न्यायकारी प्रजाहितैषी राजाका उद्देश्य भी तो दण्डके कानून बनाने और तदनुसार दण्ड देनेमें अपराधीपर दया करना ही होता है। न्यायी राजा अपराधीको दण्ड देकर उसे शिक्षा देना और उसका सुधार करना चाहता है। द्वेषसे उसे दुःख पहुँचाना और अकारण ही उसकी हत्या करना नहीं चाहता। हत्याका उद्देश्य तो द्वेषपूर्ण और प्रतिहिंसा-वृत्तिवाले मनुष्यका ही हो सकता है। इतना होनेपर भी न्यायपरायण राजाकी तुलना ईश्वरके साथ कदापि नहीं की जा सकती। ईश्वरका कानून दया, सुहृदता और जीवोंके हितसे पूर्ण होता है। हमलोग तो उसकी कल्पनातक भी नहीं कर सकते।

ईश्वरका दण्ड भी वरके सदृश होता है। ईश्वरके न्यायसे फरियादी और असामी दोनोंका ही परिणाममें हित और उद्धार होता है, यही उसकी विशेषता है। परम दयालु परमात्माके कानूनके अनुसार जो अपराधी अपनी भूलको सच्चे दिलसे स्वीकार करता हुआ भविष्यमें फिर अपराध न करनेकी प्रतिज्ञा करता है और सच्चे हृदयसे ईश्वरके शरण होकर सर्वस्वसहित अपनेको उसके चरणोंमें अर्पण कर देता है एवं ईश्वरकी कड़ी-से कड़ी आज्ञाको—

उसके भयानक-से-भयानक विधानको, उसके प्रत्येक न्यायको सानन्द स्वीकार करता तथा उसे पुरस्कार समझता है, साथ ही अपने किये हुए अपराधोंके लिये क्षमा नहीं चाहकर दण्ड ग्रहण करनेमें खुश होता है। ऐसे सरलभावसे सर्वस्व अर्पण करनेवाले शरणागत भक्तको भगवान् अपराधोंसे मुक्त करके उसे अभय कर देते हैं। इसमें दयालु ईश्वरका न्याय ही सिद्ध होता है। ऐसे भाववाले भक्तको दण्डसे मुक्त करना ही परमात्माके राज्यका दया और न्यायपूर्ण नियम है। इसीसे भगवान्में दया और न्याय दोनों एक ही साथ रहते हैं।

श्रीगीताजीमें भगवान् स्पष्ट कहते हैं—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥
सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

(९। ३०-३१; १८। ६६)

'यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्य-भावसे मेरा भक्त हुआ मुझको निरन्तर भजता है वह साधु ही माननेयोग्य है, क्योंकि वह यथार्थ निश्चयवाला है, उसने भलीभाँति निश्चय कर लिया है कि परमेश्वरके भजनके समान अन्य कुछ भी नहीं है।' 'अतएव वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहनेवाली

परम शान्तिको प्राप्त होता है, हे अर्जुन ! तू निश्चयपूर्वक सत्य जान कि मेरा भक्त (कदापि) नष्ट नहीं होता ।' 'इसलिये सब कर्मोंके आश्रयको त्यागकर केवल एक मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेव परमात्माके ही अनन्य शरणको प्राप्त हो, मैं तुझे समस्त पापोंसे मुक्त कर दूँगा, तू शोक न कर !'

भगवान्‌की दया

कुछ मित्र मुझे ईश्वरके सद्गुणोंके सम्बन्धमें लिखनेको कहते हैं, परन्तु मैं इस विषयमें अपनेको असमर्थ समझता हूँ, क्योंकि ईश्वरके सद्गुणोंका कोई पार नहीं है । संसारमें जितने उत्तम गुण देखने, सुनने और पढ़नेमें आते हैं, वे सभी परिमित—ससीम हैं और उस अप्रमेय-असीम परमात्माके एक अंशके द्वारा प्रकाशित हो रहे हैं 'एकांशेन स्थितो जगत्' (गीता १० । ४२) । परमात्माके गुणोंका सम्यक् प्रकारसे वर्णन कोई भी नहीं कर सकता । वेद-शास्त्रमें जो कुछ कहा गया है, वह सर्वथा स्वल्प ही है, अन्य गुणोंकी बात तो अलग रही । उस दयामयकी केवल एक दयाके विषयमें खयाल किया जाय तो मुग्ध हो जाना पड़ता है । अहा ! उसकी असीम दयाकी थाह कौन पा सकता है ? जब एक दयाका वर्णन ही मनुष्यके लिये अशक्य है तो सम्पूर्ण सद्गुणोंका वर्णन करना असम्भव है । लोग उन्हें दयासिन्धु कहते हैं, वेद-शास्त्रोंने भी उनको दयाका समुद्र बताया है, परन्तु विचार करनेपर प्रतीत होता है कि

यह उपमा समीचीन नहीं है, यह तो उसकी अपरिमित दयाके एक अंशमात्रका ही परिचय है। क्योंकि समुद्र परिमित है और सब ओर-से सीमाबद्ध है, परन्तु अपरिमेय परमात्माकी दया तो अपार है, उसके साथ अनन्त समुद्रोंकी भी तुलना नहीं की जा सकती। अवश्य ही जो उन्हें दयासिन्धु और दयासागर बताते हैं, मैं उनकी निन्दा नहीं करता। कारण, संसारमें जो बड़ी-से-बड़ी चीज प्रत्यक्ष देखनेमें आती है, बड़ोंके साथ उसकी तुलना देकर लोग समझाया करते हैं।

जहाँ मन और बुद्धिकी पहुँच नहीं, वहाँ एकबारगी उसका वाणीसे तो वर्णन हो ही कैसे सकता है तथापि जो कुछ वर्णन किया जाता है सो वाणीसे ही किया जाता है, चाहे वह कितना ही क्यों न हो, इसलिये भगवान्की दयाका जो वर्णन वाणीसे किया गया है, वह पर्याप्त नहीं है। ईश्वरकी दया उससे बहुत ही अपार है। परमात्माकी दया सम्पूर्ण जीवोंपर इतनी अपार है कि जो मनुष्य इसके तत्त्वको समझ जाता है वह भी निर्भय हो जाता है, शोक-मोहसे तर जाता है, अपार शान्तिको प्राप्त होता है और वह स्वयं दयामय ही बन जाता है, ऐसे पुरुषकी सम्पूर्ण क्रियाओंमें भी दया भरी रहती है। उससे किसीकी भी हिंसा तो हो ही नहीं सकती।

दयामय परमात्माकी सब जीवोंपर इतनी दया है कि सम्पूर्ण रूपसे तो उस दयाको मनुष्य समझ ही नहीं सकता। वह अपनी समझके अनुसार अपने ऊपर जितनी अधिक-से-अधिक दया समझता है वह भी नितान्त अल्प ही होती है। मनुष्य ईश्वरदयाको यथार्थ

कल्पना ही नहीं कर सकता। भगवान्‌की वह अनन्त दया सबके ऊपर समभावसे गङ्गाके प्रवाहकी भाँति नित्य-निरन्तर चारों ओरसे बह रही है। इस दयासे जो मनुष्य जितना लाभ उठाना चाहता है, उतना ही उठा सकता है। खेदकी बात है कि लोग इस रहस्य-को न जाननेके कारण ही दुखी हो रहे हैं। यह उनकी मूर्खता है। इन लोगोंकी वही दशा समझनी चाहिये, जैसी उस मूर्ख प्यासे मनुष्यकी है जो नित्य-निरन्तर शीतल सुमधुर जलको प्रवाहित करनेवाली भगवती गङ्गाके किनारे पड़ा हो, परन्तु ज्ञान न होनेके कारण जल न ग्रहण कर प्यासके मारे तड़प रहा हो।

ईश्वरकी दया अपार है; परन्तु जो जितनी मानता है उतनी ही दया उसको फलती है। इसलिये उस ईश्वरकी जितनी अधिक-से-अधिक दया तुम अपने ऊपर समझ सको उतनी समझनी चाहिये। तुम्हारी कल्पना जितनी अधिक होगी, तुम्हें उतना ही अधिक लाभ होगा। यद्यपि भगवान्‌की दयाका थाह उसी प्रकार किसीको नहीं मिलता, जैसे विमानपर बैठकर आकाशमें उड़नेवाले मनुष्य-को आकाशका थाह नहीं मिलता, परन्तु इस दयाका थोड़ा-सा रहस्य जाननेपर भी मनुष्य कृतकृत्य हो जाता है। जैसे अथाह गङ्गा-के प्रवाहमेंसे मनुष्यकी प्यास बुझानेके लिये एक लोटा गङ्गाजल ही पर्याप्त है, वैसे ही उस अपार, अपरिमित दयासागरकी दयाके एक कणसे ही मनुष्यकी अनन्त जन्मोंकी शोकाग्नि सदाके लिये शान्त हो जाती है। यह तुलना भी पर्याप्त नहीं है, क्योंकि साधारण जलबुद्धिसे पीये हुए गङ्गाजलके एक लोटे जलसे तो मनुष्यकी प्यास

थोड़ी देरके लिये शान्त होती है, परन्तु ईश्वरकी दयाके कारण से तो भय, शोक और दुःखोंकी निवृत्ति एवं शान्ति और परमानन्दकी प्राप्ति सदाके लिये हो जाती है। अतएव सबको चाहिये कि उस परमेश्वरके शरण होकर उसकी दयाकी खोज करें।

भगवान्‌की दया सर्वथा-सर्वदा और सर्वत्र व्याप्त है। सुख या दुःख, जय या पराजय जो कुछ भी प्राप्त होता है, वह ईश्वरकी दयासे पूर्ण है और स्वयं ईश्वरका ही किया हुआ विधान है। उसीकी दया इस रूपमें प्रकट हुई है। मनुष्य जब इस रहस्यको जान लेता है तब उसे सुख और विजय मिलनेपर जो हर्ष प्राप्त होता है, वही दुःख और पराजयमें भी होता है। जबतक ईश्वरके विधानमें सन्तोष नहीं है और सांसारिक सुख-दुःखादिकी प्राप्तिमें हर्ष-शोक होता है, तबतक मनुष्यने भगवान्‌की दयाके तत्त्वको वास्तवमें समझा ही नहीं है। जब ईश्वरको कर्मोंके अनुसार फल देनेवाला न्यायकारी परम प्रेमी, परम हितैषी, परम दयालु और सुहृद् समझ लिया जायगा, तब उनके किये हुए सभी विधानोंमें आनन्दका पार न रहेगा। विषयी और पामर पुरुषोंके हृदयमें तो स्त्री-पुत्र, धन-धामकी प्राप्तिमें क्षणिक आनन्द होता है, किन्तु दयाके मर्मज्ञ उस पुरुषको तो पुत्रकी उत्पत्ति और नाशमें, धनके लाभ और हानिमें, शरीरकी नीरोगता और रुग्णतामें तथा अन्यान्य सम्पूर्ण पदार्थोंकी प्राप्ति और विनाशमें, जैसे-जैसे वह भगवान्‌की दयाके प्रभावको समझता जायगा, वैसे-वैसे ही नित्य-निरन्तर उत्तरोत्तर अधिकाधिक विलक्षण आनन्द, शान्ति और समताकी वृद्धि होती जायगी।

जो पुरुष भगवान्की दयाके यथार्थ प्रभावको जान लेता है, उसके उद्धारकी तो बात ही क्या है ? वह दूसरोंके लिये भी मुक्ति-का दाता बन जाता है; क्योंकि भगवत्कृपा ऐसी ही वस्तु है। वह भगवत्कृपा मूकको वाचाल बना देती है और पङ्गुको पर्वत लाँघने-की शक्ति देती है। संसारमें न होनेवाले काम वह दया करा देती है। परमात्मा सर्वसमर्थ हैं, उनके लिये कोई भी काम अशक्य नहीं है। जीव सब प्रकारसे असमर्थ है, पर परमेश्वरकी दया और आज्ञासे वह भी चाहे सो कर सकता है। मच्छर ब्रह्मा बन सकता है। अब यह प्रश्न उठता है कि जब सभी जीवोंपर भगवान्की दया सर्वथा अपार और सम है, तब उनकी दुर्दशा क्यों हो रही है ? इसका उत्तर यह है कि लोग भगवान्की दयाके प्रभावको नहीं जानते। एक दरिद्रके घरमें पारस है, परन्तु जैसे वह पारसका ज्ञान न होनेके कारण दरिद्रताके दुःखसे दुखी हो दीनताके साथ भीख माँगता फिरता है, वैसे ही दयाके तत्त्वको न समझनेके कारण सब जीव दुखी हो रहे हैं। लोगोंको चाहिये कि वे दयाके तत्त्वको जाननेके लिये तत्पर होकर चेष्टा करें। परमात्माकी दया जाननेके लिये मनुष्यको परमेश्वरसे नित्य गद्गद-वाणीसे विनयपूर्ण प्रार्थना करनी चाहिये। प्रार्थनासे, भजन-ध्यानसे, उसकी दयाके महत्त्वको यत्किञ्चित् जाननेवाले पुरुषोंका सङ्ग करनेसे, सत्-शास्त्रोंके विचारसे और परमेश्वरके किये हुए समस्त विधानोंमें दयाकी खोज करनेसे मनुष्य दयाके तत्त्वको जान सकता है।

यद्यपि भगवान्की दयाके तत्त्वको बतानेवाले महात्माओंका मिलना बहुत कठिन है तथापि चेष्टा करनी चाहिये। जो महात्मा

दयाके महत्त्वको कुछ जानते हैं वे भी कितना जानते हैं उस वाणीद्वारा वर्णन नहीं कर सकते। क्योंकि भगवान्‌की इतनी दया है कि सारे संसारकी दयाको इकट्ठी करो तो वह भी दयासागरकी दयाके एक कणके बराबर नहीं हो सकती।

जिसके घरमें पारस है उसकी दरिद्रताका नाश—जैसे पारसके प्रभावको जानते ही हो जाता है, वैसे ही भगवान्‌की दयाके प्रभावको समझनेपर मनुष्यके सब प्रकारके दुःखोंका सर्वथा नाश हो जाता है। जो मनुष्य भगवान्‌की दयाके प्रभावको जान जाता है, वह पद-पदपर उस दयालुका स्मरण करके नित्य-निरन्तर आनन्दमें डूबा रहता है। अपने ऐसे प्रियतम सुहृद्‌को कोई कैसे भूल सकता है। वह जो कुछ क्रिया करता है, सब उस परम दयालु परमेश्वरके आज्ञानुसार ही करता है। उसकी कोई भी क्रिया परमात्माकी इच्छाके विपरीत नहीं हो सकती। जब साधारण सत्पुरुष ही अपने उपकारी और दयालुको भूलकर उसके विपरीत क्रिया नहीं करता तब परमात्माकी दयाके प्रभावको जाननेवाले महात्मा पुरुष परमात्माको कैसे भूल सकते हैं और कैसे उनके विपरीत कोई क्रिया कर सकते हैं। ऐसे पुरुषोंद्वारा किया हुआ आचरण ही 'सदाचार' कहलाता है और लोग उसे प्रमाण मानकर उसीके अनुसार चलते हैं।

> यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
> स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥
>
> (गीता ३। २१)

अब यह समझना चाहिये कि दया किसको कहते हैं। किसी भी दुखी, आर्तप्राणीको देखकर उसके दुःख एवं आर्तताकी निवृत्तिके लिये अन्तःकरणमें जो द्रवतायुक्त भाव पैदा होता है उसीका नाम दया है। परमेश्वरकी यह दया सब जीवोंपर समान-भावसे सदा-सर्वदा अपार है। जीव कितना भी परमेश्वरके विपरीत आचरण करे, परन्तु परमेश्वर उसको सदा ही दयाकी दृष्टिसे देखते हैं। इसके उपयुक्त हमें संसारमें कोई उदाहरण ही नहीं मिलता। माताका उदाहरण दिया जाता है, वह कुछ अंशमें ठीक भी है। बालक बहुत कुपात्र और नीच वृत्तिवाला है, नित्य अपनी माताको सताता है, गाली देता है। ऐसा होनेपर भी माता बालकके मङ्गलकी ही कामना करती है, कभी उसका पतन या नाश नहीं चाहती। यह उसकी दया है, परन्तु भगवान्‌की दयाको समझनेके लिये यह दृष्टान्त सर्वथा अपर्याप्त है। ऐसा भी देखा जाता है कि विशेष तंग करनेपर दुःख सहनेमें असमर्थ होनेके कारण स्वार्थवश माता भी बालकको त्याग देती है और कभी-कभी उसके अनिष्टकी इच्छा भी कर सकती है, परन्तु परम पिता परमेश्वरके कोई कितना ही विरुद्ध आचरण क्यों न करे, वह कभी न तो उसका त्याग ही करते हैं और न अनिष्ट ही चाहते हैं। यह उनकी परम दयालुताका निदर्शन है। विपरीत आचरण करनेवालेको भगवान् जो दण्ड देते हैं वह भी उनकी परम दया है। बालकके अनुचित आचरण करनेपर जैसे गुरु उसके हितके लिये एवं उसे दुराचारसे हटानेके लिये दण्ड देता है अथवा जैसे चोरी करनेवाली और डाका डालनेवाली प्रजाको न्यायकारी राजा जो उचित दण्ड देता है, वह

गुरु और राजाकी दया ही समझी जाती है, वैसे ही परमात्मरूप गुरु-के किये हुए दण्ड-विधानको भी परम दया समझनी चाहिये। यह उदाहरण भी पर्याप्त नहीं है। गुरु तथा राजासे भूल भी हो सकती है, किसी अन्य कारणसे भी वे प्रमादवश दण्ड दे देते हैं, परन्तु ईश्वरका दण्ड-विधान तो केवल दयाके कारण ही होता है। हम जब परमात्माकी दयापर विचार करते हैं तो हमें पद-पदपर परमात्मा-की दयाके दर्शन होते हैं। प्रथम तो परमेश्वरके नियमोंकी ओर ही देखिये, वे कितने दयासे भरे हैं। कोई जीव कैसा भी पापी क्यों न हो, अनेक तिर्यक्योनियोंके भोगनेपर उसको भी अन्तमें परमात्मा मनुष्यका शरीर देते ही हैं। यदि उसके पापोंकी ओर ध्यान दिया जाय तो उसे मनुष्यका शरीर मिलनेकी बहुत ही कम गुंजाइश रह जाती है। परन्तु यह उस परमात्माकी हेतुरहित परम दयाका ही कार्य है जो पुनः उसको मनुष्य-शरीर देकर सुधारका मौका देता है।

गोसाईंजी कहते हैं—

आकर चारि लच्छ चौरासी। जोनि भ्रमत यह जिव अबिनासी॥
कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही॥

दूसरा कानून है, कोई कैसा भी पापी क्यों न हो, जब वह भगवान्‌की शरण हो जाता है अर्थात् जबसे सम्पूर्ण पापोंको छोड़कर भगवान्‌के अनुकूल बन जाता है तो भगवान् उसके पिछले सारे पाप नाशकर उसे तत्काल मुक्ति-पद दे देते हैं। भगवान् श्रीराम कहते हैं—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम॥

(वा० रा० ६। १८। ३३)

तीसरा कायदा है कि एक साधारण-से-साधारण मनुष्य भी परमात्माको प्रेमसे भजता है, तो परमेश्वर भी उसको उसी प्रकार भजते हैं—'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।' (गीता ४ । ११) इतना ही नहीं, परमेश्वरके भजनके प्रतापसे उसके पूर्वके किये हुए सब पापोंका नाश हो जाता है और वह शीघ्र ही परम धर्मात्मा बनकर दुर्लभ परम गतिको प्राप्त होता है । भगवान् श्रीकृष्णके वचन हैं—

> अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
> साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥
> क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।
> कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥
>
> (गीता ९ । ३०-३१)

जो परमेश्वरकी भक्ति करता है, उसकी वे सब प्रकारसे रक्षा और सहायता करते हैं एवं उचित बुद्धि देकर इस असार संसारसे उसका उद्धार कर देते हैं ।

आप विचारिये कि इन कानूनोंमें परमात्माकी कितनी भारी दया भरी है । यही नहीं, भगवान्‌के सभी नियम इसी प्रकार दयापूर्ण हैं । विस्तार-भयसे यहाँ नहीं लिखे जाते । ऐसे दयाभरे नियम संसारमें माता, पिता, गुरु, राजा आदि किसीके ही यहाँ नहीं हैं ।

अब दूसरी ओर ध्यान दीजिये, ईश्वरने हमारी सुविधाके लिये संसारमें पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, सूर्य, चन्द्रमा आदि ऐसे-ऐसे अद्भुत पदार्थ बनाये हैं जिनसे हम आरामसे जीवन धारण करते

हैं और सुखसे विचरते हैं। यह सब चीजें सबको विना मूल्य, विना किसी रुकावटके पूरी मात्रामें समानभावसे सहज ही प्राप्त हैं। कोई कैसा भी महान् पापी क्यों न हो, भगवान्‌के इस दानसे वह वञ्चित नहीं रहता।

संसारके विषयोंकी भी रचना ईश्वरने इस ढंगसे की है कि उनकी अवस्थापर विचार करनेसे बड़ा उपदेश मिलता है। हम जिस किसी भी पदार्थकी ओर नजर उठाकर देखते हैं, वही क्षय और नाश होता हुआ प्रतीत होता है। यह भी एक दयाका ही निदर्शन है। संसारके इन सब पदार्थोंको देखनेसे हमें यह उपदेश मिलता है कि स्त्री, पुत्र, धन, संसारके सम्पूर्ण पदार्थ एवं हमारा शरीर भी क्षणभंगुर और नाशवान् है, इसलिये हमको उचित है कि अपने अमूल्य समयको इन विषयोंके भोगनेमें व्यर्थ न बितावें।

परमात्माकी दया तो समानभावसे सबपर सदा ही है, परन्तु मनुष्य जब परमात्माकी शरण हो जाता है तब ईश्वर उसपर विशेष दया करते हैं। जैसे सुनार सुवर्णको आगमें तपाकर पवित्र बना लेता है, वैसे ही परमात्मा अपने भक्तको अनेक प्रकारकी विपत्तियोंके द्वारा तपाकर पवित्र बना लेते हैं। जब भक्त प्रह्लादने भगवान्‌की शरण ली, तब पहले-पहले उसपर कैसी-कैसी विपत्तियाँ आयीं! वह अग्निमें जलाया गया, जलमें डुबाया गया, उसे विष पिलाया गया, वह शस्त्रोंसे कटवाया गया। परन्तु जैसे-जैसे उसे संकटोंकी प्राप्ति अधिकाधिक होती गयी, वैसे-ही-वैसे दयाका अनुभव अधिकतर होता गया और इस कारण वह परम पवित्र

होकर अन्तमें परमात्माको प्राप्त हो गया। लोगोंकी दृष्टिमें तो यही बात है कि प्रह्लादको बहुत दुःख झेलना पड़ा, उसपर अनेक अत्याचार हुए, उसे बड़ी-बड़ी विपत्तियोंका सामना करना पड़ा। कोई-कोई भोले भाई तो यहाँतक भी कहते हैं कि भगवान्‌की भक्ति करनेवालोंको भगवान् उत्तरोत्तर अधिक विपत्ति देते हैं, परन्तु वे बेचारे इस बातको समझते नहीं कि भगवान्‌की विधान की हुई इस विपत्तिमें कितनी भारी संपत्ति छिपी रहती है।

प्रह्लाद इस तत्त्वको समझता था, इसलिये उसे इन विपत्तियोंमें भगवद्दयारूपी सम्पत्तिके प्रत्यक्ष दर्शन होते थे। जो मनुष्य भक्त प्रह्लादकी तरह प्राप्त हुई विपत्तियोंमें परमात्माकी दया देखता है उसके लिये वे सारी विपत्तियाँ तत्काल ही सम्पत्तिके रूपमें परिणत हो जाती हैं।

आप प्रह्लादके चरित्रको पढ़िये, उसके वचनोंमें पद-पदपर कितना धैर्य, निर्भयता, शान्ति, निःस्पृहता, निष्कामता और आनन्द चमकता है। अग्निमें न जलकर प्रह्लाद कहते हैं—

तातैष वह्निः पवनेरितोऽपि न मां दहत्यत्र समन्ततोऽहम्।
पश्यामि पद्मास्तरणास्तृतानि शीतानि सर्वाणि दिशाम्मुखानि॥

(विष्णु० १। १७। ४७)

'हे तात! यह महान् वायुसे प्रेरित धधकती हुई भी अग्नि मुझे नहीं जलाती (इसमें आप कोई आश्चर्य न करें) क्योंकि मैं इस अग्निमें और अपनेमें समभावसे उस एक ही सर्वव्यापी भगवान्

विष्णुको देखता हूँ, अतएव अग्निकी ये लपटें मुझको चारों ओर शीतल कमलपत्रके सदृश बिछी हुई सुखमयी प्रतीत होती हैं।'

जब गुरुपुत्र षण्डामर्कके द्वारा उत्पन्न की हुई कृत्याने प्रह्लादको मारनेमें असमर्थ होकर षण्डामर्कको ही मार डाला, तब दयामय प्रह्लाद श्रीभगवान्‌से कहने लगे—

यथा सर्वगतं विष्णुं मन्यमानोऽनपायिनम्।
चिन्तयाम्यरिपक्षेऽपि जीवन्त्वेते पुरोहिताः॥
ये हन्तुमागता दत्तं यैर्विषं यैर्हुताशनः।
यैर्दिग्गजैरहं क्षुण्णो दष्टः सर्पैश्च यैरपि॥
तेष्वहं मित्रभावेन समः पापोऽस्मि न क्वचित्।
तथा तेनाद्य सत्येन जीवन्त्वसुरयाजकाः॥

(विष्णु० १।१८।४१,४३)

'यदि मैं सर्वगत और अक्षय श्रीविष्णुको शत्रु-पक्षमें भी देखता हूँ तो ये पुरोहित जीवित हो जायँ। जो मेरेको मारनेके लिये आये, जिन्होंने विष दिया, अग्नि लगायी, जिन दिग्गजोंने रूँधा, सर्पोंने काटा, उन सबमें यदि मैं मित्रभावसे सम हूँ एवं कहीं भी मेरी पापबुद्धि नहीं है तो उस सत्यके प्रभावसे इसी समय ये पुरोहित जीवित हो जायँ।' उसके बाद ही पुरोहित जी उठे।

साधन-कालमें भगवान् अपने भक्तोंपर जो विपत्तियाँ डालते हुए-से दीखते हैं और किसी-किसीकी मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा और सम्पत्ति भी हर लेते हैं, सो किसलिये? उन्हें अज्ञानरूपी निद्रासे जगानेके लिये, साधनकी रुकावटोंको हटानेके लिये, पापोंसे पवित्र करनेके

लिये, कायरताका नाश करके उन्हें वीर और धीर बनानेके लिये, सच्ची भक्तिको बढ़ानेके लिये और उनकी ऐसी विमल कीर्ति फैलानेके लिये, जिसे गा-गाकर लोग पवित्र हो जायँ। क्योंकि विपत्तिकालमें भगवान् जितने याद आते हैं उतने सम्पत्तिकालमें नहीं आते। इसीलिये कुन्तीदेवीने भगवान्‌से विपत्तिका वर माँगा था।

विपदः सन्तु नः शश्वत्तत्र तत्र जगद्गुरो।
भवतो दर्शनं यत्स्यादपुनर्भवदर्शनम्॥

(श्रीमद्भा० १।८।२५)

'हे जगद्गुरो! हम चाहती हैं कि पद-पदपर हमेशा हमपर विपत्तियाँ आयें, जिनसे हमें संसारसे छुड़ानेवाला आपका दुर्लभ दर्शन मिलता रहे।'

परन्तु यह कोई नियम नहीं कि भक्ति करनेवालेको भगवान् अवश्य विपत्ति देते हैं। जैसा अधिकारी होता है, वैसी ही व्यवस्था की जाती है।

यदि आप खयाल करके देखें तो आपको स्पष्ट दीखेगा कि परमात्माकी दयाकी निरन्तर अनवरत वर्षा हो रही है। इस वर्षाकी शीतल सुधाधाराका आनन्द उन्हींको मिलता है जो भगवान्‌की शरण होकर उनकी दयाकी ओर ध्यान देते हैं। दयाकी ऐसी अनवरत वृष्टि होती रहनेपर भी उनकी दयाका प्रभाव न जाननेके कारण लोग लाभ नहीं उठा सकते। कोई तो मूर्खतावश छाता लगा लेते हैं और कोई मकानमें घुस जाते हैं। कभी-कभी परमात्माकी विशेष दयासे पूर्व-पुण्य-पुञ्जके कारण, उनके प्रेम, प्रभाव, गुण और

रहस्यकी अमृतरूप कथा बिना चाहे और बिना चेष्टा किये स्वतः ही आ प्राप्त होती है, उनके तत्त्वको नहीं समझनेके कारण, उपेक्षा करके जो मनुष्य चला जाता है, उसका अमृतरूपी वर्षासे भागकर घरमें घुस जाना है और कथामें उपस्थित रहकर जो आलस्य और नींद लेना है, वह अपने ऊपर छाता लगा लेना है।

ईश्वरकी दयाके लिये क्या कहा जाय? सम्पूर्ण जीवोंके मस्तक-पर उनका निरन्तर हाथ है, परन्तु अभागे जीव उस हाथको हटाकर परे कर देते हैं।

जब यह जीव कोई बुरा काम करनेके लिये तैयार होता है तो प्रायः ही उसीके हृदयसे यह आवाज आती है कि 'यह बुरा काम है!' इस प्रकारकी जो चेतावनी है, यह ईश्वरका मस्तकपर हाथ है, ईश्वर उसको समयपर चेता देते हैं। मालूम होता है, मानो हृदयस्थ कोई पुरुष निषेध करता है कि यह काम बुरा है, परन्तु काम या लोभके वश होकर ईश्वरकी आज्ञाकी अवहेलना करके बुरे काममें प्रवृत्त हो ही जाता है, यही उस कृपासिन्धुकी कृपाकी अवहेलना करना है अर्थात् अपने मस्तकपर जो उनका हाथ है उसको परे हटाना है।

समय-समयपर परमेश्वर उत्तम काम करनेके लिये भी हृदयमें प्रेरणा करते हैं। भजन-ध्यान, सेवा-सत्सङ्ग आदि करनेकी स्फुरणा होती है, परन्तु यह जीव उसकी अवहेलना करके संसारके विषय-भोग और प्रमादमें लग जाता है, यह भी उस दयामयका हमारे सिरपर जो हाथ है उसको परे करना है।

इसके सिवा जब संसारका ऐश्वर्य अर्थात् स्त्री, पुत्र और

धनादि आकर प्राप्त होते हैं, जिसको हम सुख और सम्पत्तिके नामसे कहते हैं, उनमें भी समय-समयपर क्षय और नाशकी भावना उत्पन्न होती है और वह भी स्वाभाविक हमको क्षणभङ्गुर और नाशवान् प्रतीत होते हैं। ऐसी प्रतीति होनेपर भी हम उनका त्याग या सदुपयोग नहीं करते; यह उस दयामय ईश्वरका हाथ अपने मस्तकसे परे हटाना है।

ईश्वरकी प्राप्तिके साधनमें बाधकरूप जो संसारके धन-जन-मान-ऐश्वर्य आदिके नाश होनेपर पुनः उन क्षणभङ्गुर, नाशवान्, दुःखमय पदार्थोंकी प्राप्तिकी जो इच्छा करना है, यह भी उस दयामयका हाथ अपने मस्तकसे परे हटाना है।

जब भगवान्‌के नाम, रूप, गुण और प्रभावकी स्वतः ही स्फुरणा होती है तो समझना चाहिये कि यह उनकी सबसे विशेष दया है। तिसपर भी हम उनको भुला देते हैं और स्मरण रखनेकी उचित कोशिश नहीं करते, यही उस दयामयकी दयाका हाथ हमारे मस्तकसे परे कर देना है।

इसलिये हमलोगोंको चाहिये कि भगवान्‌की दयाको पहचानें और सर्वथा उसकी संरक्षकतामें रहकर नित्य निर्भय और परम सुखी हो जायँ।

ईश्वर सहायक हैं

भगवद्भक्तिके पथपर चलनेवाले पुरुषोंको अपने मनमें खूब उत्साह रखना चाहिये। इस बातका सदा स्मरण रखना चाहिये कि समस्त विघ्नोंके नाश करनेवाले और साधनमें सतत सहायता

पहुँचानेवाले भगवान् हमारे पीछे स्थित रहकर सदा हमारी रक्षा करते हैं। रणाङ्गणमें रण-प्रवृत्त योद्धाके मनमें इस स्मृतिसे महान् उत्साह बना रहता है कि मेरे पीछे विशाल सैन्यको साथ लिये सेनापति स्थित है। भक्तको तो इससे भी अनन्तगुण अधिक उत्साह होना चाहिये। क्योंकि उसके पीछे अनन्त शक्ति-सम्पन्न भगवान्का बल है। शक्तिशाली सैन्यका सहारा पाकर जब निर्बल भी बलवान् बन जाता है, जब कायर भी शूरवीरका-सा काम कर दिखाता है। निर्बल, निरुत्साही मनुष्य इस बातको भलीभाँति समझता हुआ कि मुझमें बड़ी भारी शत्रु-सेनाका सामना करनेकी शक्ति नहीं है, किन्तु शत्रु-सेनाकी अपेक्षा अपनी सेनाको अधिक बलवती देखकर उसके भरोसे लड़नेको तैयार हो जाता है। फिर जिसके भगवान् सहायक हों, उसको तो भीषण विषय-सैन्यको तुच्छ समझकर उसके नाशके लिये बद्धपरिकर ही हो जाना चाहिये। परमात्मा श्रीकृष्ण अपने प्रेमी भक्तोंको आश्वासन देते हुए घोषणा करते हैं—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥

(गीता ९। २२)

'जो अनन्यभावसे मुझमें स्थित हुए भक्तजन मुझ परमेश्वरको निरन्तर चिन्तन करते हुए निष्कामभावसे भजते हैं, उन नित्य एकीभावसे मुझमें स्थितिवाले पुरुषोंका योगक्षेम मैं स्वयं प्राप्त कर देता हूँ।'

भगवान्की इस घोषणापर विश्वास कर कठिन-से-कठिन मार्गपर अग्रसर होनेमें भी संकोच नहीं करना चाहिये। शङ्ख, चक्र, गदा

आदि धारण करनेवाले भगवान्, जब हमारे प्राप्त साधनकी रक्षा और अप्राप्तिकी प्राप्ति करानेका स्वयं जिम्मा ले रहे हैं, जब पद-पद-पर हमें बचानेके लिये तैयार हैं, तब इस घोर अन्धकारमय संसार-अरण्यसे बाहर निकलनेके लिये हमने जिस साधनामय पथका अवलम्बन किया है, उसमें विघ्न करनेवाले काम-क्रोधरूप सिंह-व्याघ्रादिसे भय करनेकी क्या आवश्यकता है ? जब भगवान् सदा-सर्वदा हमारे साथ हैं तब भय किस बातका ! जैसे छोटा बालक माताकी गोदमें आते ही अपनेको निर्भय और निश्चिन्त मानता है, इसी प्रकार हमें भी अपनेको परमपिता परमात्माकी गोदमें स्थित समझकर निर्भय और निश्चिन्त रहना चाहिये। भगवान् तो बल, प्रेम, सुहृदता आदिमें सभी प्रकार सबसे अधिक हैं। कारण, ये सारे सद्गुण उन्हीं गुणसागरके तो गुण-कण हैं अतएव सब तरहके शोक, भय आदिको त्यागकर, बड़े उत्साह और उमंगके साथ एक वीरकी भाँति अपने अभीष्ट मार्गपर द्रुतगतिसे अग्रसर होना चाहिये। यह सदा स्मरण रखना चाहिये कि जिस प्रकार भक्तप्रवर अर्जुनने भगवान्की सहायतासे भीष्म-द्रोण, कर्णादिद्वारा सुरक्षित ग्यारह अक्षौहिणी कौरव-सेनाको विध्वंस कर विजय प्राप्त की थी, उसी प्रकार उनकी सहायतासे हम भी काम-क्रोधादिरूप कौरव-सेनाका सहजहीमें विनाश कर परमात्माकी प्राप्तिरूप सच्चे स्वराज्यको प्राप्त कर सकते हैं। बस, भगवान्को अपना सच्चा अवलम्बन बनाकर भीमार्जुनकी भाँति प्राणविसर्जनतकका प्रणकर भगवदाज्ञानुसार कार्यक्षेत्रमें अवतीर्ण होनेभरकी देर है।

प्रेमसे ही परमात्मा मिल सकते हैं

मनुष्य स्वभावसे ही दुःखोंके प्रति वैराग्य और आनन्दके प्रति प्रेमका भाव रखता है। संसारमें कोई भी मनुष्य ऐसी इच्छा नहीं करता कि मुझे दुःख मिले या सुख न मिले। परन्तु भूलसे वह दुःखोंसे भरी वस्तुओंमें सुख समझकर उनमें फँस जाता है। पारधी पक्षियोंको पकड़नेके लिये दाने बिखेरता है। मूर्ख पक्षी उन्हें अपने फँसनेका सामान न समझकर उनमें सुख मान लेते हैं। अग्निको रमणीय और सुखरूप समझकर पतङ्ग उसमें गिरकर जल मरते हैं। इसी प्रकार हमलोग भी प्रकृतिके फैलाये हुए इस जालको सुखरूप समझकर उसमें फँस जाते हैं। जैसे कोई समझदार पखेरू दूसरोंको फँसे हुए समझकर दानोंके मोहसे जालमें नहीं फँसता, इसी प्रकार ज्ञानी पुरुष भी इन भोगोंमें नहीं फँसते। परन्तु अज्ञानी फँसकर बारंबार दुःख भोगते हैं। सिंह-व्याघ्रादि पशु उतने दुःखदायी नहीं हैं जितने ये स्त्री, पुत्र, धन, मान, शरीरादि विषयोंकी आसक्ति दुःखदायिनी है। ये मोहसे रमणीय माल्म होते हैं, परन्तु परिणाममें दुःखसे भरे हुए हैं।

इन पदार्थोंमें कोई भी स्थायी नहीं है। जो स्थायी नहीं, वह अन्तमें छूटते समय दुःख देनेवाला होता है। इनके सेवनमें भी सुख नहीं है। एक बार मीठा अच्छा माल्म होता है, ज्यादा खाइये अरुचि हो जायगी। इसी तरह स्त्री आदि पदार्थ भी अरुचिकर प्रतीत होने लगते हैं ? धनमें भी सुख नहीं है। मान लीजिये एक आदमीके पास लाखों रुपये हो गये, उसने मकान, मोटर खरीदकर खूब मौज

उड़ायी। भाग्यवश धन नष्ट हो गया। मौजका सारा सामान जाता रहा। अब पहली बात याद आते ही दारुण दुःख होता है। दूसरे धनियोंको जाते-आते और मौज करते देखकर उसका चित्त जलने लगता है, इसी प्रकार स्त्री-सम्भोगादिसे धातुक्षीण वगैरहकी बीमारियाँ होनेपर महान् क्लेश हो जाता है। सोचता है, बीमारी अच्छी हो जानेपर फिर ऐसा नहीं करूँगा, परन्तु मोहवश फिर भी उसी रास्तेपर चलता है, इसी प्रकार परलोकके भोग भी दुःखरूप ही हैं। धन कमानेमें, उसकी रक्षा करनेमें, लगाने, लग जाने और छूट जानेमें क्लेश होता है। धन पैदा करनेमें अन्याय भी होता है। मन रोकता है पर फिर लोभकी वृत्ति दबाती है कि एक बार ऐसा कर लें, फिर नहीं करेंगे। दुविधा मच जाती है। हृदयमें युद्ध ठन जाता है। सात्त्विकी और तामसी वृत्तियाँ आपसमें लड़ने लगती हैं, बड़ी बुरी अवस्था होती है। अन्तमें जैसे बिल्ली कबूतरको दबा लेती है उसी प्रकार तामसी वृत्ति उसे दबा लेती है। बहुत थोड़े मनुष्य इससे बचते हैं। धन इकट्ठा कर लेनेके बाद उसकी रक्षा करनेमें बड़ा परिश्रम होता है। हाथसे किसीको दिया जाता नहीं, यों करते-करते मृत्यु उपस्थित हो जाती है। तब सोचता है कि 'हाय! मैंने क्या किया? व्यर्थ ही रुपये कमाये, अब छोड़ने पड़ते हैं।' इस तरह दुःखसागरमें गोते लगाता हुआ ही मर जाता है। तात्पर्य यह है कि संसारके सभी भोग शहद लिपटे हुए विषके समान हैं। ये केवल देखनेमात्रके रमणीय और इनमें केवल माननेमात्रका ही सुख है। यह केवल मृगतृष्णा है, इसमें कहीं भी आनन्दका लेश नहीं है, फिर इसमें प्रेम करना मूर्खता नहीं तो और क्या है? सच्चा सुख तो एक

प्रेमसे ही परमात्मा मिल सकते हैं

मनुष्य स्वभावसे ही दुःखोंके प्रति वैराग्य और आनन्दके प्रति प्रेमका भाव रखता है। संसारमें कोई भी मनुष्य ऐसी इच्छा नहीं करता कि मुझे दुःख मिले या सुख न मिले। परन्तु भूलसे वह दुःखोंसे भरी वस्तुओंमें सुख समझकर उनमें फँस जाता है। पारधी पक्षियोंको पकड़नेके लिये दाने बिखेरता है। मूर्ख पक्षी उन्हें अपने फँसनेका सामान न समझकर उनमें सुख मान लेते हैं। अग्निको रमणीय और सुखरूप समझकर पतङ्ग उसमें गिरकर जल मरते हैं। इसी प्रकार हमलोग भी प्रकृतिके फैलाये हुए इस जालको सुखरूप समझकर उसमें फँस जाते हैं। जैसे कोई समझदार पखेरू दूसरोंको फँसे हुए समझकर दानोंके मोहसे जालमें नहीं फँसता, इसी प्रकार ज्ञानी पुरुष भी इन भोगोंमें नहीं फँसते। परन्तु अज्ञानी फँसकर बारंबार दुःख भोगते हैं। सिंह-व्याघ्रादि पशु उतने दुःखदायी नहीं हैं जितने ये स्त्री, पुत्र, धन, मान, शरीरादि विषयोंकी आसक्ति दुःखदायिनी है। ये मोहसे रमणीय मालूम होते हैं, परन्तु परिणाममें दुःखसे भरे हुए हैं।

इन पदार्थोंमें कोई भी स्थायी नहीं है। जो स्थायी नहीं, वह अन्तमें छूटते समय दुःख देनेवाला होता है। इनके सेवनमें भी सुख नहीं है। एक बार मीठा अच्छा मालूम होता है, ज्यादा खाइये अरुचि हो जायगी। इसी तरह स्त्री आदि पदार्थ भी अरुचिकर प्रतीत होने लगते हैं? धनमें भी सुख नहीं है। मान लीजिये एक आदमीके पास लाखों रुपये हो गये, उसने मकान, मोटर खरीदकर खूब मौज

उड़ायी। भाग्यवश धन नष्ट हो गया। मौजका सारा सामान जाता रहा। अब पहली बात याद आते ही दारुण दुःख होता है। दूसरे धनियोंको जाते-आते और मौज करते देखकर उसका चित्त जलने लगता है, इसी प्रकार स्त्री-सम्भोगादिसे धातुक्षीण वगैरहकी बीमारियाँ होनेपर महान् क्लेश हो जाता है। सोचता है, बीमारी अच्छी हो जानेपर फिर ऐसा नहीं करूँगा, परन्तु मोहवश फिर भी उसी रास्तेपर चलता है, इसी प्रकार परलोकके भोग भी दुःखरूप ही हैं। धन कमानेमें, उसकी रक्षा करनेमें, लगाने, लग जाने और छूट जानेमें क्लेश होता है। धन पैदा करनेमें अन्याय भी होता है। मन रोकता है पर फिर लोभकी वृत्ति दबाती है कि एक बार ऐसा कर लें, फिर नहीं करेंगे। दुविधा मच जाती है। हृदयमें युद्ध ठन जाता है। सात्त्विकी और तामसी वृत्तियाँ आपसमें लड़ने लगती हैं, बड़ी बुरी अवस्था होती है। अन्तमें जैसे बिल्ली कबूतरको दबा लेती है उसी प्रकार तामसी वृत्ति उसे दबा लेती है। बहुत थोड़े मनुष्य इससे बचते हैं। धन इकट्ठा कर लेनेके बाद उसकी रक्षा करनेमें बड़ा परिश्रम होता है। हाथसे किसीको दिया जाता नहीं, यों करते-करते मृत्यु उपस्थित हो जाती है। तब सोचता है कि 'हाय! मैंने क्या किया? व्यर्थ ही रुपये कमाये, अब छोड़ने पड़ते हैं।' इस तरह दुःखसागरमें गोते लगाता हुआ ही मर जाता है। तात्पर्य यह है कि संसारके सभी भोग शहद लिपटे हुए विषके समान हैं। ये केवल देखनेमात्रके रमणीय और इनमें केवल माननेमात्रका ही सुख है। यह केवल मृगतृष्णा है, इसमें कहीं भी आनन्दका लेश नहीं है, फिर इसमें प्रेम करना मूर्खता नहीं तो और क्या है? सच्चा सुख तो एक

परमात्मामें है। वही परम आनन्दस्वरूप है—यही संत, महात्मा और शास्त्रोंका कथन है। इस सुखके सामने त्रैलोक्यका राज्य भी तुच्छ है। श्रीमद्भगवद्गीतामें कहा है—

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥
(६। २२)

'जिस लाभको पाकर उससे अधिक दूसरा कुछ भी लाभ नहीं मानता और भगवत्-प्राप्तिरूप जिस अवस्थामें स्थित हुआ योगी बड़े भारी दुःखसे भी चलायमान नहीं होता।'

इस आनन्दके प्राप्त होनेपर शरीरके यदि टुकड़े-टुकड़े भी कर दिये जायँ तो भी वह विचलित नहीं होता। घर-द्वार सबका सर्वनाश हो जाय तो भी उसके आनन्दमें किसी प्रकारकी कमी नहीं होती, वह तो उस परमात्माको प्राप्तकर स्वयं ही परमानन्द-रूप हो गया है। उसे किसी वस्तुकी कोई आवश्यकता नहीं।

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके।
(गीता २। ४६)

जैसे सब ओरसे जल प्राप्त होनेपर कुएँकी आवश्यकता नहीं रहती, इसी प्रकार उस ब्रह्मानन्दकी प्राप्ति हो जानेपर किसी भी वस्तुकी अपेक्षा नहीं रहती। इस प्रकारका अतुल आनन्द प्रेमसे मिल सकता है। अतएव स्त्री-पुत्र, धन-मानादि अनर्थकारक दुःखदायी पदार्थोंसे प्रेम हटाकर उस आनन्दमयसे प्रेम करना चाहिये। जिससे उस अखण्ड

एकरस परमानन्दकी प्राप्ति हो। इस विवेचनसे यह सिद्ध हुआ कि संसारसे वैराग्य और परमात्मासे प्रेम करनेमें ही कल्याण है।

प्रेमका स्वरूप क्या है ?

वास्तवमें प्रेमका स्वरूप अनिर्वचनीय है। कुछ कहा नहीं जा सकता, परन्तु उसका कुछ अनुमान किया जाता है। प्रेम होनेपर प्रेम करनेके लिये कहा नहीं जाता। लोभीको यह कहना नहीं पड़ता कि तुम रुपयोंसे प्रेम करो। कभी बाप-दादेने भी पारस आँखसे नहीं देखा परन्तु लोभीको पारस बड़ा प्यारा है। नाम सुनते ही मुख खिल उठता है। इसी प्रकार भगवान्‌में प्रेम होनेपर उसका नाम सुनते ही परम आनन्द होता है। लोभीको धनकी और कामीको जैसे सुन्दर स्त्रियोंकी बातें अच्छी लगती हैं, इसी प्रकार भगवत्प्रेमीको भगवान्‌की बातें प्राणप्यारी लगती हैं। जैसे अपने प्रेमी मित्रका नाम सुनते ही उस तरफ ध्यान चला जाता है और उसकी बातें सुहावनी लगती हैं वैसे ही भगवत्प्रेमी-को भगवान्‌की बातें सुहाती हैं। प्रेम और मोहमें बड़ा अन्तर है। प्रेम विशुद्ध है, मोह कामनासे कलङ्कित है। मोहमें स्वार्थ है, वह छूट सकता है, प्रेम स्वार्थरहित और नित्य है। बालकका मातामें एक मोह होता है, जिससे वह माताके पास तो रहना चाहता है, परन्तु उसके आज्ञानुसार काम करनेके लिये तैयार नहीं रहता। प्रेममें ऐसा नहीं होता। वहाँ तो अपने प्रेमास्पदको कैसे सुख पहुँचे, कैसे उसका कोई प्रिय कार्य मैं कर सकूँ, इसी बातकी खोजमें प्रेमी रहता है। परन्तु ऐसे बहुत कम लोग होते हैं।

भगवान् और उनके भक्तोंमें ही ऐसे भाव प्रायः पाये जाते हैं।

हेतु रहित जग जुग उपकारी। तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी॥
उमा राम सम हित जग माहीं। गुरु पितु मातु बंधु कोउ नाहीं॥
सुर नर मुनि सबकै यह रीती। स्वारथ लागि करहिं सब प्रीती॥

भगवान् राम मित्रताके लक्षण बतलाते हुए सुग्रीवसे कहते हैं-

जे न मित्र दुख होहिं दुखारी।
तिन्हहि बिलोकत पातक भारी॥
निज दुख गिरि सम रज करि जाना।
मित्रक दुख रज मेरु समाना॥
जिन्ह कें असि मति सहज न आई।
ते सठ कत हठि करत मिताई॥
कुपथ निवारि सुपंथ चलावा।
गुन प्रगटै अवगुनन्हि दुरावा॥
देत लेत मन संक न धरई।
बल अनुमान सदा हित करई॥
बिपति काल कर सतगुन नेहा।
श्रुति कह संत मित्र गुन एहा॥
सखा सोच त्यागहु बल मोरें।
सब बिधि घटब काज मैं तोरें॥

भगवान्‌ने इसको यों ही निबाहा। सीताके विरह-दुःखको सहन कर पहले सुग्रीवके दारुण दुःखको दूर किया।

शुद्ध प्रेम केवल सत्-जनोंमें ही होता है, संसारमें मोह और

काम ही अधिक है। भाई या स्त्री बड़ा प्रेम करते हैं, ऐसा मालूम होता है, परन्तु उसमें भी मोह रहता है। यदि ऐसा न होता तो उसके मनके अनुसार उनके आचरण होते, जिस बातमें वह सुखी होता है उसी बातको वह मानते और करते, वह खद्दर पहनता और उसे अच्छा समझता है तो उसके पुत्र, भाई या उसकी स्त्री भी खद्दर ही पहनती। पर ऐसा बहुत कम होता है। कारण यही है कि प्रेम कम है, मोह या काम अधिक है। इससे उनके आचरण अपने इच्छानुकूल होते हैं। ऐसी स्त्री पतिसे अपने सुखके लिये ही प्रेम करती है, पतिके सुखके लिये नहीं। इसका नाम प्रेम नहीं है। भगवान्‌में ऐसा मोह होना भी उत्तम है परन्तु प्रेम कुछ और ही वस्तु है। प्रेममें भी यदि विशुद्ध भाव हो तो उसका कहना ही क्या है? वास्तवमें साधकके लिये यह प्रेम सुगम है। रुपयेके प्रेमसे इसमें कम परिश्रम है। क्योंकि रुपयेमें केवल हम प्रेम करते हैं, रुपया जड होनेसे हमसे प्रेम नहीं कर सकता। परन्तु भगवान् तो जड नहीं हैं, परम प्रेमी हैं, हम जितना प्रेम करते हैं उससे कहीं अधिक वह हमसे करते हैं। अतएव इसमें शीघ्रतासे सिद्धि होती है, इसी प्रकार महात्माओंका प्रेम भी हमारे ही हितके लिये होता है। हम यदि एक बार प्रेम करना चाहते हैं तो वे चार बार करते हैं। इसमें उनका कोई स्वार्थ नहीं रहता।

माताके प्रेममें भी मोह और काम रहता है। श्राद्ध, पिण्ड और सेवा आदिका स्वार्थ रहता है। कुछमें केवल मोह रहता है। जैसे एक बुढ़ियाके नाती है, वह उसपर बहुत अधिक स्नेह रखती

है, उसे कोई फलकी आशा नहीं है, क्योंकि नातीके बड़े होनेतक उसके मरनेकी सम्भावना है, इस बातको वह जानती है, इसी प्रकार किसी माताके एक दुराचारी, कुटिल, माता, पिता और परिवारको सतानेवाला कुपुत्र है। उसने चोरी की, वह जेल गया, माता उसके लिये रोती है, उससे कोई भी सुखकी आशा नहीं, तो भी उसे छुड़ानेका उपाय करती है, इसीलिये कि पुत्रमें उसका मोह है। प्रेम इससे विलक्षण है। परमात्मामें स्वार्थरहित अनन्यप्रेम होनेसे ही परम लाभ होता है। प्रेम है, है भी निष्काम, परन्तु थोड़ा है तो उससे भगवत्-प्राप्ति शीघ्र नहीं होती। विशुद्ध और अनन्य प्रेम ही भगवत्-प्राप्तिका मूल्य है। स्त्री-पुत्र आदि भोग-पदार्थ या स्वर्ग-सुखके लिये जो प्रेम है वह प्रेम भगवान्‌से नहीं, जिन भोगोंके लिये है, उनसे है। यद्यपि मुक्तिके लिये प्रेम होना अच्छा है, पर सर्वोच्च प्रेम वह है, जो केवल प्रेमके लिये होता है और उसीका नाम विशुद्ध प्रेम है। किसी संत और सत्सङ्गियोंका पारस्परिक प्रेम भी बिल्कुल निःस्वार्थ नहीं कहा जा सकता, निःस्वार्थ होता तो संत यह क्यों चाहता कि सत्सङ्गमें अधिक आदमी आवें और ठीक समयपर आवें। इससे पता लगता है कि कुछ स्वार्थ है, अवश्य ही वह स्वार्थ उत्तम है। सत्सङ्गियोंमें भी कई तरहके स्वार्थ होते हैं। कोई धनके लिये आते हैं, कोई भजन-ध्यान अधिक बढ़नेकी आशासे आते हैं, कोई मानके लिये आते हैं तो कोई यही समझते हैं कि कुछ-न-कुछ लाभ तो होगा ही। इस तरह स्वार्थ रहता है। यदि सत्सङ्गियोंकी इच्छाके विरुद्ध कुछ कहा जाय तो वे सुनते ही नहीं। लापरवाही कर जाते हैं। यदि संत किसी

हेतुसे कोई अपने स्वार्थकी बात कहने लगे तो सम्भवतः दो-चार बार तो लोग सुन लेते हैं पर अन्तमें घृणा हो जाती है। भक्तिके प्रचारमें भी यदि प्रचारकका स्वार्थ दृष्टिगोचर हो जाय तो लोग उसे तुरंत छोड़ देते हैं। संतके द्वारा अकस्मात् ली हुई परीक्षामें तो शायद ही कोई उत्तीर्ण हो, या तो लोग उसे पागल समझ बैठें या स्वार्थी और अन्तमें उसे छोड़ ही दें। एक दृष्टान्त है—

किसी गाँवमें दो साधक थे, वे रोज गाँवसे रोटी माँग लाया करते और गाँवसे बाहर किसी वृक्षके नीचे बैठकर उन्हें एक वक्त खा लेते और वहीं रात-दिन भजन-ध्यानमें मस्त रहते, उनके भजनकी मस्तीको देखकर लोग उनके पास आने-जाने लगे, गाँवमें उनकी कीर्ति फैल गयी। राजातक बात पहुँची। राजाने भी दर्शन करनेका विचार किया। लोगोंने आकर उन दोनोंसे कहा कि आज आपका दर्शन करने महाराजा स्वयं पधारते हैं। उन दोनोंने सोचा कि यह तो बड़ी विपत्ति आयी। साधक कहीं मान-बड़ाई पाने लगे और यदि उनमें उसका मन लग जाय तो उसके गिरनेमें देर नहीं लगती। यह विचारकर उन लोगोंने राजाकी सवारी दूरसे देखकर ही रोटियोंपर आपसमें लड़ना शुरू कर दिया। इतनेमें राजाकी सवारी वहाँ आ पहुँची। उन लोगोंको पतली-मोटी और एक-एक, आधी-आधी रोटियोंके लिये लड़ते देखकर राजाने अपने मनमें समझ लिया कि यहाँ कोई सार नहीं है। राजा वहाँसे लौट गया। स्वार्थके बनावटी दृश्यसे भी जब प्रेम दूर भागता है तब असली स्वार्थमें तो प्रेमका रहना असम्भव ही-सा

है । इसलिये परमात्मासे स्वार्थरहित प्रेम ही करना चाहिये । सच्चे अनन्य विशुद्ध प्रेमके समान दूसरी वस्तु जगत्‌में कोई भी नहीं है, परमेश्वर इसीसे मिलते हैं, वही उसकी कीमत है। जब यह प्रेम जागरित होता है, तब फिर उसे सिवा भगवान्‌के और कोई वस्तु अच्छी ही नहीं लगती । हमलोग भगवान्‌की पूजा करते हैं, वे ग्रहण नहीं करते । क्या कारण है, प्रेम नहीं है । प्रेम हो तो वे अवश्य ग्रहण करें । गीतामें भगवान्‌ने श्रीमुखसे कहा है—

> पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
> तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥
> (९ । २६)

भगवान् हमारे फल-फूल और पत्तोंके भूखे नहीं हैं, वे भूखे हैं प्रेमके । वे ढूँढ़ते हैं दुनियामें किसी सच्चे प्रेमीको । सच्चा प्रेमी वही है जो भगवान्‌के लिये अपनी खाल खिंचवाता हुआ भी रोम-रोमसे स्वाभाविक प्रसन्नता झलका सकता है । जिन वस्तुओं-को वह अपनी समझता है, उन्हें भगवान् स्वीकार कर लेते हैं तो उसे बड़ी प्रसन्नता होती है । वह समझता है कि इनसे मेरा अहङ्कार चला गया । बात भी ठीक है । जिस चीजको मनुष्य अपनी समझता है उसे कोई-कोई श्रेष्ठ पुरुष भी स्वीकार नहीं करता, तब भगवान् तो कैसे करने लगे ? जब भगवान्‌ने हमारी दी हुई वस्तु स्वीकार कर ली तो अहङ्कार गया ! वास्तवमें तो सभी कुछ भगवान्‌का है, हमने भूलसे अपना समझ रक्खा है । यही भाव तो हटाना है । जिस दिन वस्तुओंसहित भगवान्‌ने हमें

अपना लिया, उस दिन समझ लो कि भगवान् हमारे हो गये।

जब भगवान्‌में विशुद्ध प्रेम हो जाता है तब फिर संसारमें किसीसे भी भय या प्रेम नहीं रहता और न वह किसी अपमानकी ही परवा करता है। जिस तरह जोरकी बाढ़में गङ्गातीरके सब वृक्ष बह जाते हैं, इसी प्रकार प्रेमकी प्रबल धारामें मान, अपमानादि सब बह जाते हैं। जैसे ध्यानमें स्थित योगीकी वृत्ति भगवान्‌के सामने बहती है, इसी प्रकार प्रेमधारा भी भगवदभिमुखी बहने लगती है। इस अवस्थाका आनन्द वर्णनातीत है। इसमें अहंकारसे उत्पन्न होनेवाले लज्जा, भय, मान आदि सब दोष दूर हो जाते हैं, सारे द्वन्द्व मिट जाते हैं, प्रेमी एक शवके समान हो जाता है। भगवान् भी हर समय ऐसे प्रेमके अधीन रहते हैं। जो भगवान्‌को अपना सर्वस्व अर्पण कर देता है, भगवान् भी उसे अपना सब कुछ सौंप देते हैं। प्रेम बढ़नेपर शरीरमें रोमाञ्च होता है, पूर्णिमाके चन्द्रमाको देखकर जैसे समुद्र उछलने लगता है, उसी तरह भगवान्‌के मोहन-मुखकमलको देखकर प्रेमी भक्तके हृदयमें भी आनन्दकी लहरें उछालें मारने लगती हैं। उसके हृदयमें प्रेमका समुद्र उमड़ता है, जो उसमें समाता नहीं, कण्ठावरोध हो जाता है, वाणी गद्गद हो जाती है, नेत्र और नासिकासे प्रेम धारा-रूपसे बहने लगता है और अन्तमें भृकुटि तथा ब्रह्माण्डतक पहुँचकर उस प्रेमीको बेहोश कर देता है। उसकी अवस्था अचल प्रतिमाके समान हो जाती है।

जब भगवान्‌के लिये व्याकुलता होती है तब भगवान् भी

भक्तके लिये व्याकुल हो उठते हैं। सीता अशोकवाटिकामें रामके लिये विलाप करती है तो राम भी सीताके लिये व्याकुल होकर उसे वन-वनमें खोजते हैं।

यदि आज हम भगवती रुक्मिणी या द्रौपदीकी तरह व्याकुल हों तो भगवान् भी उसी तरह व्याकुल होकर हमें दर्शन देनेके लिये अवश्य पधारेंगे। भगवान् विधिसे प्रसन्न नहीं होते हैं, उन्हें चाहिये प्रेम। प्रेममें नियमकी आवश्यकता नहीं। नियम है तो प्रेम उच्च नहीं है। प्रेममें नीति-मानादिका सर्वथा स्वाभाविक ही अभाव होता है। नियम तोड़ने नहीं पड़ते। टूट जाते हैं। इसी अवस्थामें सच्चा प्रेम खिलता है। यहाँ स्वाँग नहीं होता। भक्त प्रेमरूप होकर भगवान्में अभिन्नरूपसे मिल जाता है। यही विशुद्ध प्रेम है, भगवान्का यही सच्चा स्वरूप है। भाग्यवती गोपियोंमें यही सच्चा प्रेम था, उनके प्रेमको देखकर स्थावर जीव भी पिघल जाते थे, तब मनुष्योंकी तो बात ही क्या है? उस प्रेम-विह्वलतासे सनी हुई वायु भी प्रेमका प्रवाह बहा देती है। जिस जगह प्रेमी विचरता है वहाँकी सभी वस्तुएँ प्रेममय बन जाती हैं। प्रेमीके द्वारा स्पर्श की हुई जगह तथा उसके चरणोंको छू जानेवाली धूलि भी प्रेमस्वरूप बन जाती है। इस रहस्यको भगवत्प्रेमी ही जानते हैं, ऐसा प्रेम सिवा भगवान्के और किसी दूसरेमें नहीं हो सकता। जिस प्रेम-चर्चाको सुनकर श्रीउद्धव प्रेमके प्रवाहमें बह गये थे, यदि उसे हम सुनें तो हमारी भी वही दशा हो, पर वह सुननेको मिले कहाँ? स्वाँगमें वह बात नहीं हो सकती! वास्तवमें हो तभी हो सकती है!

जब एक सुन्दर स्त्रीके कटाक्षोंसे घायल मनुष्यको जगत्-भरमें वह स्त्री-ही-स्त्री दीखती है और वह उसीमें बड़ा आनन्द मानता और पागल हुआ घूमता है, जो एक अत्यन्त तुच्छ बात है तो फिर जिसको उस परमानन्दस्वरूप परमात्मा श्यामसुन्दरके कटाक्षवाण लग जायँ, उसकी क्या दशा होती होगी ? वह किस आनन्दमें मतवाला होगा ? उसे जगत्में क्या दीखता होगा ? यह बात न तो कल्पनामें आ सकती और न कोई इसके साथ तुलना करनेलायक पदार्थ ही दीखता है। यदि इसे धूलिकण और उसे पृथ्वी या इसे दर्पणका सूर्य और उसे सच्चा सूर्य कहें तो भी उचित नहीं होता। जैसे बर्फकी पुतली समुद्रकी गहराई नापकर नहीं बतला सकती, वैसे ही इस आनन्दका अनुभव भी नहीं लगाया जा सकता। वास्तवमें वह भगवत्प्रेमी बर्फकी पुतलीकी भाँति भगवत्स्वरूप ही हो जाता है। उससे भगवत्के स्वरूपके वर्णनकी आशा नहीं की जा सकती, क्योंकि वह भगवान्से अलग रह नहीं जाता और दूसरा कोई बतला नहीं सकता। यद्यपि परमेश्वरकी प्राप्तिके बाद भी प्रेमीका पूर्वदेह हमलोगोंके दृष्टिगोचर होता है, पर वह है प्रेमस्वरूप ही। वह जिस तरफ जाता है, उधर ही प्रेमकी वर्षा करता है। वर्षाकी भाँति उसकी दृष्टि ही लोगोंको प्रेमसुधासे भिगो देती है। ऐसे पुरुषोंके भी दर्शन कठिन हैं, फिर भगवान्के दर्शन-का तो कहना ही क्या है ? परन्तु प्रेम होनेसे उसका प्राप्त होना भी बहुत सहज है। भगवान् दयामय हैं। वे यदि हमारे कर्मोंकी ओर देखें तो हमारा निस्तार कठिन है, परन्तु वे ऐसा नहीं करते। वे प्रेमके बदलेमें अपनेको बेच डालते हैं। इस बातको जो

जान लेता है, वह तो उनके शरणागत हो उन्हें प्राप्त ही कर लेता है।

भगवान् श्रीरामके प्रेममें मत्त भरत जब चित्रकूट जा रहे थे, तब उनके प्रेमको देखकर जड चेतन और चेतन जडरूप हो गये। जब भरतके दर्शनमात्रसे जड चेतन और चेतन जड हो चले, तब स्वयं भरतकी क्या दशा हुई थी सो तो भरत ही जानें। इस प्रकार का स्वार्थहीन प्रेम ही शुद्ध, अलौकिक और उज्ज्वल प्रेम कहलाता है। इसमें न मलिनता है और न व्यभिचार है। यह तो देदीप्यमान प्रकाश है, सूर्यकी तरह नहीं, परन्तु परम ज्ञानमयी निर्मल ज्योतिसे युक्त है। अमृतसे भी अधिक अमर करनेवाला और स्वादिष्ट है। इसी सच्चे आनन्दके सत्य-स्वरूपके लिये हमें प्रयत्न करना चाहिये। क्षणिक सुखरूप भोगोंसे, जो वास्तवमें दुःख ही है, वैराग्य करना और उस प्रेममय परमात्मामें मन लगाकर उससे प्रेम करना चाहिये। जिस दिन हमारे प्रेमका अविच्छिन्न स्वरूप होगा, उसी दिन परमात्माकी प्राप्ति हो जायगी। अतएव यदि पाठक-पाठिकागण इस बातपर विश्वास करते हों और उन्हें परमेश्वर-प्राप्तिके साधनमें तत्पर होनेसे प्राप्त होनेकी पूरी आशा हो तो सच्चे दिलसे इन अनित्य, दुःखरूप भ्रान्तिमात्र-से प्रतीत होनेवाले सांसारिक भोगोंको मनसे त्याग, इनसे वृत्तियाँ हटाकर उस शुद्ध सच्चिदानन्दघन परमात्मामें अनन्यप्रेमभावसे लगनेमें तत्पर होना चाहिये। परमात्माको प्राप्त करनेके लिये प्रेम ही प्रधान उपाय है।

प्रेमका सच्चा स्वरूप

आज परम दयालु परमात्माकी कृपासे प्रेमके सम्बन्धमें कुछ लिखनेका साहस कर रहा हूँ। यद्यपि मैं इस विषयमें अपनेको असमर्थ समझता हूँ, क्योंकि प्रेमकी वास्तविक महिमापर वे ही पुरुष कुछ लिख सकते हैं, जो पवित्रतम भगवत्-प्रेमके रस-समुद्रमें निमग्न हो चुके हों। प्रेमका विषय इतना गहन और कल्पनातीत है कि उसकी तहतक विद्वान् और ज्ञानी भी नहीं पहुँच सकते, फिर वाणी और लेखनीकी तो बात ही कौन-सी है? शेष, महेश, गणेश एवं शुकदेव तथा नारद आदि, जो भगवान्के प्रेमियोंमें सर्वशिरोमणि समझे जाते हैं, वे भी जब प्रेम-तत्त्वका सम्यक् वर्णन करनेमें अपनेको असमर्थ पाते हैं, तब मुझ-जैसा साधारण मनुष्य तो किस गिनतीमें है? अन्तःकरणमें जब प्रेम-रसकी बाढ़ आती है, तब मनुष्यके सम्पूर्ण अंग पुलकित हो उठते हैं, हृदय प्रफुल्लित हो जाता है, वाणी रुक जाती है और नेत्रोंसे आँसुओंकी अजस्र धारा बहने लगती है, शास्त्र और प्रेमी महात्माओंका ऐसा ही कथन और अनुभव है। परंतु यह सब प्रेमके बाहरी चिह्न हैं; इसीसे इनका भी वर्णन किया जा सकता है। हृदयमें प्रेमका समुद्र उमड़ आनेपर जब प्रेमी उसमें डूब जाता है, उस अवस्थाका वर्णन तो वह स्वयं भी नहीं कर सकता, फिर दूसरेकी तो सामर्थ्य ही क्या है? श्रीराम और भरतके प्रेममिलनके प्रसङ्गमें गोसाईंजी महाराज अपनी असमर्थता प्रकट करते हुए कहते हैं—

> कहहु सुप्रेम प्रगट को करई।
> केहि छाया कबि मति अनुसरई॥

कबिहि अरथ आखर बलु साँचा ।
अनुहरि ताल गतिहि नटु नाचा ॥
अगम सनेह भरत रघुबर को ।
जहँ न जाइ मनु बिधि हरि हर को ॥
सो मैं कुमति कहौं केहि भाँती ।
बाज सुराग कि गाँडर ताँती ॥

ऐसी स्थितिमें मैं तो जो कुछ लिख रहा हूँ, सो केवल अपने मनोविनोदके लिये ही समझना चाहिये । त्रुटियोंके लिये प्रेमी सज्जन क्षमा करें !

प्रेमका तत्त्व परम रहस्यमय है । जिसने इस तत्त्वको पहचान लिया, वह तो प्रेममय ही बन गया । प्रेमके यथार्थ रहस्यको तो पूर्णरूपसे केवल पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् श्रीवासुदेव ही जानते हैं अथवा थोड़ा-बहुत इसका ज्ञान उनके प्रेमी भक्तोंको है । इसीलिये उन निष्काम-प्रेमके तत्त्वको जाननेवाले ज्ञानी भक्तोंकी गीतामें भगवान्‌ने अपने श्रीमुखसे स्वयं प्रशंसा की है—

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥
(७ । १७)

'उन (चार प्रकारके भक्तों) में भी नित्य मुझमें एकीभावसे स्थित हुआ अनन्य-प्रेम-भक्ति-सम्पन्न ज्ञानी भक्त अति उत्तम है, क्योंकि मुझको तत्त्वसे जाननेवाले ज्ञानीको मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और वह मुझको अत्यन्त प्रिय है ।'

वास्तवमें प्रेम भगवान्‌का साक्षात् स्वरूप ही है । जिसको विशुद्ध सच्चे प्रेमकी प्राप्ति हो गयी, वह भगवान्‌को पा चुका। भगवान् प्रेममय हैं और भगवान् ही प्रेम करनेके योग्य हैं । अतएव चाहे जैसे भी हो, हमलोगोंको सब प्रकारसे भगवान्‌में अनन्य और विशुद्ध-प्रेम करनेकी कोशिश करनी चाहिये । यहाँ ये प्रश्न उठते हैं कि भगवान् कैसे हैं ? उनका क्या स्वरूप है ? और उनमें प्रेम किस प्रकारसे किया जा सकता है ? इनका उत्तर संक्षेपमें यों समझना चाहिये कि वे सर्वव्यापक भगवान् अमृतमय हैं, सुखस्वरूप हैं और नित्य, सत्य, विज्ञान-आनन्दघन हैं । भगवान्‌ने स्वयं कहा है—

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च ।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥

(गीता १४ । २७)

'अविनाशी परब्रह्मका और अमृतका तथा नित्य (सनातन) धर्मका और अखण्ड एकरस आनन्दका आश्रय मैं ही हूँ अर्थात् ब्रह्म, अमृत, अव्यय, शाश्वत धर्म और ऐकान्तिक सुख यह सब मेरे ही नाम हैं ।' ऐसे परमात्मा समस्त भूतप्राणियोंके हृदयमें आत्मरूपसे निवास करते हैं । वे कहते हैं—

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च ॥

(गीता १० । २०)

'हे अर्जुन ! मैं सब भूतोंके हृदयमें स्थित सबका आत्मा हूँ और समस्त भूतोंका आदि, मध्य और अन्त भी मैं ही हूँ ।' इस प्रकार-

से परमात्माके स्वरूपको समझकर सर्वभूतस्थित परमात्माके साथ विशुद्ध प्रेम करना ही सच्चा प्रेम करना है। विश्वके सारे जीव परमात्माके निवास-स्थान हैं, इसका अनुभव कर सभीके साथ विशुद्ध प्रेम करनेके लिये विशेष प्रयत्न करना चाहिये। जो पुरुष इस भगवत्प्रेमके रहस्यको भलीभाँति समझ लेता है, उसका सभी प्राणियोंके साथ अपने आत्माके समान प्रेम हो जाता है, ऐसे प्रेमीकी प्रशंसा करते हुए भगवान्‌ने कहा है—

> आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
> सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥
>
> (गीता ६। ३२)

'हे अर्जुन! जो योगी अपनी सादृश्यतासे सम्पूर्ण भूतोंमें सम देखता है और सुख अथवा दुःखको भी सबमें सम देखता है, वह योगी परम श्रेष्ठ माना गया है।' अपनी सादृश्यतासे सम देखनेका यही अभिप्राय है कि जैसे मनुष्य अपने सिर, हाथ, पैर और गुदा आदि अंगोंके साथ ब्राह्मण, क्षत्रिय, शूद्र और म्लेच्छादिके समान बर्ताव करता हुआ भी उनमें समानरूपसे आत्मभाव रखता है अर्थात् सारे अंगोंमें अपनापन समान होनेसे सुख और दुःखको समान ही देखता है, वैसे ही सम्पूर्ण भूतोंमें समानभावसे देखना चाहिये। इस प्रकारके समत्वभावको प्राप्त भक्तका हृदय प्रेमसे सराबोर रहता है। वह केवल प्रेमकी ही दृष्टिसे सब ओर ताकना सीख जाता है, उसके हृदयमें किसीके भी साथ घृणा और द्वेषका लेश भी नहीं रहता। श्रुति कहती है—

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥
(ईश० ६)

'जो विद्वान् सर्व भूतोंको अपने आत्मासे भेदरहित देखता है और अपने आत्माको सर्व भूतोंमें देखता है, वह किसीकी भी निन्दा नहीं करता ।'

दूसरा हो तो निन्दा करे, उसकी दृष्टिमें तो सम्पूर्ण संसार एक वासुदेवरूप ही हो जाता है । इस परम तत्त्वको न जाननेके कारण ही प्रायः मनुष्य राग-द्वेष करते हैं तथा परमात्माको छोड़कर सांसारिक तुच्छ विषयभोगोंकी ओर दौड़ते हैं और बारम्बार दुःखको प्राप्त होते हैं । मनुष्य जो स्त्री, पुत्र, धन आदि पदार्थोंमें सुख समझकर प्रेम करते हैं, उन आपातरमणीय विषयोंमें उन्हें जो सुखकी प्रतीति होती है, सो केवल भ्रान्तिसे होती है । वास्तवमें विषयोंमें सुख है ही नहीं, परंतु जिस प्रकार सूर्यकी किरणोंसे बिना ही हुए मरुभूमिमें जलकी प्रतीति होती है और प्यासे हरिण भ्रमसे उसकी ओर दौड़ते हैं और अन्तमें निराश होकर मर जाते हैं । ठीक इसी प्रकार सांसारिक मनुष्य संसारके पदार्थोंके पीछे सुखकी आशासे दौड़ते हुए जीवनके अमूल्य समयको व्यर्थ ही बिता देते हैं और असली नित्य परमात्मसुखसे वञ्चित रह जाते हैं ।

स्त्री-पुत्र-धन आदि पदार्थोंकी अपेक्षा मनुष्यको अपना जीवन अधिक प्रिय है, क्योंकि जीवनकी रक्षाके लिये मनुष्य स्त्री-पुत्र-धनादि सम्पूर्ण पदार्थोंको त्याग सकता है । इस जीवनसे भी आत्मा अधिक प्रिय है, क्योंकि आत्माके लिये मनुष्य जीवनके त्यागकी भी इच्छा

कर लेता है। विशेषरूपसे कष्टकी प्राप्ति होनेपर जब जीवन दुःखमय हो जाता है, तो मूर्खतासे वह आत्महत्या करनेके लिये अनेक प्रकारके प्रयत्न करता है एवं आत्माके यथार्थ तत्त्वको न जाननेके कारण दुःख-नाशका वास्तविक उपाय न कर आत्म-सुखकी इच्छासे आत्मघात कर बैठता है और उसके फलस्वरूप घोर नरकोंको प्राप्तकर दुःख भोगता है। मनुष्य-शरीरको प्राप्त होकर आत्म-तत्त्वको बिना जाने चले जाना भी एक प्रकारसे आत्मघात ही है। आत्मघातीकी गतिका वर्णन करती हुई श्रुति कहती है—

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥

(ईश० ३)

'जो मनुष्य आत्माके हनन करनेवाले हैं, वे मरकर घोर अन्धकारसे आच्छादित आसुरी योनियोंको प्राप्त होते हैं।' इस तत्त्वको समझकर मनुष्यको इस अज्ञानकृत आत्मघातसे बचना चाहिये और आत्माकी उन्नति एवं मुक्तिके लिये उस परम पिता परमेश्वरसे परम प्रेम करना चाहिये जो सबके आत्मा हैं। परमेश्वरमें प्रेम होना ही विश्वमें प्रेम होना है और विश्वके समस्त प्राणियोंमें प्रेम ही भगवान्‌में प्रेम है, क्योंकि स्वयं परमात्मा ही सबके आत्मरूपसे विराजमान हैं।

सबसे प्रेम करनेका सहज उपाय है स्वार्थ छोड़कर सेवा करना। 'स्वार्थ' शब्दसे केवल स्त्री-पुत्र-धन आदि ही नहीं समझने चाहिये, मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा, कीर्ति, सुन्दर लोकोंकी प्राप्ति आदि सभी कुछ स्वार्थके अन्तर्गत हैं। उन प्रेममूर्ति परमात्मासे

प्रेमहीके लिये सेवा और प्रेम करना चाहिये। जो पुरुष परमात्मासे प्रेम करनेकी चेष्टा करते हैं, प्रेमस्वरूप परमात्मा उन प्रेमी पुरुषोंके अत्यन्त ही समीप हैं। विशुद्ध प्रेममें आकर्षण करनेकी जितनी शक्ति है, उतनी चुम्बक आदि किसी भी पदार्थमें नहीं है, चुम्बक आदि पदार्थ तो केवल जडको ही टानते हैं, वे चेतनको नहीं खींच सकते। परंतु यह प्रेम ऐसा अनोखा चुम्बक है जो साक्षात् चेतनस्वरूप परमेश्वरको भी खींचनेकी सामर्थ्य रखता है। मित्रो! भगवान् अमूल्य वस्तु हैं, यद्यपि उनकी प्राप्तिकी वास्तविक पूरी कीमत हो ही नहीं सकती तथापि वे प्रेमीको बहुत ही सस्तेमें मिल जाते हैं। जब मनुष्य भगवत्-प्रेममें मत्त होकर अपने-आपको श्रीभगवान्‌के पावन चरणोंपर न्यौछावर कर देता है—भगवत्-प्रेमके लिये सहज ही परम उत्साहके साथ अपने प्राणोंको छोड़नेके लिये प्रस्तुत हो जाता है, तब भगवान् उसके प्रेमसे आकर्षित होकर प्रत्यक्ष प्रकट हो जाते हैं। प्रह्लादके लिये खम्भसे और गोपियोंके लिये मुरली-वनमें प्रकट होनेकी कथाएँ प्रसिद्ध हैं। क्या इस प्रकार भगवान्‌का मिल जाना बहुत ही सस्ता सौदा नहीं है? कहाँ हम और कहाँ शुद्ध सच्चिदानन्दघन परमात्मा। अरे, तुच्छ प्राणोंके बदले परमात्मा प्राप्त हो जायँ, तो और क्या चाहिये? कविने कहा है—

> जो सिर साटे हरि मिले, तो तेहि लीजे दौर।
> ना जानौं या देरमें, गाँहक आवै और॥
> सिर दीन्हे जो पाइये, देत न कीजै कानि।
> सिर साटे हरि मिलै तो, लीजै सस्ता जानि॥

सबै रसायन हम किये, हरि-रस-सम नहिं कोय।
रंचक घटमें संचरे, (तो) सब तन कंचन होय॥

प्रेमको पहचाननेवाले वह प्रभु केवल प्रेमको ही देखते हैं। जब मनुष्यका प्रेम अपने आत्मासे भी कहीं बढ़कर भगवान्‌में हो जाता है—जब वह प्राणोंसहित अपने सारे अपनेपनको, लोक-परलोकको भगवान्‌के अर्पण करनेके लिये तैयार हो जाता है, तब भगवान् उससे मिले बिना रह ही नहीं सकते। परन्तु प्रेम सच्चा होना चाहिये। झूठे प्रेमसे उन्हें कोई नहीं रिझा सकता।

कृष्ण कृष्ण सब ही कहै, ठग ठाकुर अरु चोर।
बिना प्रेम रीझें नहीं, प्रेमी नन्दकिसोर॥

सच्चे प्रेमीके हाथ तो वह बिक जाते हैं। प्रेम ही भगवान्‌का मूल्य है। प्रेमके रहस्यको जाननेवाला पुरुष भगवान्‌को प्राप्त किये बिना कैसे रह सकता है? क्योंकि भगवान्‌के बिना वह अपने जीवनको व्यर्थ समझता है, फिर तुच्छ जीवनके मूल्यमें ही जब भगवान् मिलनेके लिये बाध्य हैं, वह कैसे देर कर सकता है? भगवान्-सरीखी अमूल्य वस्तुको इतनी-सी कीमतके लिये वह कैसे छोड़ सकता है? जो भगवान्‌के इस प्रेम-तत्त्वको नहीं जानते, वे मनुष्यरूपमें भी पशुके ही समान हैं। ऐसे ही पशुधर्मी मनुष्य संसारके सुख-विलास और भोगोंके लिये जीवन धारण करके मनुष्य-शरीरको कलंकित करते हुए व्यर्थ अपना जीवन नष्ट किया करते हैं। जो भाग्यवान् पुरुष भगवान्‌के प्रेममें विह्वल होकर प्राण-त्याग कर देते हैं, उनको प्राण-त्याग करनेमें कोई भी क्लेश नहीं होता।

वे परम प्रसन्नता और अपार आनन्दके साथ प्रभुके चरणोंपर अपना शरीर अर्पण कर देते हैं। उस समय उनके हृदयमें आनन्दका जो दिव्य समुद्र उमड़ता है, सारे पाप-ताप, दुःख-कष्ट उसके अतल-तलमें सदाके लिये डूब जाते हैं। हिरण्यकशिपुके द्वारा प्रह्लादको बार-बार मृत्युके मुखमें डालकर अपार कष्ट पहुँचाये गये, परन्तु इनसे उसे तनिक-सा भी क्लेश नहीं हुआ। भगवान्के प्रेमके कारण परम आनन्दमें मग्न होकर वह सदा ही निर्भय बना रहा, उसके आनन्द और अभय-की स्थितिका वर्णन करना असम्भव है। प्रह्लादकी स्थितिका तो प्रह्लादको ही पता है, प्रह्लादजीकी जीवनी पढ़नेवाले मनुष्योंमें भी जब आनन्द, निर्भयता, ईश्वरमें प्रेम एवं विश्वासकी वृद्धि होती है, तब स्वयं प्रह्लादकी श्रद्धा, प्रेम, शान्ति और निर्भयता आदि गुणोंका वर्णन तो कोई कैसे कर सकता है?

भगवान्का सच्चा प्रेमी भगवान्के सिवा और किसी भी वस्तुका चिन्तन नहीं करता। भगवान्का चिन्तन भी वह भगवान्के प्रेमके लिये ही करता है। प्रेमके सिवा न तो वह भगवान्से ही कुछ चाहता है और न भगवान्के किसी प्रेमी भक्तसे ही। भगवान्के प्रेमी भक्तोंसे वह जब कभी मिलता है, तब प्रेममें मग्न हो जाता है और भगवत्-प्रेम-रसकी प्राप्तिके लिये वह उनसे वैसे ही आकांक्षा करता है, जैसे पपीहा बादलोंको देखकर स्वातीके बूँदकी आकांक्षासे बादलोंको अपनी टेकपर अड़ा हुआ मधुर स्वरसे 'पीव पीव' पुकारा करता है। भगवत्-प्रेमका प्यासा प्रेमी भी महात्मारूपी बादलोंसे प्रेमरूपी स्वाती-बूँदके लिये मधुर-स्वरसे विनय करता है,

जैसे पपीहेका यह दृढ़ नियम है कि वह स्वातीबूँदके अतिरिक्त भूमिपर पड़े हुए कैसे भी पवित्र गङ्गाजलकी कभी इच्छा नहीं करता। गोसाईंजी कहते हैं—

तुलसी चातक देत सिख, सुतहि बारहीं बार।
तात न तर्पन कीजियो, बिना बारिधर-धार॥
जियत न नाई नारि, चातक घन तजि दूसरहिं।
सुरसरिहूको बारि, मरत न माँगेउ अरघ जल॥
सुनि रे तुलसीदास, प्यास पपीहहिं प्रेमकी।
परिहरि चारिउ मास, जो अँचवै जल स्वातिको॥

—वैसे ही भगवत्-प्रेमी पुरुष भी प्रेमके सिवा तुच्छ सांसारिक पदार्थोंके भोगोंकी कभी इच्छा नहीं करता। यही उसका दृढ़ नियम है—सहज स्वभाव है।

सर्वत्र भगवत्के स्वरूपका चिन्तन करनेवाले पुरुषका भगवान्में इतना प्रेम हो जाता है कि वह क्षणमात्र भी भगवान्के चिन्तनको भूल नहीं सकता। यदि किसी कारणवश भगवत्का चिन्तन छूट जाता है तो उसको ऐसी व्याकुलता होती है, जैसे जलके बिना मछलीको!

तदर्पिताखिलाचारिता तद्विस्मरणे परमव्याकुलता।
(नारद० १९)

देवर्षि नारदजी इसीको प्रेम-भक्ति बतलाते हैं। भगवत्-प्रेममें मतवाला पुरुष जब प्रेममें मग्न हुआ फिरता है, तब उसकी कुछ

विचित्र ही अवस्था हो जाती है। अपने प्रेमास्पदके नाम, गुण और रूपकी महिमा सुनकर प्रेमकी विह्वलताके कारण अपनी सुध-बुध भूल जाता है।

प्रेम-पियाला जिन्ह पिया, झूमत तिन्हके नैन।
नारायण वे रूप-मद, छके रहें दिन रैन॥
प्रेम अधीन्यो छाक्यो डोलै, क्योंकि क्योंही बाणी बोलै।
जैसे गोपी भूली देहा, तैसो चाहे जासों नेहा॥

प्रीति की रीति कछू नहिं राखत,
जाति न पाँति, नहीं कुलगारो।
प्रेमको नेम कहूँ नहिं दीसत,
लाज न कान लग्यो सब खारो॥
लीन भयो हरिसूँ अभिअन्तर,
आठहुँ जाम रहै मतवारो।
सुन्दर कोउक जानि सकै यह,
गोकुल गाँवको पैंडोहि न्यारो॥

कहते हैं कि एक बार किसी प्रेमोन्मादिनी गोपीको यह शङ्का हो गयी थी कि श्रीकृष्णका मैं जो इतना ध्यान करती हूँ, सो कहीं ध्यान करते-करते स्वयं श्रीकृष्ण ही न बन जाऊँ। क्योंकि 'भ्रमर-कीट' न्यायसे ध्याता अपने ध्येयाकारमें परिणत हो जाया करता है। यदि ऐसा हुआ और मैं श्रीकृष्ण बन गयी तो फिर मुझे अपने प्रेमास्पद श्रीकृष्णके साथ प्रेम-विलासका आनन्द कैसे मिलेगा ? एक-दूसरी गोपीने उससे कहा कि 'इसके लिये तू चिन्ता न कर, श्रीकृष्णके

ध्यानसे जब तू कृष्ण बन जायगी तो श्रीकृष्ण तेरे ध्यानसे गोपी बन जायँगे। प्रेमी-प्रेमास्पदका आनन्द ज्यों-का-त्यों बना रहेगा। अतएव तू श्रीकृष्णके ध्यानमें ही निमग्न रह ।'

प्रेमीकी दशाका क्या वर्णन किया जाय ? प्रेमी अपने प्रेमास्पदके नाम, गुण और रूपादिके संकेतमात्रसे इतना विह्वल हो जाता है कि जिसका वर्णन नहीं हो सकता । श्याम रंगमें रँगी हुई गोपियाँ काले रंगके कौवे, कोयल, काजल, कोयले आदि पदार्थोंको देखते ही या श्रीकृष्णके नामसे मिलते-जुलते नामोंको सुनते ही श्रीकृष्णके प्रेममें परम विह्वल हो जाती थीं । प्रेम-रसके छके हुए महाप्रभु श्रीचैतन्यदेव पुरीमें समुद्रकी श्यामताको देख उसे श्यामसुन्दर समझकर पागल हो गये और तन-मनकी सुधि भुलाकर उसीमें कूद पड़े । तल्लीनतामें ऐसी ही स्थिति होती है ।

भयबुद्धिसे भजनेवाले मारीचने कहा था कि मुझको श्रीरामका इतना भय लगता है कि जिन शब्दोंके आदिमें रकार हो, उन शब्दोंके सुननेमात्रसे श्रीराम मुझे अपने समीप खड़े दीखते हैं ।

राममेव सततं विभावये
भीतभीत इव भोगराशितः ।
राजरत्नरमणीरथादिकं
श्रोत्रयोर्यदि गतं भयं भवेत् ॥

(अ० रा० ३ । ६ । २२)

'राज, रत्न, रमणी, रथादिके शब्द यदि मेरे कानोंमें पड़ जाते हैं तो मुझे भय होता है, इसलिये भोग-राशिसे भयभीत हुआ-सा मैं निरन्तर रामका ही चिन्तन करता हूँ ।'

राम आगत इहेति शङ्कया
बाह्यकार्यमपि सर्वमत्यजम्।
निद्रया परिवृतो यदा स्वपे
राममेव मनसानुचिन्तयन्॥
(अ० रा० ३।६।२३)

'राम यहाँ आ गये हैं—इस शङ्कासे मैं बाहरके कार्योंको भी छोड़ देता हूँ। जब मैं निद्रासे घिरा हुआ सोता हूँ तो उस समय भी रामका ही चिन्तन करता हूँ।'

स्वप्नदृष्टिगतराघवं तदा
बोधितो विगतनिद्र आस्थितः।
तद्भवानपि विमुच्य चाग्रहं
राघवं प्रति गृहं प्रयाहि भोः॥
(अ० रा० ३।६।२४)

'मैं जब स्वप्नमें राघवको देखता हूँ तो जागकर निद्रारहित हो जाता हूँ, इसलिये हे रावण! आप भी राघवके प्रति (मुझे भेजनेका) आग्रह त्यागकर घर चले जायँ।'

जब भयकी प्रेरणासे ऐसी दशा हो सकती है, तब विशुद्ध प्रेमकी प्रेरणासे प्रेमास्पदके लिये वैसी दशा हो जानेमें क्या आश्चर्य है! अवश्य ही प्रेमका मार्ग है बड़ा ही गहन, बड़ा ही दुर्गम, तीक्ष्ण तलवारकी धारके समान! केवल बातें बनानेसे उसकी प्राप्ति नहीं होती। बाहरी वेष या चिह्नका नाम ही प्रेम नहीं है।

प्रेम प्रेम सब कोइ कहे, प्रेम न चीन्हे कोय।
जेहि प्रेमहिं साहिब मिले, प्रेम कहावे सोय॥

सच्चा प्रेम वही है जिससे स्वामी श्रीरामका मिलन हो जाय। वे राम मिलते हैं प्रेमभरी विरहकी व्याकुलतासे, करुणापूर्ण हृदयकी सच्ची पुकारसे, सच्ची श्रद्धा और भक्तिसे एवं सच्चे हृदयकी उत्कट इच्छासे! ये सब प्रेमके ही पर्याय हैं। मिलनेकी उत्कट इच्छा होनेपर भगवान्‌के विरहमें व्याकुल प्रेमीकी अपने प्रेमास्पद भगवान्‌के मिलनेका संदेश मिलनेपर बड़ी ही मधुर अवस्था होती है। श्रीतुलसीदासजीने रामायणमें सुतीक्ष्णजीके प्रेमकी महिमा दिखाते हुए कहा है—

पन्नगारि सुनु प्रेम सम भजन न दूसर आन।
यह बिचारि पुनि पुनि मुनि करत राम गुन गान॥
होइहैं सुफल आजु मम लोचन। देखि बदन पंकज भवमोचन॥
निर्भर प्रेम मगन मुनि ग्यानी। कहि न जाइ सो दसा भवानी॥
दिसि अरु बिदिसि पंथ नहिं सूझा। को मैं चलेउँ कहाँ नहिं बूझा॥
कबहुँक फिरि पाछें पुनि जाई। कबहुँक नृत्य करइ गुन गाई॥
अबिरल प्रेम भगति मुनि पाई। प्रभु देखैं तरु ओट लुकाई॥

अहा! क्या ही अनोखे आनन्दका दृश्य है!

प्रेमी जब अपने प्रेमास्पदके विरहमें व्याकुल रहता है और प्रेमीके मिलनकी उत्कण्ठासे उसके आनेकी प्रतीक्षा करता है, उस समय उसे पल-पलमें अपने प्रेमास्पदके पैरोंकी आहट ही सुनायी देती है। कोई भी आता है तो उसे ऐसा प्रतीत होता है, मानो मेरा प्रेमी

ही आ रहा है। गोपियोंके पास जब उद्धव आये, तब उन्होंने यही समझा कि प्यारे श्रीकृष्ण ही पधारे हैं। बहुत समीप आनेपर ही वे यह जान सकीं कि ये श्रीकृष्ण नहीं हैं, उद्धव हैं, पर श्रीकृष्ण नहीं हैं तो क्या हुआ, ये प्राणप्यारे श्रीकृष्णका सन्देशा लेकर तो आये हैं, इसलिये ये भी श्रीकृष्णके समान प्यारे हैं। भागवतके दशम स्कन्धमें इस समयकी गोपिकाओंकी विचित्र दशाका बड़ा ही मार्मिक वर्णन है।

श्रीकृष्णकी प्रियतमा रुक्मिणीजी भगवान्‌के विरहमें जैसी व्याकुल हुई थीं, भगवान्‌के पहुँचनेमें विलम्ब होनेपर श्रीरुक्मिणीजीकी जो करुणाजनक अवस्था हुई थी, वह अत्यन्त ही रोमाञ्चकारिणी है। यह प्रसङ्ग प्रेमियोंको श्रीमद्भागवतमें देखना चाहिये।

भरतके विरहकी अवस्था रामायणके पाठकोंसे छिपी नहीं है। जब श्रीहनूमान्‌जी प्रभु श्रीरामजीका सन्देश लेकर आते हैं, तब भरतकी आश्चर्यमयी अवस्थाको देखकर वे भी प्रेममें निमग्न हो जाते हैं। वहाँका वर्णन पढ़िये—

को तुम्ह तात कहाँ ते आए। मोहि परम प्रिय बचन सुनाए॥
दीनबंधु रघुपति कर किंकर। सुनत भरत भेंटेउ उठि सादर॥
मिलत प्रेम नहिं हृदय समाता। नयन स्रवत जल पुलकित गाता॥
कपि तव दरस सकल दुख बीते। मिले आजु मोहि राम पिरीते॥
एहि संदेस सरिस जग माहीं। करि बिचार देखेउँ कछु नाहीं॥
नाहिन तात उरिन मैं तोही। अब प्रभु चरित सुनावहु मोही॥

निज दास ज्यों रघुबंसभूषन कबहुँ मम सुमिरन कर्‌यो।
सुनि भरत बचन बिनीत अति कपि पुलकि तनु चरनन्हि पर्‌यो॥
रघुबीर निज मुख जासु गुन गन कहत अग जग नाथ जो।
काहे न होइ बिनीत परम पुनीत सद्‌गुन सिंधु सो॥

राम प्रान प्रिय नाथ तुम्ह सत्य बचन मम तात।
पुनि पुनि मिलत भरत सुनि हरष न हृदयँ समात॥

अपने प्रेमास्पदद्वारा प्रेरित सन्देश पानेपर या प्रेमीका कुछ भी समाचार मिलनेपर जब गोपी, रुक्मिणी और भरतकी-सी अवस्था होने लगे तब समझना चाहिये कि असली विरहकी उत्पत्ति हुई है।

अहा! कृष्ण-प्राणा मीराँजीकी दशा देखिये। श्रीकृष्णनाममें रत, हरिके प्रेम-समुद्रमें डूबी हुई वह मतवाली प्रेमराती गाती है—

नातो नामको जी म्हाँस्यूँ, तनक न तोड़्यो जाय॥
पाना ज्यूँ पीली पड़ी रे, लोग कहे पिंड रोग।
छाने लाँघण मैं किया रे, राम मिलणके जोग॥
बावल बैद बुलाइया रे, पकड़ दिखाई म्हारी बाँह।
मूरख बैद मरम नहि जाणै, कसक कलेजे माँह॥
जाओ बैद घर आपणे रे, म्हारो नाम न लेय।
मैं तो दाझी बिरहकी रे, काहे कूँ औषध देय॥
मांस गल गल छीजियो रे, करक रह्या गल आय।
आँगलियाँरी मूँदड़ी म्हारे, आवण लागी बाँह॥
रह रह पापी पपीहरा रे, पिवको नाम न लेय।
जे कोई बिरहण साँभले तो, पिव कारण जिव देय॥

*

छिन मन्दिर छिन आँगणे रे, छिन छिन ठाढ़ी होय।
घायल-सी झूमूँ खड़ी, म्हारी ब्यथा न बूझे कोय॥
काढ़ कलेजो मैं धरूँ रे, कौआ तू ले जाय।
ज्यां देशाँ म्हारो हरि बसौ रे, वाँ देखत तू खाय॥
म्हारे नातो रामको रे, और न नातो कोय।
मीरा व्याकुल बिरहणी रे, (हरि) दर्शन दीज्यो मोय॥

यही विशुद्ध प्रेम श्रीपरमात्माका मूल्य है। या यों समझिये कि यही परमात्माका स्वरूप है। ऐसे विशुद्ध प्रेमकी जितनी ही वृद्धि होती है उतना ही मनुष्य परमात्माके नजदीक पहुँचता है। जैसे सूर्य प्रकाशका समूह है, वैसे ही परमेश्वर प्रेमके समूह हैं। मनुष्य ज्यों-ज्यों सूर्यके समीप जाता है त्यों-ही-त्यों क्रमशः प्रकाशकी वृद्धि होती जाती है, इसी प्रकार जब वह प्रेममय भगवान्‌के जितना ही समीप पहुँचता है उतनी ही उसमें प्रेमकी वृद्धि होती है। या यों समझिये, ज्यों-ज्यों प्रेमकी वृद्धि होती है, त्यों-ही-त्यों वह परमात्माके समीप पहुँचता है। जैसे सूर्य और प्रकाश दो वस्तु नहीं हैं, प्रकाश सूर्यका स्वरूप ही है, वैसे ही प्रेम और भगवान् भी दो वस्तु नहीं हैं। प्रेम भगवान्‌का साक्षात् स्वरूप ही है।

जब मनुष्य भगवत्-प्रेमके रंगमें रँग जाता है तब वह प्रेममय हो जाता है, उस समय प्रेम (भक्ति), प्रेमी (भक्त) और प्रेमास्पद (भगवान्) तीनों एक ही रूपमें परिणत हो एक वस्तु बन जाते हैं। प्रेमी, प्रेम और प्रेमास्पद कहनेके लिये ही तीन हैं, वास्तवमें तो वही एक वस्तु मानो तीन रूपोंमें प्रकट हो रही है। भगवान्‌के

ज्ञानी, प्रेमी भक्त ऐसा ही कहा करते हैं। जब मनुष्य भगवान् वासुदेवके प्रेममें आत्यन्तिकरूपसे निमग्न हो जाता है तब उसे सर्वदा, सर्वथा और सर्वत्र पद-पदमें भगवान् वासुदेव-ही-वासुदेव दीखते हैं। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

> **बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।**
> **वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥**
> (७।१९)

'बहुत जन्मोंके अन्तके जन्ममें तत्त्वज्ञानको प्राप्त हुआ ज्ञानी सब कुछ वासुदेव ही है अर्थात् वासुदेवके सिवा अन्य कुछ है ही नहीं, इस प्रकार मुझको भजता है। ऐसा महात्मा अति दुर्लभ है।' यही प्रेमका सच्चा स्वरूप है।

आत्मनिवेदन

आत्मनिवेदनके सम्बन्धमें सूक्ष्म विचार करना चाहिये। इसमें 'आत्मा' शब्द आत्माके सहित तीनों शरीरोंका वाचक है और 'निवेदन' का अर्थ अर्पण है। जिन वस्तुओंपर हमने अपना अधिकार जमा रक्खा है, उनको उठाकर भगवान्‌के अर्पण कर देना आत्मनिवेदन है। यह शरणागतिका एक प्रधान अङ्ग है अथवा इसे भक्तिका भी एक प्रधान अङ्ग कह सकते हैं। शरणागतिके चार भेद हैं। शरणागतिका पहला अङ्ग है भगवान्‌के नाम या स्वरूपको पकड़ना। दूसरा अङ्ग है भगवान्‌के अधीन हो जाना अर्थात् उनके

अनुकूल बन जाना, वे जिस प्रकार चलावें उसी प्रकार चलना। तीसरा अङ्ग है भगवान् जो कुछ भी विधान करें, उसीमें प्रसन्न रहना और चौथा अङ्ग है भगवत्परायण हो जाना, उन्हींकी गोदमें जाकर बैठ जाना और अपने-आपको भगवान्के अर्पण कर देना। जब मैं स्वयं ही भगवान्के अर्पण हो गया तो मेरी सारी चीजें भी उनके अर्पण हो गयीं।

आत्मसमर्पण नवधा भक्तिका अन्तिम अङ्ग है। यदि कोई पूछे कि सेव्य-सेवक-भाव और आत्मनिवेदनमें क्या अन्तर है? तो कहा जा सकता है कि यों तो कोई फरक नहीं है, क्योंकि आगे चलकर तो दास्यभाववाला भी आत्मसमर्पण करेगा और जिसने आत्मनिवेदन कर दिया वह भी दास ही है। परन्तु उदाहरणसे इनका अन्तर इस प्रकार समझ सकते हैं। एक दूकानपर दो मुनीम काम करते हैं, उसका जो कुछ लेन-देन, माल-खजाना है उन सबको वे मालिकका ही मानते हैं। परन्तु उनमेंसे एक तो शरीर-निर्वाहके लिये अन्न-वस्त्रमात्र ही लेता है और दूसरा वेतन भी लेता है। इनमें पिछलेका सकाम और पहलेका निष्कामभाव है, निष्कामभाववालेका दर्जा ऊँचा है। दोनोंहीका सेव्य-सेवकभाव है। किन्तु इनमें पहले दर्जेवाले भक्तने तो आत्मसमर्पण किया, दूसरेने नहीं।

प्राचीनकालमें एक और प्रकारके भी दास हुआ करते थे। वे दास ही जन्मते और दास ही मरते थे। उन्हें वेतन आदि कुछ भी नहीं मिलता था और वे दहेज आदिमें भी दिये जा सकते थे। राजाओंमें कहीं-कहीं तो यह प्रथा अब भी है। आत्मसमर्पणका

दर्जा इन दास-दासियोंसे भी ऊँचा है। जैसे दो सेनाएँ लड़ रही हैं, उनमेंसे एक राजा हार गया, वह दूसरेको आत्मसमर्पण कर देता है, कहता है कि चाहे मारो, छोड़ो या राज्य पीछा दे दो, तुम्हें अधिकार है। परन्तु यह आत्मसमर्पण भयसे है, भक्ति और श्रद्धासे नहीं। इस प्रकार आत्मसमर्पण करनेवालेको यदि विपक्षी राजा मारे तो उसको दुःख भी हो सकता है; क्योंकि उसने तो लाचार होकर शरण ली है। परन्तु जो पुरुष श्रद्धा, भक्ति और प्रेमसे आत्मसमर्पण करता है उसको तो मारने-काटनेपर भी आनन्द ही होता है। दास-दासियोंको भी मारनेपर दुःख होता है, क्योंकि उनका आत्मसमर्पण श्रद्धा-भक्तिरहित है। जो प्रेम, भक्ति और श्रद्धासे आत्मसमर्पण करता है उसका कुछ भी करो, उसको दुःख नहीं होता। जैसे राजा बलिका आत्मसमर्पण प्रेम और श्रद्धापूर्वक था, भय या लाचारीसे नहीं था। उसको गुरु शुक्रने यह बता भी दिया कि यह साधारण ब्राह्मण नहीं है, तुम्हारा सब कुछ ले लेगा, तो भी उसने जान-बूझकर प्रेम और भक्तिसे अपना सर्वस्व भगवान्‌के अर्पण कर दिया और कहा कि जब स्वयं भगवान् इस प्रकार मेरा सर्वस्व लेते हैं तो मेरे लिये इससे अधिक आनन्द और है ही क्या ? जो इस प्रकार भगवान्‌को आत्मसमर्पण करता है उसके मन, बुद्धि और शरीर आदि सब भगवान्‌के ही हो जाते हैं। उसका उनपर कोई अधिकार नहीं रह जाता। जड वस्तुओंमें इसका उदाहरण कठपुतली हो सकती है। कठपुतलीने नटको आत्मसमर्पण कर रक्खा है। नट उसका चाहे सो करे ? वह उसे कपड़ा पहनावे, युद्ध करावे या और जो कुछ करे, वह अपनी तरफसे कुछ नहीं

करती। परन्तु कठपुतलीमें चेतनाशक्ति नहीं है, वह जड है। जो पुरुष चेतनाशक्ति रहते हुए अपने-आपको उस कठपुतलीके समान भगवान्‌के अर्पण कर देता है, उसमें शरणागतिके और अङ्ग भी आ जाते हैं। शरणागतिके लिये इतना उपयुक्त दूसरा उदाहरण स्मरण नहीं आता। यदि बाजीगरके बन्दरका दें तो वह तो मालिकके आज्ञानुसार चलनेका है। यद्यपि यह भी शरणागतिका एक अङ्ग है, परन्तु प्रधान बात तो अपने-आपको अर्पण कर देना ही है। जैसे हमलोग एक गाय किसी ब्राह्मणको अर्पण कर दें तो फिर उस गायपर उस ब्राह्मणका अधिकार हो जाता है, उसी प्रकार भगवान्‌को अपने-आपको अर्पण कर देनेसे अपना अधिकार नहीं रह जाता है। यदि बारीकीसे विचार किया जाय तो पहलेसे ही सारी चीजें परमात्माहीकी हैं, हमने उनपर अपना अधिकार जमा रक्खा है, वह उठा लिया जाय। जो इस प्रकार समझ जाता है, उसको लोकदृष्टिमें दीखनेवाले कैसे ही सुख-दुःख आकर प्राप्त हों, भगवान् उसका चाहे सो करें, उसको किसी प्रकारका विकार नहीं होता। इतना ही नहीं वह आनन्दमग्न हो जाता है। उसको मालिकके सुखसे ही सुख होता है और मालिक कभी दुखी नहीं होते। इसलिये वह भी सदा सुखी रहता है। फिर उसके द्वारा जो नये कर्म होते हैं, वे मालिकके अनुकूल उन्हींके आज्ञानुसार होते हैं; क्योंकि उसके मन, बुद्धि और शरीर प्रभुके अर्पण हो चुके हैं। सारी वस्तुएँ मालिककी हैं, उनपर वह अपनी आज्ञा नहीं चलाता। भक्तिपूर्वक आत्मसमर्पण करनेके कारण वह भगवान्‌के शरण हो जाता है और फिर परमात्माको कभी नहीं भूलता, निरन्तर उन्हींका चिन्तन करता रहता है।

शरणापन्न भक्त परमात्माको प्राप्त हो जाता है। वह चाहे उस महाप्रभुसे अलग रहकर चिन्तन करे, चाहे उसमें सम्मिलित होकर। चाहे तद्रूप होकर रहे, चाहे भिन्न सत्तासे रहे। परन्तु इस विषयमें उसका कोई संकल्प नहीं होता, उसका मालिक जो चाहे सो करावे, वह तो अपना सारा स्वत्व उसीको सौंप देता है। शरणागत भक्तकी अपनी तो कोई इच्छा ही नहीं होनी चाहिये। यदि उसमें कोई इच्छा हो जाती है तो उसके आत्मसमर्पणमें कसर है। फिर भी यह कोई बहुत बड़ा दोष नहीं है, बलिने भी तो पातालमें रहना माँगा था। वह अपनी ओरसे तो कुछ नहीं कहता। परन्तु स्वामीके पूछनेपर अपनी इच्छा बता देना भी कोई दोष नहीं है। स्वामी देना चाहे तब भी कुछ न लेना और भी उत्तम है-वह बलिके आत्मसमर्पणसे भी ऊँची बात है। वरदान देनेकी बात कहनेपर वह सच्चा आत्मसमर्पण करनेवाला भक्त यह कहता है—'हे प्रभु! किसको वरदान देते हैं, मैं तो आपकी ही चीज हूँ। कुछ दे-लेकर मुझे अलग करते हैं क्या? यदि यही इच्छा है तो ऐसा कर दीजिये, आपहीकी इच्छापर तो सब कुछ निर्भर है।' पिताकी इच्छा है—वे पुत्रको यों ही बिना कुछ दिये घरके बाहर कर दें, सौ-दो-सौ रुपये देकर कर दें अथवा सारी सम्पत्ति दे दें। पिता देख लेते हैं कि पुत्रकी कुछ इच्छा है तभी अलग करते हैं नहीं तो क्यों करें? सो हे प्रभु! आप यदि वरदान देनेकी बात कहते हैं तो अवश्य मेरे मनमें अलग रहनेका भाव होगा, नहीं तो आप इस प्रकार कैसे कहते? नाथ! अवश्य मेरी कोई नालायकी हुई है, मैं आपसे क्षमा माँगता हूँ। जो कुछ है सो तो आपका ही

है। वरदान लेकर अलग कहाँ रक्खूँ ? इस प्रकारका आत्मसमर्पण सख्यभाव और दासभाववाले भी कर सकते हैं। अतः आत्मसमर्पण भक्तिका एक पृथक् अङ्ग है। सख्य और दासभाववाले ऐसा कर भी सकते हैं और नहीं भी करें तो कोई आपत्ति नहीं। यदि कहा जाय कि मित्रता तभी पूरी होगी जब आत्मसमर्पण कर दिया जायगा, सो ठीक है, परंतु मित्र तो इसके बिना भी हो सकता है। विभीषण-के आत्मसमर्पणमें इतना महत्त्व नहीं प्रतीत होता। श्रीकृष्णको सखा-भावसे आत्मसमर्पण तो गोपियोंने ही किया था। वे अपने ऊपर अपना कोई अधिकार नहीं समझती थीं। एकमात्र श्रीकृष्णका ही अधिकार मानती थीं। एक पुरुषमें नवधाभक्तिके सारे भेद भी रह सकते हैं और दो-चार अङ्ग भी रह सकते हैं। भजन-ध्यान, सेवा-नमस्कार करते हुए आत्मसमर्पण नहीं भी हो सकता है। हाँ, और सब भक्तियाँ आ जानेपर भी यदि आत्मसमर्पण नहीं होता तो इतनी कमी ही है। जिसमें आत्मसमर्पण नहीं है वह भी भक्त तो है और कहलाता भी भक्त ही है; परन्तु आत्मसमर्पण कर देनेवाले भक्तकी तो महिमा ही अलग है। इसीलिये नवधा भक्तिमें इस अङ्गको अन्तिम बतलाया गया है। यही सबसे ऊँचा भाव है।

भक्तिका पहला अङ्ग श्रवण है, इसलिये इसको सर्वप्रथम भक्ति कहते हैं। श्रवणके बिना कोई भक्ति नहीं हो सकती। यदि कोई ऐसा उदाहरण मिले तो उसमें भी पूर्वसंस्कार तो मिलेंगे ही, जिनसे यही प्रतीत होता है कि इसने पूर्वजन्ममें ही श्रवण कर लिया होगा। श्रवण आदिभक्ति है, पहले सुनता है तभी तो उसकी रुचि होकर

वह इस तरफ लगता है। आत्मनिवेदन अन्तिम भक्ति है, इसमें और सब भक्तियाँ समा जाती हैं। आत्मनिवेदन हो जानेपर उसकी अनन्य भक्ति हो जाती है, शरणागतिके जितने भाव हैं वे स्वयं ही आ जाते हैं। पतञ्जलिने जो 'ईश्वरप्रणिधान' कहा है वह भी इस पुरुषमें आ जाता है तथा उसका फल समाधिसिद्धि भी उसे मिल जाती है। फिर उद्धारकी तो उसे कोई चिन्ता ही नहीं रहती, उसका तो उद्धार हो चुका।

आत्मसमर्पण करके भक्त सर्वथा निश्चिन्त हो जाता है। उसे अपने लौकिक अथवा पारलौकिक किसी प्रकारका भय या चिन्ता नहीं रहती। एक मनुष्य पाठशाला चलाता है, रात-दिन उसकी चिन्तामें लगा है, यदि कोई योग्य सम्पत्तिशाली सज्जन उस कामको सँभाल ले तो फिर वह निश्चिन्त हो जाता है। फिर कभी-कभी वह उसका काम करता भी है तो भी उसे कोई चिन्ता नहीं होती, इसी प्रकार जैसे कोई आदमी अपना काम किसी योग्य व्यक्तिको सौंपकर परदेश जाय तो उसे पीछेके कामका कोई फिक्र नहीं रहता। ऐसे ही जो अपने-आपको भगवान्‌के अर्पण कर देता है उसके लिये भय और चिन्ताका कोई स्थान ही नहीं रह जाता। उसके आनन्दका पार नहीं रहता। जैसे किसी कंगाल लड़केको कोई करोड़पति दत्तक (गोद) ले तो वह बड़ी प्रसन्नतासे उस पिताकी गोदमें जाकर बैठ जाता है और बेफिक्र हो जाता है। वह जानता है कि तेरे पास पाँच पैसे भी नहीं थे और अब तू करोड़ोंकी सम्पत्तिका उत्तराधिकारी हो गया। अतः उस पिताकी गोदमें बैठकर उसे बड़ी

ही आनन्द होता है, क्योंकि इससे उसके अन्न-वस्त्रकी चिन्ता सदाके लिये मिट जाती है। यह तो एक मनुष्यकी गोद बैठनेकी बात है, जो उस परमात्माको अपना आत्मसमर्पण कर देता है उसके आनन्दका क्या ठिकाना है? वहाँ भयकी बात ही कहाँ है? साधारण लक्ष्मीवान्‌की गोदमें बैठनेवालेको भी भय नहीं रहता, फिर परमात्मा तो सर्वसामर्थ्यवान् है, उसकी गोदमें भय कैसा? वहाँ पहुँचकर फिर शान्तिका पार नहीं रहता! धनवान्‌की गोदमें बैठनेवाला तो धनके स्वार्थवश, उसमें बाधा पड़नेपर उसका अनिष्ट-चिन्तन कर सकता है। यह उसकी नीचता और कृतघ्नता है, परन्तु परमात्माकी गोदमें कोई इस स्वार्थसे नहीं बैठता, उसको इसी बातमें बड़ा आनन्द होता है कि प्रभुने मुझको अपना लिया। हमलोग तो उसके आनन्दको समझ ही नहीं सकते। बड़ी विलक्षण बात है। एक करोड़पति वायसरायसे मिलने जाता है, उसके साथ दो-चार आदमी हैं और वह लड़का भी है जिसे उसने दत्तक लेनेका विचार किया है। वायसराय पूछते हैं यह लड़का किसका है? वह लड़का कहता है, मैं इनका हूँ, परन्तु जहाँतक वह करोड़पति स्वयं अपने मुँहसे यह बात स्वीकार नहीं कर लेता, वहाँतक वायसराय उसकी बात नहीं मानते। यदि दूसरी बार वह लड़का अकेला जाता है तो वायसराय उसका कोई स्वागत नहीं करते, कहते हैं सेटका पत्र लाओ। तुम ही तो कहते हो मैं उनका हूँ। उन्होंने कहाँ स्वीकार किया है? इस प्रकार उस लड़केके कहनेका कोई विशेष असर नहीं पड़ता। वह लड़का अपने मुँहसे कहता है मैं इनका हूँ। इसमें उसे वह आनन्द नहीं मिलता

जो उस धनवान्‌के यह कहनेपर मिलता है कि यह मेरा है, इसी प्रकार अभी तो हम ही कह रहे हैं कि हम आपके हैं। जिस दिन प्रभु हमें स्वीकार कर लेंगे और कहेंगे कि 'तू मेरा है' उसी दिन हम सच्चे उसके होंगे। जिसे परमात्मा अपनाते हैं उसके आनन्दको हमलोग क्या कह सकते हैं? उसमें स्वार्थ नहीं, प्रेम है। दत्तक गये हुए लड़केको तो यदि पिता कष्ट देते हैं तो वह विरुद्ध भी हो जाता है, क्योंकि वह तो धनके लोभसे गया है, परन्तु जो निष्काम प्रेमभावसे अपने-आपको भगवान्‌के समर्पित कर देते हैं, उनके शरीरके तो यदि टुकड़े-टुकड़े भी कर दिये जायँ तो भी वे अपना अहोभाग्य ही समझते हैं। वहाँके लायक तो कोई उदाहरण ही नहीं प्रतीत होता। कोई आदमी किसी महात्माके पास जाता है और उनसे एक वस्त्र स्वीकार करनेकी प्रार्थना करता है। महात्मा अस्वीकार कर देते हैं। वह तो अर्पण करता है परन्तु जहाँतक महात्मा स्वीकार नहीं करते वहाँतक अर्पण नहीं होता। जब विशेष आग्रह करनेपर महात्मा स्वीकार कर लेते हैं, तब अर्पण हो जाता है। वह कहता है, अहा! मेरा अहोभाग्य है जो मेरा वस्त्र महात्माजीने स्वीकार कर लिया। फिर जब महात्मा उस वस्त्रको अपने सेवकोंको न देकर स्वयं अपने काममें लाते हैं, उस समय उसे कितना आनन्द होता है! महाराजकी सेवामें एक पंखा भेंट किया जाता है, गरमी खूब पड़ रही है, उसी पंखेसे अपने ही हाथसे हवा करनेका विशेष आग्रह करनेपर यदि वे महात्मा स्वीकार कर लेते हैं तो कितना आनन्द होता है! महाराज सोना चाहते हैं, उनसे प्रार्थना की जाती है, महाराज! मेरी गोदमें सोनेकी कृपा कीजिये! विशेष

आग्रहसे यदि वे स्वीकार कर लें तो कितना आनन्द होता है ? अब यदि देखा जाय तो वह महात्मा हैं या नहीं, इसका पता नहीं। हमारी भावनासे ही हमको इतना आनन्द होता है। ऐसे ही वह परमात्मा जिसको बहुत-से महात्मा प्राप्त हो चुके हैं, यदि हमारे शरीरको अपने काममें लाते हैं या काटते भी हैं तो कितना आनन्द होना चाहिये, उस समय हमारा रोम-रोम हर्षित हो जाना चाहिये। यदि हमारे शरीरके चमड़ेकी जूतियाँ बनाकर वह पहन लें, तो हम कृतकृत्य हो जायँ। अहा, हमारे शरीरका ही यह उपयोग हो रहा है। कितनी दया है, हमारी वस्तुको प्रभु काममें ला रहे हैं। एक पतिव्रता पतिके सुखसे सुखी होती है, जिस समय पतिदेव उस-का तन-मन अपने काममें लाते हैं तब वह अत्यन्त ही आनन्दित होती है। यद्यपि वह पतिव्रता अपने पतिमें ईश्वर-भाव ही रखती है परन्तु तो भी यह तो समझती है कि वे मेरे लिये ही नारायण हैं। दो घनिष्ठ मित्रोंमेंसे यदि एक दूसरेकी वस्तुको बिना पूछे अपने काममें लाता है तो उस वस्तुके स्वामीको आनन्द ही होता है, यह समझकर उसे और भी अधिक आनन्द होता है कि मेरे मित्रने मेरी वस्तु स्वीकार कर ली। ये सब तो लौकिक बातें हैं, इसी प्रकार यदि साक्षात् परमेश्वर हमारी वस्तुओं और हमारे शरीरादिको अपने काममें लाते हैं तो उससे बढ़कर हमारे लिये और क्या आनन्दकी बात हो सकती है ! इस प्रकार जो प्रभुको आत्मसमर्पण कर देता है उसके आनन्दका कोई ठिकाना नहीं रहता।

जिस समय भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनके सहित साधुवेषमें सिंहको साथ लिये राजा मयूरध्वजके यहाँ पहुँचे, उस समय उन्होंने

राजाके पुत्र रत्नकुमारका आधा शरीर अपने सिंहके लिये माँगा। राजाने कहा—'महाराज! मुझे तो कोई आपत्ति नहीं, परन्तु रानीसे पूछना आवश्यक है। रानीके स्वीकार करनेपर, राजा-रानी दोनोंने पुत्रसे पूछा। पुत्र बोला—'ऐसा अवसर फिर कहाँ मिलेगा? ये तो साक्षात् भगवान् हैं।' राजा और रानी दोनों पुत्रको चीरने लगे, पुत्र हँसता है, खिलता है, उसे यह ज्ञान है कि ये परमेश्वर हैं। उसमें श्रद्धा है, प्रेम है और प्रसन्नता है। राजा और रानीने तो अपनी प्यारी चीज ही भगवान्‌के अर्पण की, परन्तु रत्नकुमारने तो स्वयं अपने-आपको अर्पण कर दिया। राजा-रानीको उसके समान आनन्द कैसे हो सकता था। उस समय रानीकी आँखोंसे आँसू गिरते देखकर साधु बोले—हम नहीं जीमते। रानी कहती हैं, महाराज! मैं पुत्रके मृत्युशोकसे नहीं रोती, दुःख यही है कि पुत्रका आधा ही शरीर काममें आया। आधेने न जाने क्या पाप किया है? भगवान् तुरन्त प्रकट हो गये। वे तो प्रकट होनेवाले ही थे। यदि हमारा भाव ऐसा हो तो हमारी सब वस्तुएँ भगवान्‌के अर्पण ही हैं। उन तीनोंमें किसीको भी दुःख होता तो भगवान् नहीं लेते। हर्षके साथ अर्पण करना चाहिये। राजा मयूरध्वज, रानी और राजकुमारका-सा भाव हो तो भगवान् तुरंत प्रकट हो जायँ। जो ऐसी प्रसन्नतासे अपने-आपको भगवदर्पण करता है उसी-को भगवान् स्वीकार करते हैं, ऐसे प्रेमसे दी हुई वस्तुको भगवान् नहीं त्यागते। महात्मालोग भी प्रेमसे दी हुई वस्तुको आवश्यकता होनेपर ले लेते हैं, वे समझते हैं कि नहीं लेनेसे इस बेचारेको दुःख होगा। फिर परमात्माकी ओरसे तो खुली आज्ञा हो चुकी है—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम॥
(वा० रा० ६। १८। ३३)

'जो एक बार भी सच्चे हृदयसे उनकी शरण हो जाता है उसको वे कभी नहीं त्यागते।' जैसे किसीके पास एक वस्त्र है, उस वस्त्रने अपने स्वामीको आत्मसमर्पण कर रखा है। वह उसे फाड़े, फेंके, जलावे, बिछावे, ओढ़े अथवा किसीको दे डाले, वह कुछ भी प्रत्युत्तर नहीं देता, वह उसका कैसा ही उपयोग करे उस वस्त्रको कोई आपत्ति नहीं होती। इस प्रकारसे जो उन प्रभुको आत्मसमर्पण कर देता है, वे उसका चाहे सो करें उसे कोई आपत्ति नहीं होती; ऐसा पुरुष जीता हुआ ही मुक्त हो जाता है। वह जीता हुआ ही मुरदेके समान प्रभुके समर्पित हो जाता है, मुरदा कोई आपत्ति कर सकता हो तो वह भी करे। इस प्रकार जो जीता हुआ ही मुरदेका सच्चा स्वाँग कर दिखलाता है वही जीवन्मुक्त है।

ऐसा जीवन्मुक्त महात्मा निर्भय हो जाता है, वह शोकसे तर जाता है तथा अटल और नित्य शान्तिको प्राप्त होता है। उस जीवन्मुक्तका संसारमें विचरना हमलोगोंके कल्याणके लिये ही होता है। उसे अपने लिये कोई कर्तव्य नहीं रहता।

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥
(गीता ३। १७)

जो पुरुष इस प्रकारसे भगवत्शरण हो जाता है उसका जीवन केवल लोगोंके कल्याणके लिये ही होता है। जैसे पञ्चायतीके सामानसे जो चाहे वही अपना काम निकाल सकता है, उसी प्रकार उस पुरुषसे भी सबको अपना काम निकाल लेनेका अधिकार-सा होता है। ऐसे विरक्त पुरुषोंका जीना संसारके उपकारके लिये ही होता है। परन्तु उनमें ऐसा भाव नहीं होता कि मैं संसारके हितके लिये विचरता हूँ। जो ऐसा कहता है वह तो अभिमानी है। वह जीवन्मुक्त कभी नहीं हो सकता। अमानित्व आदि सद्गुण तो उनमें पहलेसे ही आ जाते हैं।

ऐसे पुरुषोंके दर्शनसे नेत्र, भाषणसे वाणी और चिन्तनसे मन पवित्र हो जाता है। ऐसे पुरुष संसारमें हजारों-लाखों हो चुके हैं। उत्तराखण्डकी तपोभूमिमें तो ऐसे बहुत ऋषियोंने तपस्या की है। वह पवित्र भूमि स्वाभाविक ही वैराग्ययुक्त है। उस भूमिमें रहनेवाले महात्मा पुरुषोंकी महिमा कहाँतक गायी जाय? भगवान्से यदि कुछ माँगना हो तो यही माँगे कि 'हे प्रभु! जिन महात्माओं-की महिमा आप गाते हैं, हमें उन्हींके चरणचिह्नोंका अनुगामी बनाइये!' और माँगनेकी भी क्या आवश्यकता है? जो पुरुष भगवान्की शरण हो जायगा और जिसे भगवान् अपना लेंगे उसके उद्धारकी तो बात ही क्या है, वह तो औरोंका भी उद्धार कर सकता है, ऐसे महात्मामें ऐसे लक्षण आ जाते हैं। भगवान् कहते हैं—

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः॥

तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः॥
(गीता १२। १८-१९)

'जो पुरुष शत्रु-मित्रमें और मान-अपमानमें सम है तथा सर्दी-गर्मी और सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंमें सम है और सब संसारमें आसक्तिसे रहित है तथा जो निन्दा-स्तुतिको समान समझनेवाला और मननशील है अर्थात् ईश्वरके स्वरूपका निरन्तर मनन करनेवाला है एवं जिस-किस प्रकारसे भी शरीरका निर्वाह होनेमें सदा ही संतुष्ट है और रहनेके स्थानमें ममतासे रहित है, वह स्थिर बुद्धिवाला भक्तिमान् पुरुष मेरेको प्रिय है।

ध्यानकी आवश्यकता

मनुष्य-जीवनका उद्देश्य भगवान्को प्राप्त करना है। इसके लिये प्रधान साधन दो प्रकारके हैं—भेद मानकर और अभेद मानकर। दोनों दो प्रकारके अधिकारियोंके लिये हैं, फल दोनोंका एक ही है। इसलिये यह बात नहीं कि अमुक ही करना चाहिये। अधिकांशमें भेदका साधन ही सबके लिये उत्तम और सुगम समझा जाता है। अभेदमें भी दो प्रकार हैं—एक **'अहं ब्रह्मास्मि'** (बृ० १।४।१०) मैं ब्रह्म हूँ और दूसरा **'वासुदेवः सर्वमिति'** (गीता ७।१९) सब वासुदेव ही है। इनमें दूसरा प्रकार श्रेष्ठ है। अपनेमें ब्रह्मका समावेश न करके भगवान्में ही सबका और अपना समावेश कर देना चाहिये।

भेद और अभेद दोनों ही साधनोंमें ध्यानकी सबसे अधिक आवश्यकता है। गीता, योगशास्त्र आदि सभी ग्रन्थ ध्यानकी उपादेयताका वर्णन करते हैं। गीतामें तो भगवान्‌ने 'न किञ्चिदपि चिन्तयेत्' (६। २५) कहकर केवल भगवच्चिन्तनका ही उपदेश दिया है। परन्तु अधिकांश लोग कठिन समझकर या आलस्यके वश हो इस स्थितिपर पहुँचनेके लिये प्रयत्न ही नहीं करते। ध्यान बहुत ही कम किया जाता है और इस विषयमें लोग निरुत्साह-से हो रहे हैं। यह स्थिति बहुत शोचनीय है। मनुष्यको यह बात दृढ़ निश्चयके साथ मान लेनी चाहिये कि अभ्यास करनेसे 'अचिन्त्य-अवस्था' अवश्य होती है। जैसे लोग भ्रमवश निष्काम कर्मको असम्भव मानकर कह देते हैं कि स्वार्थरहित कर्म कभी हो ही नहीं सकते। वे इस बातको नहीं सोचते कि जब चेष्टा और अभ्यास करनेसे स्वार्थ या कामना कम होती है तब किसी समय उनका नाश भी जरूर हो सकता है। जो चीज घटती है, वह नष्ट भी होती है, फिर निष्काम या निःस्वार्थ कर्म क्यों नहीं होंगे, इसी प्रकार जब एक-दो क्षण मन अचिन्त्य-दशाको प्राप्त होता है तो सदाके लिये भी वह हो ही सकता है। आवश्यकता है अभ्यास करनेकी।

अभ्यास भी बड़े उत्साह और लगनके साथ करना चाहिये। क्षण-दो-क्षणके लिये संसारकी ओर मन कम जाय, इतनेमें ही संतोष नहीं मानना चाहिये। मनको परमात्मामें पूर्ण एकाग्र करने चाहिये। जबतक कम-से-कम मिनट-दो-मिनट भी मन संसारको सर्वथा छोड़कर परमात्मामें पूर्णरूपसे न लगे, तबतक ध्यानकी

अभ्यास छोड़कर आसनसे नहीं उठना चाहिये। यदि दृढ़ निश्चय-के साथ ध्यानका अभ्यास किया जायगा तो अवश्य उन्नति होगी। संसारका चित्र मनसे सर्वथा हटानेकी चेष्टा करते-करते ऐसा स्वाभाविक अभ्यास बन सकता है कि फिर जिस समय आप चाहेंगे, उसी समय आपके मनमें संसारका अभाव हो जायगा। परमात्माके अतिरिक्त समस्त संसारका अभाव हो जाना ही अचिन्त्य-अवस्था है। इस अवस्थामें ज्ञानकी जागृति रहती है, इसलिये लय-अवस्था नहीं होती। सबको भुलाकर परमात्मामें मन न रहनेसे ही लय-अवस्था समझी जाती है। गीतामें उस विज्ञाना-नन्दघन परमात्माको सर्वज्ञ, अनादि, सबका नियन्ता, सूक्ष्मसे भी अति सूक्ष्म, सबका धारण-पोषण करनेवाला, अचिन्त्यस्वरूप, प्रकाशरूप, अविद्यासे परे, शुद्ध-सच्चिदानन्दघन ज्ञानस्वरूप बतलाया है। इस प्रकार जैसा स्वरूप समझमें आवे, उसी स्वरूपको पकड़कर उसका ध्यान करना चाहिये। परमात्माका यथार्थ स्वरूप तो इसका फल है। उसका वर्णन हो नहीं सकता। उस ज्ञानस्वरूप परमात्मा-को ग्रहण करके सबको भुला देना चाहिये।

यदि ऐसा ध्यान समझमें न आवे तो सूर्यके सदृश प्रकाश-स्वरूपका ध्यान करना चाहिये, सूर्यके सामने आँखें मूँदनेपर सामान्यभावसे जो प्रकाशका पुञ्ज प्रतीत हो उसीको देखता रहे और सब कुछ भुला दे। यह ब्रह्मके तेजस्वरूपका ध्यान है।

इस प्रकार न किया जाय तो भगवान्‌के जिस सगुण स्वरूपमें भक्ति हो उसी स्वरूपकी मूर्ति मनके द्वारा स्थिर करके मनको

उसके अंदर भलीभाँति प्रवेश करा दे। उन भगवान्‌के सिवा संसारका और अपना कुछ भी ज्ञान न रह जाय। जबतक ध्यानकी ऐसी अनन्य स्थिति न हो, (हो चाहे प्रारम्भमें एक-दो मिनट ही) तबतक आसनसे नहीं उठना चाहिये। जब ऐसी स्थिति हो जायगी, तब चित्तमें एक अपूर्व शान्ति और प्रफुल्लता होगी, जिससे ध्यानमें आप ही रुचि बढ़ जायगी। निराकार या साकारका कोई-सा भी ध्यान हो—होना चाहिये इस प्रकारका कि जिसमें संसारका और अपना बिल्कुल पता ही न रहे। एक इष्टके सिवा सबका अत्यन्त अभाव हो जाय। ध्यानकी इसी स्थितिके लिये सब प्रकारके साधन किये जाते हैं, सेवा-भजन आदि जो कुछ भी किया जाय, ध्यानकी प्रगाढ़ स्थितिसे सब नीचे हैं। परमात्मामें अचल-अटल वृत्ति स्थिर हो जाना ही बहुत बड़ा लाभ है। इस प्रकारके ध्यानकी कामना रखनेमें भी कोई आपत्ति नहीं है। मुक्तिकी कामना न करके ऐसे अविचल ध्यानकी कामना करना अच्छा है। जिसकी ऐसी नित्य स्थिति हो जाती है वह दूसरोंको भी ध्यानकी युक्ति बता सकता है।

चेतन—ज्ञानस्वरूपमें मनके लय हो जानेपर उसकी कैसी स्थिति होती है सो बतलायी नहीं जा सकती। वैसी अवस्था हुए बिना उसे कोई नहीं समझा सकता। जैसे आजन्म ब्रह्मचारी स्त्री-संगकी अवस्थाको नहीं समझता। जब नाशवान् भोगकी एक अवस्था नहीं समझायी जा सकती तब ब्राह्मी स्थितिको तो वाणीसे कोई कैसे समझा सकता है? उस अवस्थाको समझनेके लिये वैसी अवस्था बनानेका प्रयत्न करना चाहिये। सबको भूलनेके बाद जो

कुछ बच रहे उसीको अपना इष्ट ध्येय बनाकर उसका ध्यान करना चाहिये। ऐसे ध्यानमें ऊँचे-से-ऊँचा आनन्द प्राप्त हो सकता है।

अपने अधिकांश लोगोंका भक्तिका मार्ग है और भक्तिके मार्गमें ध्यान प्रधान है। भगवान्‌ने जहाँ-जहाँपर गीतामें भक्तिकी महिमा गायी है, वहाँ ध्यानका बड़ा महत्त्व बतलाया है। किसी तरह भी भगवान्‌में मनको प्रवेश करा देना चाहिये। भगवान्‌ने उसीको उत्तम बतलाया है। भगवान् कहते हैं—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥
(गीता ६।४७)

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥
(गीता १२।२)

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः॥
(गीता १२।८)

'हे अर्जुन! सम्पूर्ण योगियोंमें भी जो श्रद्धावान् योगी मुझमें लगे हुए अन्तरात्मासे मुझको निरन्तर भजता है, वह योगी मुझे परम श्रेष्ठ मान्य है।' 'मुझमें मनको एकाग्र करके निरन्तर मेरे भजन-ध्यानमें लगे हुए जो भक्तजन अतिशय श्रेष्ठ श्रद्धासे युक्त हुए मुझ परमेश्वरको भजते हैं, वे मुझको योगियोंमें भी अति उत्तम योगी मान्य हैं।' 'इसलिये तू मुझमें मनको लगा, मुझमें ही बुद्धिको लगा, इसके उपरान्त तू मुझमें ही निवास करेगा अर्थात् मुझको ही प्राप्त होगा, इसमें कुछ भी संशय नहीं है।'

भक्तराज प्रह्लाद और ध्रुव

विश्वके भक्तोंमें भक्तवर श्रीप्रह्लाद और ध्रुवकी भक्ति अत्यन्त ही अलौकिक थी। दोनों प्रातःस्मरणीय भक्त श्रीभगवान्‌के विलक्षण प्रेमी थे। प्रह्लादजीके निष्काम-भावकी महिमा कही नहीं जा सकती। आरम्भसे ही इनमें पूर्ण निष्कामभाव था। जब भगवान् नृसिंहदेव-ने इनसे वर माँगनेको कहा तब इन्होंने जवाब दिया कि 'नाथ! मैं क्या लेन-देन करनेवाला व्यापारी हूँ? मैं तो आपका सेवक हूँ, सेवकका काम माँगना नहीं है और स्वामीका काम कुछ दे-दिलाकर सेवकको टाल देना नहीं है।' परन्तु जब भगवान्‌ने फिर आग्रह किया तो प्रह्लादने एक वरदान तो यह माँगा कि 'मेरे पिताने आपसे द्वेष करके आपकी भक्तिमें बाधा पहुँचानेके लिये मुझपर जो अत्याचार किये, हे प्रभो! आपकी कृपासे मेरे पिता उस दुष्कर्मद्वारा उत्पन्न हुए पापसे अभी छूट जायँ। 'त्वत्प्रसादात् प्रभो सद्यस्तेन मुच्येत मे पिता।' (विष्णुपु० १। २०। २४) कितनी महानता है। दूसरा वरदान यह माँगा कि 'प्रभो! यदि आप मुझे वरदान देना ही चाहते हैं तो यह दीजिये कि मेरे मनमें कभी कुछ माँगनेकी अभिलाषा ही न हो!'

कितनी अद्भुत निष्कामता और दृढ़ता है। पिताने कितना कष्ट दिया, परन्तु प्रह्लादजी सब कष्ट सुखपूर्वक सहते रहे, पितासे कभी द्वेष नहीं किया और अन्तमें महान् निष्कामी होनेपर भी पिताका अपराध क्षमा करनेके लिये भगवान्‌से प्रार्थना की!

भक्तवर ध्रुवजीमें एक बातकी और विशेषता है। उन्होंने अपनी सौतेली माता सुरुचिजीके लिये भगवान्‌से यह कहा कि 'नाथ! मेरी

माताने यदि मेरा तिरस्कार न किया होता तो आज आपके दुर्लभ दर्शनका अलभ्य लाभ मुझे कैसे मिलता ? माताने बड़ा ही उपकार किया है।' इस तरह दोषमें उलटा गुणका आरोपकर उन्होंने भगवान्‌से सौतेली माँके लिये मुक्तिका वरदान माँगा ! कितने महत्त्वकी बात है।

पर इससे यह नहीं समझना चाहिये कि भक्तवर प्रह्लादजीने पितामें दोषारोपणकर भगवान्‌के सामने उसे अपराधी बतलाया, इससे उनका भाव नीचा है। ध्रुवजीकी सौतेली माताने ध्रुवसे द्वेष किया था, उनके इष्टदेव भगवान्‌से नहीं, परन्तु प्रह्लादजीके पिता हिरण्यकशिपुने तो प्रह्लादके इष्टदेव भगवान्‌से द्वेष किया था।' अपने प्रति किया हुआ दोष तो भक्त मानते ही नहीं, फिर माता-पिताद्वारा किया हुआ तिरस्कार तो उत्तम फलका कारण होता है। इसलिये ध्रुवजीका मातामें गुणका आरोप करना उचित ही था। परन्तु प्रह्लादजीके तो इष्टदेवका तिरस्कार था। प्रह्लादजीने अपनेको कष्ट देनेवाला जानकर पिताको दोषी नहीं बतलाया, उन्होंने भगवान्‌से उनका अपराध करनेके कारण क्षमा माँगकर पिताका उद्धार चाहा।

वास्तवमें दोनों ही विलक्षण भक्त थे। भगवान्‌का दर्शन करनेके लिये दोनोंकी ही प्रतिज्ञा अटल थी। दोनोंने उसको बड़ी ही दृढ़ता और तत्परतासे पूर्ण किया। प्रह्लादजीने घरमें पिताके द्वारा दिये हुए कष्ट प्रसन्न मनसे सहे तो ध्रुवजीने वनमें अनेक कष्टोंको सानन्द सहन किया। नियमोंसे कोई किसी प्रकार भी नहीं हटे, अपने सिद्धान्तपर दृढ़तासे डटे रहे, कोई भी भय या प्रलोभन उन्हें तनिकसा भी नहीं झुका सका।

बहुत-सी बातोंमें एक-से होनेपर भी प्रह्लादजीमें निष्काम-भावकी विशेषता थी और ध्रुवजीमें सौतेली माताके प्रति गुणा-रोपकर उसके लिये मुक्ति माँगनेकी !

वास्तवमें दोनों ही परम आदर्श और वन्दनीय हैं, हमें दोनोंहीके जीवनसे शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये ।

भावनाके अनुसार फल

सब जग ईश्वररूप है, भलो बुरो नहिं कोय ।
जैसी जाकी भावना, तैसो ही फल होय ॥

सारा संसार ईश्वररूप है, जिसकी जैसी भावना होती है उसको उसीके अनुरूप फल भी प्राप्त होता है । मनुष्य जब बीमार होता है तब वह बहुत ही व्याकुल हुआ करता है । उसकी व्याकुलताका प्रधान हेतु यही है कि वह उस रोगमें दुःखकी भावना करता है । वेदना-का अनुभव होना दूसरी बात है और उससे दुखी होना और बात है । यदि रोगमें दुःखकी जगह तपकी भावना कर ली जाय तो मनुष्य रोगजन्य दुःखसे अनायास ही बच सकता है । वह केवल दुःखसे ही नहीं बच जाता, तपकी भावनासे उसके लिये वह रोग ही तपतुल्य फल देनेवाला भी हो जाता है । इस रहस्यके समझ लेनेपर ज्वरादि व्याधियोंमें मनुष्यको किञ्चिन्मात्र भी शोक नहीं होता । जैसे तपस्वी पुरुषको तप करनेमें महान् परिश्रम और अत्यन्त शारीरिक कष्ट उठाना पड़ता है, परन्तु वह कष्ट उसके लिये शोकप्रद न होकर

शोकनाशक और शान्तिप्रद होता है, वैसे ही रोगमें तपकी भावना करनेवाले रोगीको भी उसकी दृढ़ सद्भावनाके प्रभावसे वह रोग शोकप्रद न होकर हर्ष और शान्तिप्रद हो जाता है। भावनाके अनुसार ही फल होता है, इसलिये रोगपीड़ित मनुष्योंको उचित है कि वे रोगमें तपकी ही नहीं, बल्कि यह भावना करें यह रोग दयामय भगवान्‌का दिया हुआ पुरस्काररूप प्रसाद है। अतएव 'परम तप' है। यदि रोग आदिमें इस प्रकार परम तपकी भावना सुदृढ़ हो जाय तो अवश्य ही वे रोगादि परम तपके फल देनेवाले बन जाते हैं। परम तप इहलौकिक कष्टोंसे छुड़ाकर जीवको स्वर्गादि-से लेकर ब्रह्मलोकतक पहुँचा सकता है। और यदि फलासक्तिको त्यागकर कर्तव्यबुद्धिसे ऐसे परम तपका साधन किया जाय तो वह इस लोक और परलोकमें मुक्तिरूप परमा शान्तिकी प्राप्ति करानेवाला बन जाता है। तपसे जैसे पूर्वकृत पापोंका क्षय होता है, वैसे ही रोग-पीड़ा आदिमें परम तपकी दृढ़ भावनासे जीवके समस्त पापोंका क्षय हो जाता है और उसे परमपदकी प्राप्ति हो जाती है। जबतक मनुष्य रोगको कष्टदायक समझता है, तभीतक वह उससे द्वेष करता है, परंतु वही रोग जब तपके रूपमें—उपासनाके स्वरूपमें परिणत हो जाता है तब वह उससे तपशील तपस्वीकी भाँति न तो द्वेष करता है, न उसमें कष्ट मानता है और न उसकी निन्दा करता है। वह तो तपस्वीकी तरह उसकी प्रशंसा करता हुआ किसी भी कष्टको किञ्चित् भी परवा न करके परम प्रसन्न रहता है। इसी अवस्थामें उसके रोगको 'परम तप' समझा जा सकता है।

अत्यन्त व्याधिपीड़ित होनेपर जब मनुष्यके सामने मृत्युका

महान् भय उपस्थित होता है, उस समय उस मृत्युमें 'परम तप' की भावना करनेसे वह भी मुक्तिका कारण बन जाती है, यद्यपि मृत्यु-समयमें विद्वानोंको भी भय लगता है तब व्याधि-विकल विषयी मनुष्यों-की तो बात ही क्या है। तथापि मृत्युके समीप पहुँचे हुए व्याधि-पीड़ित मनुष्यको मुक्तिके लिये इस प्रकारकी भावना करनेका यथासाध्य प्रयत्न तो अवश्य ही करना चाहिये कि 'तपकी इच्छासे वनमें गमन करनेवाले तपस्वीको जैसे उसके मित्र-बान्धव वनके लिये विदा कर देते हैं, उसी प्रकार मृत्युके अनन्तर मुझे भी मेरे मित्र-बान्धव वनमें पहुँचा देंगे। वही मेरे लिये परम तप होगा। एवं जैसे तपस्वी वनमें जाकर पञ्चाग्नि आदिसे अपने शरीरको तपाता है वैसे ही मेरे बन्धु-बान्धव मुझे अग्निमें दग्ध करके तपावेंगे जो मेरे लिये परम तप होगा।

इस प्रकार मृत्युरूप महान् कष्टको परम तप समझनेवालेको शोक और मृत्युका भय नहीं होता। उसे मृत्युमें भी परम प्रसन्नता होती है। जैसे तपके लिये वनमें जानेवाले तपस्वीको वन जानेमें भय और बन्धु-बान्धव तथा कुटुम्बियोंके वियोगका दुःख न होकर प्रसन्नता होती है और जैसे वनमें चले जानेके बाद पापोंके नाश तथा आत्माकी पवित्रताके लिये किये जानेवाले पञ्चाग्नि-तापमें शारीरिक कष्ट शोकप्रद न होकर उत्साह, शान्ति और आनन्दप्रद होता है, वैसे ही अपनी सुदृढ़ भावनासे मृत्युको 'परम तप' के रूपमें परिणत कर देनेवाले पुरुषको भी मृत्युका भय और शोक नहीं होता। ऐसी अवस्था होनेपर ही समझना चाहिये कि उसका मृत्युको परम तपके रूपमें समझना यथार्थ है।

श्रुति कहती है—

'एतद्वै परमं तपो यद्व्याहितस्तप्यते परमं हैव लोकं जयति य एवं वेद। एतद्वै परमं तपो यं प्रेतमरण्यं हरन्ति परमं हैव लोकं जयति य एवं वेद। एतद्वै परमं तपो यं प्रेतमग्नावभ्यादधति परमं हैव लोकं जयति य एवं वेद।'

(बृह० ५। ११। १)

'ज्वरादि व्याधियोंसे पीड़ित रोगी जो उस व्याधिसे तपायमान होता है, उस कष्टको ऐसा समझे कि यह 'परम तप है।' इस प्रकार उस व्याधिकी निन्दा न करके और उससे दुखित न होकर उसे 'परम तप' माननेवाले विवेकी पुरुषका वह रोगरूप तप कर्मोंका नाश करनेवाला होता है और उस विज्ञानसे उसके सब पाप नष्ट हो जाते हैं, वह परम लोकको जीत लेता है अर्थात् मुक्तिको प्राप्त हो जाता है। इसी प्रकार मृत्युके समीप पहुँचा हुआ मनुष्य मृत्युको प्राप्त होनेसे पूर्व इस तरह चिन्तन करे कि मरनेके अनन्तर मुझे अन्त्येष्टिके लिये लोग जो ग्रामसे बाहर वनमें ले जायँगे, वह मेरे लिये परम तप होगा (क्योंकि ग्रामसे वनमें जाना 'परम तप' है, यह लोकमें प्रसिद्ध है)। जो उपासक इस प्रकार समझता है वह परम लोकको जीत लेता है। तथा मेरे शरीरको वनमें ले जाकर लोग उसे अग्निमें जलावेंगे, वह भी मेरे लिये परम तप होगा (क्योंकि अग्निसे शरीर तपाना परम तप है, यह लोकमें प्रसिद्ध है)। जो उपासक इस प्रकार समझता है 'वह परम लोकको जीत लेता है अर्थात् मुक्त हो जाता है।'

उपर्युक्त श्रुतिद्वारा उपदिष्ट विवेचनके अनुसार प्रत्येक मनुष्यको रोग और मृत्युमें परम तपकी भावना करके परमपदकी प्राप्तिके लिये पूरा प्रयत्न करना चाहिये ।

सत्यकी शरणसे मुक्ति

सत्—यह शब्द व्यापक है, असलमें तो 'सत्' शब्दपर विचार करनेसे यही सूझता है कि यह परमात्माका ही स्वरूप है—उसीका नाम है । जो पुरुष सत्के तत्त्वको जानता है वह परमात्माको जानता है । जो सत् है वही नित्य है—अमृत है, इसके तत्त्वका ज्ञाता मृत्युको जीत लेता है, शोक और मोहको लाँघकर निर्भय—नित्य परमधामको जा पहुँचता है । वह सदाके लिये अभय—अमृत-पदको प्राप्त हो जाता है । उसीको लोग संसारमें जीवन्मुक्त, ज्ञानी, महात्मा आदि नामोंसे पुकारते हैं । उसकी सबमें समबुद्धि हो जाती है, क्योंकि सत् परमात्मा सबमें सम है और वह सत्में स्थित है, इसलिये उसमें विषमताका दोष नहीं रह सकता । वह कभी असत्य नहीं बोलता । उसके मन, वाणी और शरीरसे होनेवाले सभी कर्म सत्य होते हैं । उसकी कोई भी क्रिया असत्य न होनेसे उसके द्वारा किया हुआ प्रत्येक आचरण सत्य समझा जाता है । वह जो आचरण करता या बतलाता है वही लोकमें प्रामाणिक माना जाता है—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥

(गीता ३ । २१)

ऐसे पुरुषका अन्तःकरण, शरीर और उसकी इन्द्रियाँ सत्यसे पूर्ण हो जाती हैं। उसके आहार-व्यवहार और क्रियाओंमें सत्य साक्षात् मूर्ति धारण करके विराजता है। ऐसे नर-रत्नोंका जन्म संसारमें धन्य है, अतः हमलोगोंको इस प्रकार समझकर सत्यकी शरण लेनी चाहिये, अर्थात् उसे दृढ़तापूर्वक भलीभाँति धारण करना चाहिये।

सत्यका स्वरूप

सत्य उसका नाम है जिसका किसी कालमें बाध नहीं होता। जो नित्य एकरस, सदा-सर्वदा सब जगह समभावसे स्थित है और जो स्वतः प्रमाण है।

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।

(गीता २। १६)

ऐसा 'सत्य' एक विज्ञान आनन्दघन चेतन परमात्मदेव ही है। श्रुति कहती है—

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म

(तैत्तिरीय० २। १। १)

जीवात्मा भी सत् है। परमेश्वरका अंश होनेके नाते उसको भी सनातन—नित्य कहा है—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।

(गीता १५। ७)

गीता अध्याय २ श्लोक १७ से २१ और २३ से २५ तकमें इस विषयका वर्णन किया गया है। अतएव उस सनातन,

अव्यक्त, सत्यरूप परमात्माकी शरण लेनेसे यह जीव मायाको लाँघकर सत्यस्वरूप परमात्माको प्राप्त हो जाता है । विज्ञान आनन्दघन परमात्मा सत्य है इसलिये उसका नाम भी सत् कहा गया है, क्योंकि रूपके अनुसार ही नाम होता है, यह लोकमें प्रसिद्ध ही है—

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।

(गीता १७ । २३)

ॐ, तत्, सत्—ये तीन नाम ब्रह्मके बताये गये हैं । 'सत्' शब्द भावका अर्थात् अस्तित्वका वाचक है । संसारमें जो कुछ भी सिद्ध होता है वह 'सत्' के आधारपर ही होता है अतएव सारे संसारका आधार सत्य ही है । सूर्य, चन्द्र, वायु पृथिवी आदि सब सत्यमें ही प्रतिष्ठित हैं । सत्यकी ही प्रतिष्ठासे सूर्य तपता है और वायु बहता है । बिना सत्यके किसी भी पदार्थकी सिद्धि नहीं होती । सत्य परमात्माका स्वरूप है और परमात्मा सबसे उत्तम अर्थात् श्रेष्ठ है, इसलिये श्रेष्ठ गुण, उत्तम कर्म और साधु-भावमें 'सत्' शब्दका प्रयोग किया गया है अर्थात् जो कुछ भी श्रेष्ठ गुण, उत्तम कर्म और साधु-भाव होता है वह सद्गुण, सद्भाव और सत्कर्म नामसे ही लोक और शास्त्रमें विख्यात है ।

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते ।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते ॥

(गीता १७ । २६)

उत्तम कर्म होनेके नाते यज्ञ, दान और तप भी सत्कर्मके

नामसे प्रसिद्ध हैं एवं इनमें जो निष्ठा तथा स्थिति है उसे भी 'सत्' कहते हैं । स्वार्थको त्यागकर सत्स्वरूप परमात्माके अर्थ किया हुआ प्रत्येक कर्म लोक और शास्त्रमें सत्कर्मके नामसे ही विख्यात है ।

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते ।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ॥
(गीता १७ । २७)

विचारनेसे यह बात युक्तियुक्त भी सिद्ध होती है कि सत्यके अर्थ जो भी क्रिया की जाती है वह सत्य ही समझी जाती है । इसीलिये सत्यके निमित्त कर्म करनेवालेकी कायिक, मानसिक और वाचिक सम्पूर्ण क्रियाएँ सत्य ही होती हैं यानी वे सब क्रियाएँ लोकमें सत्य प्रमाणित होती हैं ।

सत्य-भाषण

कपट, शब्द-चातुरी और कूटनीतिको छोड़कर हिंसावर्जित सरलताके साथ जैसा देखा, सुना और समझा हो उसे वैसा-का-वैसा—न कम, न ज्यादा—कह देना सत्य-भाषण है । सत्य-भाषणकी इच्छा करनेवाले पुरुषको निम्नलिखित बातोंपर विशेष ध्यान रखना चाहिये—

(१) न स्वयं झूठ कभी बोलना चाहिये और न किसीको प्रेरित करके बुलवाना चाहिये । दूसरेको प्रेरणा करके अथवा उसपर दबाव डालकर जो उससे झूठ बुलवाता है वह स्वयं झूठ बोलनेकी अपेक्षा गुरुतर मिथ्याभाषण करता है, क्योंकि इससे झूठका प्रचार अधिक होता है । किसी झूठ बोलनेवालेसे सहमत

भी नहीं होना चाहिये। उस समय मौन साधे रहना भी एक प्रकारसे झूठ ही समझा जाता है। तात्पर्य यह कि कृत, कारित और अनुमोदित—इनमेंसे किसी प्रकारका मिथ्याभाषण नहीं होना चाहिये।

(२) जहाँतक बन पड़े किसीकी निन्दा-स्तुति नहीं करनी चाहिये। निन्दा-स्तुति करनेवाला व्यक्ति स्वार्थ, काम, क्रोध, लोभ मोह, भय एवं उद्वेग आदिके वशीभूत होकर जोशमें आकर कम या अधिक निन्दा-स्तुति करने लग जाता है। इनमें निन्दा करना तो सर्वथा ही अनुचित है। विशेष योग्यता प्राप्त होनेपर यदि कहीं स्तुति करनी पड़े तो वहाँ भी बड़ी सावधानीके साथ काम लेना चाहिये।

जो अधिक स्तुतिके योग्य हो और उसकी कम स्तुति की जाय तो अर्थान्तरसे वह स्तुति निन्दाके तुल्य ही हो जाती है।

जो कम स्तुतिके योग्य हो, उसकी अधिक स्तुति हो जाय तो उससे जनतामें भ्रम फैलकर लाभके बदले हानि होनेकी सम्भावना है। इस प्रकारकी झूठी स्तुतिसे स्वयं अपनी और जिसकी स्तुति की जाय उसकी लाभके बदले हानि ही होती है। परंतु किसी बातका निर्णय करनेके लिये राज्यमें या पंचायतमें जो यथार्थ बात कही जाय तो उसका नाम निन्दा-स्तुति नहीं है। उसमें यदि किसीकी निन्दा-स्तुतिके वाक्य कहने पड़ें तो भी उसे वास्तवमें वक्ताकी नीयत शुद्ध होनेसे उसे निन्दा-स्तुतिमें परिगणित नहीं करना चाहिये।

कोई व्यक्ति यदि अपने दोष जाननेके लिये पूछनेका आग्रह

करे तो प्रेमपूर्वक शान्तिसे उसे उसका यथार्थ दोष बतला देना भी निन्दा नहीं है।

(३) यथासाध्य भविष्यतकी क्रियाओंका प्रयोग नहीं करना चाहिये। ऐसी क्रियाओंका प्रयोग विशेष करनेसे उनका सर्वथा पालन होना कठिन है, अतः उनके मिथ्या होनेकी सम्भावना पद-पदपर बनी रहती है। जैसे किसीको कह दिया कि 'मैं कल निश्चय ही आपसे मिलूँगा,' किंतु फिर यदि किसी कारणवश वहाँ जाना न हो सका तो उसकी प्रतिज्ञा झूठी समझी जाती है। अतः ऐसे अवसरोंपर यही कहना उचित है कि 'आपके घरपर कल मेरा आनेका विचार है या इरादा है।'

(४) किसीको शाप या वर नहीं देना चाहिये। इससे तपकी हानि होती है। शाप देनेसे तो पापका भी भागी होना सम्भव है। इस प्रकारके बुरे अभ्याससे स्वभावके बिगड़ जानेपर सत्यकी हानि और आत्माका पतन होता है।

(५) किसीके साथ हँसी-मजाक नहीं करना चाहिये। इसमें प्रायः विनोद-बुद्धिसे असत्य शब्दोंका प्रयोग हो ही जाया करता है। जिसकी हम हँसी उड़ाते हैं, वह बात उसके मनके प्रतिकूल पड़ जानेपर उसके चित्तपर आघात पहुँच सकता है; जिससे हिंसा आदि दोषोंके आ जानेकी भी सम्भावना है।

(६) व्यङ्ग्य और कटाक्षके वचन भी नहीं बोलने चाहिये। इनमें भी झूठ-कपट और हिंसाके दोष घट सकते हैं।

(७) शब्द-चातुरीके वचनोंका प्रयोग नहीं करना चाहिये। जैसे, शब्दोंसे तो कोई बात सत्य है, परंतु उसका आन्तरिक अभिप्राय है विपरीत । राजा युधिष्ठिरने अपने गुरुपुत्र अश्वत्थामाकी मृत्युके सम्बन्धमें अश्वत्थामा नामक हाथीका आश्रय लेकर शब्द-चातुर्यका प्रयोग किया था । वह मिथ्या-भाषण ही समझा गया ।

(८) मितभाषी बनना अर्थात् गम्भीरताके साथ विचारकर यथासाध्य बहुत कम बोलना चाहिये, क्योंकि अधिक शब्दोंका प्रयोग करनेसे विशेष विचारके लिये समय न मिलनेके कारण भूलसे असत्य शब्दका प्रयोग हो सकता है ।

सत्यके पालन करनेवाले मनुष्योंको काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, द्वेष, ईर्ष्या और स्नेहादि दोषोंसे बचकर बोलनेकी चेष्टा करनी चाहिये । जिस समय सत्यकी प्रतिष्ठा हो जाती है उस समय उपर्युक्त दोष प्रायः नष्ट हो जाते हैं । जब कि इनमेंसे किसी एक दोषके कारण भी मनुष्य सत्यसे विचलित हो जाता है तो फिर अधिक दोषोंके वशमें होकर असत्य-भाषण करनेमें तो आश्चय ही क्या है ?

सत्य बोलनेवाले पुरुषको हिंसा और कपटसे खूब सावधानी रखनी चाहिये । जिस सत्य-भाषणसे किसीकी हिंसा होती है तो वह सत्य सत्य नहीं है, इसके सम्बन्धमें महाभारत-कर्णपर्वके ६९ वें अध्यायमें कौशिक ब्राह्मणकी कथा प्रसिद्ध है । ऐसे अवसरपर सत्य-भाषणकी अपेक्षा मौन रहना अथवा न बतलाना ही सत्य है। हाँ, अपनी या दूसरेकी प्राण-रक्षाके लिये झूठ बोलना पड़े तो यह

सत्य तो नहीं समझा जाता, परंतु उसमें पाप भी नहीं माना गया है।

जिस सत्यमें कपट होता है वह सत्य सत्य नहीं समझा जाता। सत्य बोलनेवाला मनुष्य जान-बूझकर सत्यका जितना अंश शब्दोंसे या भावसे छिपाता है, वह उतने अंशकी चोरी करता है। हिंसा और कपट—ये दोनों ही सत्यमें कलङ्क लगानेवाले हैं। इसलिये जिस सत्यमें हिंसा और कपटका थोड़ा भी अंश रहता है वह सत्य शब्दोंसे सत्य होनेपर भी झूठ ही समझा जाता है।

जो विषयी और पामर पुरुष हैं वे तो बिना ही कारण प्रमादवश झूठ बोल दिया करते हैं, क्योंकि सत्य-भाषणके रहस्य और महत्त्वसे वे सर्वथा अनभिज्ञ होते हैं। उनका पतन होना भी फलतः स्वाभाविक ही है, परंतु जो विचारशील पुरुष हैं वे सत्यको उत्तम समझकर उसके पालनकी इच्छा तो रखते हैं, किंतु उनसे भी सर्वथा सत्यका पालन होना कठिन है। अनन्त जन्मोंसे मिथ्या-भाषणका अभ्यास होनेके कारण उनके लिये भी सत्यकी सिद्धि दुष्कर है। पर विवेक-बुद्धिके द्वारा स्वार्थको छोड़कर जो सत्यके पालनकी विशेष चेष्टा करते हैं उनके लिये इसका पालन होना—इसकी प्रतिष्ठा होनी सम्भव है असाध्य नहीं। जो सत्यका अच्छी प्रकार अभ्यास कर लेता है अर्थात् जिसकी सत्यमें सर्वाङ्ग-प्रतिष्ठा हो जाती है उसकी वाणी सत्य हो जाती है। अर्थात् वह जो कुछ कहता है वह सत्य हो जाता है। महर्षि पतञ्जलि भी योगपाद २ सूत्र ३६ में कहते हैं—

'सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्'

अगस्त्यके वचनोंसे नहुषका पतन हो जाना आदि अनेक कथाएँ शास्त्रोंमें प्रसिद्ध ही हैं।

सत्य बोलनेवाला पुरुष निर्भय हो जाता है। जबतक भय रहता है तबतक यथार्थ भाषण नहीं होता—भयके कारण कहीं-न-कहीं मिथ्या भाषण घट ही जाता है। जो सर्वथा सत्यको जीत लेता है वही क्षमाशील होता है, वही क्रोधके वशीभूत नहीं होता। क्रोधी मनुष्य सत्यके पालनमें सर्वथा असमर्थ रहता है। क्रोधोन्मादमें वह क्या-क्या नहीं बक बैठता?

सत्य-पालनके प्रभावसे मनुष्यमें निरभिमानिता आ जाती है। मान और प्रतिष्ठाकी जहाँ इच्छा होती है वहाँ दम्भ और कपटको आश्रय मिल जाता है। और बस, जहाँ इन्होंने प्रवेश किया वहाँसे सत्य तत्काल कूच कर जाता है। निःसंदेह कपटी और दम्भीका सत्यसे पतन हो जाना अनिवार्य है।

जब सर्वथा सत्यकी प्रतिष्ठा हो जाती है तो उस सत्यवादीमें किसी प्रकारकी इच्छा या कामना नहीं रहती। भोगोंकी इच्छा-वाला मनुष्य भला क्या-क्या अनर्थ नहीं कर बैठता? क्योंकि काम ही पापोंका मूल है। इसीलिये कामके वशीभूत हुआ कामी पुरुष झूठ, कपट, छल आदि दोषोंकी खान बन जाता है। अतएव सत्यके सम्यक् पालनसे काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या और अहङ्कार आदि दोषोंका नाश हो जाता है और वह मनुष्य एक सत्यके ही पालन-से दया, शान्ति, क्षमा, समता, निर्भयता आदि सम्पूर्ण गुणों-का भण्डार बन जाता है। अतः मनुष्यको सत्य-भाषण-पर कटिबद्ध होकर विशेषरूपसे प्रयत्न करना चाहिये।

सत्य आहार

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र कोई भी क्यों न हो, शास्त्रके द्वारा बतलायी हुई विधिके अनुसार न्यायपूर्वक अपने परिश्रमद्वारा उपार्जित द्रव्यसे वह जो सात्त्विक* आहार करता है उसका नाम सत्य आहार है। यद्यपि ब्राह्मणके लिये दान लेकर भी जीविका-निर्वाह करना शास्त्रानुकूल है तथापि दाताका उपकार किये विना जो याचनावृत्तिसे अपना धर्म समझकर जीविका करता है वह ब्राह्मणोंमें निन्दनीय समझा जाता है। उससे तपका नाश, आलस्य तथा अकर्मण्यताकी वृद्धि होती है, इसलिये शास्त्रोक्त होनेपर भी इस प्रकारकी जीविकासे किया हुआ सत्य आहार सत्य आहार नहीं है। इसलिये ब्राह्मणको दाताका प्रत्युपकार करके अथवा शिलोञ्छवृत्तिसे जीविका-निर्वाह करना चाहिये, इसी प्रकार क्षत्रियको भी स्वधर्मके अनुसार सत्य और न्यायसे उपार्जित शुद्ध द्रव्यसे जीविका चलानी चाहिये।

यद्यपि वैश्यके लिये ब्याज लेकर जीविका-निर्वाह करना धर्म-शास्त्रानुकूल है तथापि क्रय-विक्रय-व्यापारके विना केवल ब्याज-वृत्तिकी शास्त्रकारोंने निन्दा की है। इसलिये भगवान्‌ने गीतामें इसका उल्लेख ही नहीं किया। इससे आलस्य और निरुद्यमताकी वृद्धि होती है। गिरवी रखे हुए आभूषण और जमीन आदिकी कीमतसे भी मूलसहित ब्याजकी रकम जब अधिक हो जाती है तो

* आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः॥
(गीता १७।८)

कर्जदार उनको छुड़ाकर वापस नहीं ले सकता। इससे उसकी आत्माको बड़ा कष्ट पहुँचता है। अतः केवल व्याजकी जीविका निन्दनीय है। इस प्रकारकी जीविकासे जो वैश्य आहार करता है वह आहार भी सत्य नहीं है, इसी प्रकार शूद्र आदिके लिये समझ लेना चाहिये।

जो पुरुष शास्त्रविहित अपने वर्णाश्रमके अनुकूल परिश्रम करके न्यायसे प्राप्त हुए सात्त्विक द्रव्यका आहार करता है उसका वह आहार सत्य आहार कहलाता है। जैसे कोई वैश्य झूठ और कपट-को त्यागकर ईश्वरकी आज्ञासे अपना धर्म समझकर क्रय-विक्रय आदि न्याययुक्त जीविकाद्वारा प्राप्त सात्त्विक पदार्थोंका सेवन करता है तो उसका वह आहार सत्य आहार है। व्यापार करने-वाले वैश्यको उचित है कि यथासाध्य कम-से-कम मुनाफा लेकर माल विक्री करे; गिनती, नाप और वजनमें न कम दे और न अधिक ले; व्याज, मुनाफा, आढ़त और दलाली ठहराकर न किसीको कम दे और न अधिक ले; लेन-देनके विषयमें जैसा सौदा चतुर और समझदार आदमीसे किया जाय उसी दरसे मूर्ख, भोले और सीधे-सादे आदमीके साथ करे अर्थात् सबके साथ सम बर्ताव करे। जो कुछ सम्पत्ति हो उसे ईश्वरकी समझकर लाभ-हानिमें सम रहते हुए दक्षतापूर्वक व्यापार करे और ऐसी चेष्टा की जाय कि जिससे मूल धनका नाश न हो; जहाँतक हो सके किसीकी जीविकाकी हानि न करके विशेष हिंसाका बचाव रखते हुए न्यायसे धन-उपार्जन करे और सादगीसे रहे; जितने कमसे अपना और अपने कुटुम्बका निर्वाह हो सके—ऐसी चेष्टा करे, बढ़े हुए धनमें भी अपना स्वत्व न समझकर संसारका हितचिन्तन करके

लोकोपकारके ही लिये व्यय करे, यही सत्य व्यापार है। इस प्रकारके व्यापारद्वारा उपार्जित द्रव्यसे जो सात्त्विक अन्नादिका आहार किया जाता है वह वैश्यके लिये सत्य आहार है, इसी प्रकार अन्य सबके लिये समझ लेना चाहिये।

सद्भाव और सद्व्यवहार

ऊपर लिखा जा चुका है कि 'सत्' परमेश्वरका नाम है। अतः उसे प्राप्त करवानेवाले भाव और व्यवहार ही सद्भाव और सद्व्यवहार हैं। उन्हींको साधुभाव कहा गया है। गीताके १३वें अध्यायमें ये ज्ञानके नामसे एवं १६वेंमें दैवी-सम्पदाके नामसे प्रसिद्ध हैं। उनमें जो भाववाचक शब्द हैं वे सब साधुभाव समझे जाने चाहिये। जिन पुरुषोंमें उत्तम भाव रहते हैं वे परमात्माकी प्राप्तिके पात्र समझे जाते हैं, अतः प्राप्तिमें हेतु होनेसे उनको सद्भाव कहा गया है।

अमानित्व (मानका न चाहना), क्षमा (अपने साथ किये गये अत्याचारोंका बदला न चाहना), कोमलता, सरलता, पवित्रता, शान्ति, शीतलता, समता, वैराग्य, श्रद्धा, दया, उदारता, सुहृदता इत्यादि भाव साकार परमेश्वरमें तो स्वाभाविक होते हैं एवं भगवान्‌की शरण होकर उनकी उपासना करनेवाले भक्तोंमें उनकी दयासे विकसित हो जाते हैं। ऐसे सद्भावोंसे युक्त भक्त परमात्म-दर्शनके अधिकारी होते हैं। अतः हमलोगोंको ऐसे भावोंको प्राप्त करनेके लिये सब प्रकारसे परमेश्वरकी शरण लेनी चाहिये। भगवत्-दयासे जिस मनुष्यमें उपर्युक्त सद्भाव आ जाते हैं उसके आचरण भी सत्य ही होते हैं, क्योंकि सदाचारमें सद्भाव ही हेतु बतलाये गये हैं।

जैसा आन्तरिक भाव होता है वैसी ही बाहरी चेष्टा होती है। अतः सद्भावसे मुक्ति और असद्भावसे पतन समझना चाहिये। उपर्युक्त सद्गुणोंसे सम्पन्न पुरुष यथासाध्य उस जगह नहीं जाता जहाँ मान, बड़ाई और पूजा मिलनेकी सम्भावना होती है। यदि कोई व्यक्ति उसका अनिष्ट कर देता है तो वह यही समझता है कि मेरे पूर्वकृत कर्मोंके फलसे हुआ है, यह तो निमित्तमात्र है—ऐसा मानकर वह किसीसे द्वेष या घृणा नहीं करता। बल्कि अवसर पड़नेपर उसके हृदयसे संकोच, ग्लानि, भय और द्वेषको दूर करनेकी ही चेष्टा करता है।

यदि उसके साथ कोई असद्व्यवहार करता है अथवा व्यङ्ग्य और कठोर वाक्योंका प्रयोग करता है तो भी वह विनय और सरलतासे सनी हुई मधुर वाणीसे उसी प्रकार शान्तिपूर्वक उत्तर देता है जिस प्रकार श्रीरामचन्द्रजीने कैकेयीको दिया—

सुनु जननी सोइ सुतु बड़भागी। जो पितु मातु बचन अनुरागी॥
तनय मातु पितु तोषनिहारा। दुर्लभ जननि सकल संसारा॥
मुनिगन मिलनु बिसेषि बन सबहि भाँति हित मोर।
तेहि महँ पितु आयसु बहुरि संमत जननी तोर॥
भरतु प्रानप्रिय पावहिं राजू। बिधि सब बिधि मोहि सनमुख आजू॥
जौं न जाउँ बन ऐसेहु काजा। प्रथम गनिअ मोहि मूढ़ समाजा॥

वास्तवमें ऐसा सद्भावोंसे सम्पन्न पुरुष सारे जगत्‌में अपने परम प्रिय स्वामी परमात्माका स्वरूप देखता है और मन-ही-मन सबको प्रणाम करता हुआ सबके साथ सद्व्यवहार करता है।

सीयराममय सब जग जानी। करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी॥

ऐसे पुरुषोंका वैरी अथवा मित्रमें समभाव रहता है और काम पड़नेपर वे वैसा ही व्यवहार करते हैं जैसा श्रीकृष्णने अर्जुन और दुर्योधनके साथ किया था। महाभारतके युद्ध-आरम्भके पूर्व जब वे दोनों श्रीकृष्णके पास गये तो उन्होंने यही कहा कि मेरे लिये तुम दोनों ही समान हो। मेरे पास जो कुछ है, उसे तुम दोनों इच्छानुसार बाँटकर ले सकते हो। एक ओर तो मेरी एक अक्षौहिणी सेना है और दूसरी ओर मैं स्वयं निःशस्त्र हूँ। तुम्हारे परस्परके युद्धमें मैं शस्त्र ग्रहण न करूँगा। इन दोनोंमेंसे जिसे जो जँचे वह ले सकता है। इसपर दुर्योधनने सेनाको लिया और अर्जुनने भगवान् श्रीकृष्णको।

तथा ऐसे पुरुषोंको बड़े भारी विषयभोग भी वैसे ही विचलित नहीं कर सकते, जैसे यमराजका दिया हुआ प्रलोभन नचिकेताको न कर सका। उसने रथ, घोड़े और स्वर्गादिके ऊँचे-से-ऊँचे भोगोंका तत्काल ठुकराकर परमात्म-धनको ही पसंद किया—

न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यो
लप्स्यामहे वित्तमद्राक्ष्म चेत्त्वा।
जीविष्यामो यावदीशिष्यसि त्वं
वरस्तु मे वरणीयः स एव॥
अजीर्यताममृतानामुपेत्य
जीर्यन्मर्त्यः क्वधःस्थः प्रजानन्।
अभिध्यायन्वर्णरतिप्रमोदा-
नतिदीर्घे जीविते को रमेत॥

यस्मिन्निदं विचिकित्सन्ति मृत्यो
यत्साम्पराये महति ब्रूहि नस्तत्।
योऽयं वरो गूढमनुप्रविष्टो
नान्यं तस्मान्नचिकेता वृणीते ॥
(कठ० १।१।२७—२९)

'मनुष्य द्रव्यसे तृप्त नहीं होता। धन तो आपके दर्शनसे मिल ही जायगा। जबतक आप (अनुग्रहपूर्वक प्राणियोंपर) शासन करते रहेंगे, तबतक मैं जीवित भी रह सकूँगा, परंतु मैं तो वही वर चाहता हूँ जो मैंने माँगा है। जरारहित अमृतरूप देवोंके समीप जाकर जरा-मरणयुक्त तथा पृथिवीरूपी अधःस्थानमें स्थित रहा हुआ कौन पुरुष अनित्य वस्तुको चाहेगा? रूप, क्रीड़ा और उससे उत्पन्न होनेवाले सुखको अनित्य जानकर कौन पुरुष लंबी आयुसे संतुष्ट होगा? हे मृत्यो! परलोक-सम्बन्धी आत्मतत्त्वमें जो शङ्का की जाती है, वह आत्मविज्ञान ही मुझसे कहिये, इस अत्यन्त गूढ़ वरके अतिरिक्त नचिकेता और कुछ नहीं माँगता।'

और ऐसे पुरुषोंका वेद, शास्त्र और महापुरुषोंके वचनोंमें भी प्रत्यक्षवत् विश्वास होता है। जैसे कल्याणकामी सत्यकामका गुरु-वचनोंमें बड़ा भारी विश्वास था। वह उद्दालककी सेवामें ब्रह्मज्ञानके उपदेशार्थ उपस्थित होता है। उसे गुरु तत्काल आज्ञा दे देते हैं कि—'ये चार सौ गायें वनमें ले जाओ, पूरी हजार हो जानेपर वापस चले आना' (छान्दोग्य० ४।४।५)। कहना नहीं होगा कि आनी

दृढ़ श्रद्धा और गुरुप्रसादके कारण सत्यकाम वनमें ही आत्मज्ञान प्राप्तकर कृतकृत्य हो गया।

अत्यन्त निष्ठुरता और निर्दयताका व्यवहार करनेवालेके साथ भी उत्तम पुरुष उदारता, दया और सुहृदताका ही बर्ताव करते हैं। इस सम्बन्धमें भक्त जयदेव कविका चरित्र बड़े महत्त्वका है—

एक बार भक्तशिरोमणि अयाचक जयदेवको किसी राजाने अनेक प्रकारसे अनुनय-विनय करके बहुमूल्य रत्न प्रदान किये। उस विपुल धनराशिको लेकर जब वह अपने घरको जा रहे थे तो मार्गमें डाकुओंसे भेंट हुई। लोभ किससे क्या नहीं करवा लेता? डाकुओंने रत्न छीनकर बेचारे निःस्पृही भक्तके हाथ काट डाले! धनलिप्साकी इतिश्री यहीं नहीं हो गयी! उन्होंने निर्दयतापूर्वक उन्हें पासके किसी जलहीन सूखे कूएँमें डालकर और भी अधिक पापकी पोटली बाँधी! दैवयोगसे राजा उसी कुएँपर प्याससे व्याकुल होकर आ पहुँचा। ज्यों ही पानी खींचनेके लिये रस्सी अन्दर लटकायी, त्यों ही परिचित-सी आवाज सुन पड़ी। पूछनेपर पता चला कि वह कष्टापन्न व्यक्ति जयदेवके सिवा कोई दूसरा न था। राजाने उसे बाहर निकलवाकर दुःख-भरे चकित-भावसे पूछा, 'यह क्या हुआ जयदेव? किस निष्ठुरने तुम्हारे साथ यह दुर्व्यवहार कर अपनी मौतको याद किया है?' भक्त चुप रहा—अनेक बार आग्रह करनेपर भी न बोला। राजाका कोई वश न चला। वह उसे अपने राजमहलमें ले जाकर रात-दिन उसकी सेवा-शुश्रूषामें तत्पर रहने लगा। संयोगसे वे ही

डाकू महलकी ओर आते हुए दीख पड़े। आनन्दोल्लासभरे स्वरमें जयदेव बोल उठा—'राजन्! आप मुझे धन लेनेके लिये अनेक बार प्रार्थना किया करते हैं। आज आप इच्छानुसार खुले दिलसे मेरे इन मित्रोंको दान कर सकते हैं।' कहनेभरकी देरी थी। राजाने उन भयकम्पित डाकुओंको अपने पास बुलवाया। अपराधी लुटेरोंके प्राण कण्ठको आने लगे—टाँगें परस्पर टकराने लगीं। बहुत देरतक आशा-आश्वासन पानेके बाद उनका धड़कता हुआ हृदय थमा। साहस करके जो मनमें आया वही माँगा। अपने दुष्कृत्योंका उलटा फल पाकर वे अचम्भित और हर्षित हुए। साथ-में कोतवालको नियुक्त करके उन्हें सादर बिदायी दी गयी। कोतवालने इस अद्भुत रहस्यके जाननेके लिये उत्सुकतापूर्ण भावसे पूछा—'क्योंजी! आपका जयदेवजी भक्तके साथ क्या सम्बन्ध है? उन्होंने इतनी अधिक सम्पत्ति दिलवाकर किस कृतज्ञताका बदला चुकाया है?'

डाकुओंने छलभरी मुसकराहटके साथ कहा—'कोतवाल साहब! हमलोगोंने इस जयदेवको एक बार मृत्युके मुखसे बचाया था—अब यह उसी प्राण-दानका बदला चुका रहा है।' अन्तिम अक्षरके निकलते ही उनके आगेकी पृथ्वी झटसे फट पड़ी और उन पतितोंको उसने अपनेमें सदाके लिये समा लिया। कोतवालने राज-दरबारमें उपस्थित होकर दोनोंके सम्मुख सारा वृत्तान्त कह सुनाया। सुनते ही जयदेवकी आँखोंसे आँसू बह निकले। आँसू पोंछनेपर उनके दोनों हाथ निकल आये। राजाके विस्मित होकर

बार-बार पूछनेपर परम भागवत जयदेवने सारा हाल कह सुनाया। राजाका आश्चर्य घटनेकी अपेक्षा और भी अधिक बढ़ गया। उसने तत्काल पूछा—'जब आपके हाथ इन्होंने काट दिये तो ये मित्र कैसे ?'

जयदेव—मैंने प्रतिग्रह स्वीकार न करनेकी जो प्रतिज्ञा कर रक्खी थी, वह आपके आग्रहवश तोड़नी पड़ी। उसी प्रतिज्ञाभङ्गके दण्डस्वरूप मेरे हाथ काटकर इन्होंने मुझे उपदेश दिया। इस प्रकारके क्रियात्मक उपदेशद्वारा हित-साधन करनेवाले लोग मित्र नहीं तो क्या हैं ?

राजा—इनको आपने धन कैसे दिलवाया ?

जयदेव—कहीं धनकी लालसा रहनेपर ये फिर भी कभी समय पाकर किसी निरपराधका खून कर सकते हैं, ऐसा विचारकर इनकी कामना-पूर्ति और संतोषके लिये मैंने आपसे धन दिलवाया। मित्रताके नाते भी धन दिलवाना न्यायसङ्गत ही था।

राजा—इनकी मृत्युसे आप रोने कैसे लगे ?

जयदेव—मेरे निमित्तसे इन्हें प्राणोंसे हाथ धोना पड़ा। मुझे लोग श्रेष्ठ कहते हैं, श्रेष्ठके सङ्गका फल श्रेष्ठ होना चाहिये, पर हुई बात इसके विपरीत। इसीलिये मैं रोता हूँ कि 'हे प्रभो! मैंने ऐसा कौन-सा अपराध किया था कि जिससे इनको मेरे सङ्गका यह दुष्परिणाम भोगना पड़ा ?'

राजा—तो आपके हाथ कैसे आ गये ?

जयदेव—यह ईश्वरकी दया है। वे अपने सेवकके अपराधोंका

विचार न कर अपने विरद—अपने दयापूर्ण स्वभावकी ओर ही देखते हैं।

भक्त-शिरोमणि जयदेवके ये वचन सुनकर राजा पुलकित हो उठा—आनन्दसे गद्गद हो गया। इसका नाम है सत्यपालकका सद्भाव और उसकी सुहृदयता।

सत्कर्म

परम पिता परमेश्वर सत् हैं, इसलिये उनके निमित्त किये जानेवाले कर्म भी सत्कर्म हैं।

कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते।

(गीता १७। २७)

अतएव मोक्षकी इच्छा रखनेवाले पुरुषद्वारा जो कुछ भी कर्म किया जाता है, वह भगवदर्थ ही होता है।

तदित्यनभिसन्धाय फलं यज्ञतपःक्रियाः।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः॥

(गीता १७। २५)

इस प्रकार ईश्वरार्थ और ईश्वरार्पण कर्म करनेसे मनुष्य पुण्य और पापोंसे छूटकर सत्स्वरूप परमात्माको प्राप्त हो जाता है। ईश्वरार्थ और ईश्वरार्पण दोनों ही प्रकारके कर्म मुक्तिके देनेवाले हैं। भगवान् श्रीकृष्णने स्थान-स्थानपर इस प्रकार कर्म करनेकी आज्ञा अर्जुनको दी है। देखिये—गीता अध्याय ३। ९, ९। २७, १२। १०-११ आदि।

इसलिये यज्ञ, दान, तप, सेवा, पूजा या जीविका आदिके सभी कर्म ईश्वरार्थ ही करने चाहिये। जैसे सच्चा सेवक (मुनीम, गुमाश्ता) प्रत्येक कार्य स्वामीके नामपर, उसीके निमित्त, उसीकी इच्छाके अनुसार करता हुआ किसी कर्म अथवा धनपर अपना अधिकार नहीं समझता है और स्वप्नमें भी किसी वस्तुपर उसके अन्तःकरणमें ममत्वका भाव न आनेसे वह न्याययुक्त की हुई प्रत्येक क्रियामें हर्ष-शोकसे मुक्त रहता है, उसी प्रकार भगवान्‌के भक्तको उचित है कि वह अपने अधिकारगत धन, परिवार आदि सामग्रीको ईश्वरकी ही समझकर उसकी आज्ञाके अनुसार उसीके कार्यमें लगानेकी न्याययुक्त चेष्टा करे और वह जो भी नवीन कर्म अथवा क्रिया करे उसे उसकी प्रसन्नता और आज्ञाके अनुकूल ठीक उसी प्रकार करे जिस प्रकार बंदर नटकी इच्छा और आज्ञानुसार करता है।

यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि ईश्वरकी इच्छाका पता किस प्रकार चले ? इसके उत्तरमें यह कहा जा सकता है कि आप इस सम्बन्धमें ईश्वरसे पूछ सकते हैं ? वह आपके हृदयमें विराजमान है—

सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।

(गीता १५। १५)

'हमारे लिये क्या करना उचित है और क्या अनुचित है' यह बात आप अपने हृदयस्थ परमात्मासे यदि जानना चाहेंगे तो वह न्यायकारी प्रभु आपके हृदयमें सत्प्रेरणा ही करेंगे। जब कोई व्यक्ति सद्भावसे अन्तरात्मासे परामर्श लेता है तो उसे पवित्र आत्मा-

द्वारा सत्परामर्श ही प्राप्त होता है। साधारणतः जैसे कोई अपनी आत्मासे पूछता है कि 'चोरी, व्यभिचार, झूठ और कपट आदि कर्म कैसे हैं?' तो उत्तर मिलता है कि 'त्याज्य हैं—निषिद्ध हैं!' इसी प्रकार ब्रह्मचर्य, अहिंसा और सत्य आदिके विषयमें सम्मति माँगनेपर यही उत्तर मिलता है कि 'अवश्य पालनीय हैं।' अज्ञान, राग-द्वेष और संशय आदि दोषोंद्वारा हृदयके आच्छादित रहनेपर किसी-किसी विषयमें निश्चित उत्तर नहीं मिलता, अतः ऐसे अवसरपर अपनी दृष्टिमें जो भगवान्‌के तत्त्वको जाननेवाले महापुरुष हों, उनके द्वारा बतलाये हुए विधानको ईश्वरकी आज्ञा मानकर तदनुकूल आचरण करना चाहिये।

सत्स्वरूप परमात्माकी प्राप्ति करानेवाले व्यवहारका नाम ही सद्व्यवहार है। इसीको सदाचार कहते हैं। अपना कल्याण चाहनेवाले साधकोंको उचित है कि वे इनके पालनकी ओर विशेषरूपसे सचेष्ट रहें। भगवत्प्राप्त पुरुषोंमें तो सत्यका आचरण स्वाभाविक ही होता है।

संसारमें किसी जीवको कभी भी किसी प्रकारसे दुःख, भय और क्लेश नहीं पहुँचाना चाहिये और न पहुँचानेकी इच्छा या प्रेरणा ही करनी चाहिये। यदि कोई किसीको कष्ट पहुँचाता हो तो उसको किसी प्रकारसे न तो सहायता ही देनी चाहिये और न उसका अनुमोदन ही करना चाहिये। इतना ही नहीं, वरं भीतरमें प्रसन्नता भी न माननी चाहिये।

अज्ञान और राग-द्वेष सदाचारके लिये परम विघातक हैं।

अतः साधकको इनसे खूब ही बचकर रहना चाहिये। भ्रम और मूर्खताके कारण मनुष्य हर एक प्रकारके दुराचरणमें प्रवृत्त हो जाता है। इसलिये सदाचारी मनुष्यको सत्य और असत्यके विषयमें शास्त्र और साधु पुरुषोंकी सहायतासे अपनी बुद्धिद्वारा निर्णय करके सत्यका आचरण करना चाहिये। अन्यथा वह सत्यको असत्य और दुराचारको सदाचारका रूप देकर दुराचरणमें प्रवृत्त हो जाता है, जिससे उसका परमार्थ-भ्रष्ट हो जाना स्वाभाविक है।

राग

यह साधकका बड़ा भारी शत्रु है। यही काम और लोभके रूपमें परिणत होकर समस्त अनर्थोंका मूल बन जाता है। इसीके कारण यह विषयोंका दास होकर अर्थकी कामनाके लिये संसारमें भटकता फिरता है। आत्मसुधारकी कामनावाले पुरुषको इस बात-का पद-पदपर ध्यान रखना चाहिये कि कहीं मैं स्वार्थके चंगुलमें फँसकर आचरण-भ्रष्ट न हो जाऊँ। जब मनुष्य किसी कार्यको आरम्भ करता है तो आसक्तिके स्वाभाविक दोषोंके कारण उस कार्य-की सिद्धि-असिद्धिमें निजी स्वार्थका अन्वेषण करने लगता है और सोचता है कि उस कार्यके करनेमें मुझे क्या लाभ प्राप्त होगा? इस प्रकारकी अर्थ-कामना उसे सब विषयोंका दास बनाकर श्रेय-मार्गसे तत्काल गिरा देती है। अतः कल्याणकामी साधकको उचित है कि वह कार्य-आरम्भके पूर्व ही सावधान हो जाय कि जिससे स्वार्थको घर कर लेनेका अवसर न मिल सके? मनमें स्वार्थके प्रवेश कर जानेसे सदाचार दुराचारके रूपमें परिणत हो जाता है।

सदाचारका पालन करनेमें यदि भूलसे कुछ कमी आ जाय या किसी अंशमें कहीं पालन न बन सके तो निःस्वार्थी पुरुष दोषी नहीं समझा जाता। दोष तो सारा स्वार्थसे आता है। स्वार्थ बड़ा ही प्रबल है, इसका ऐसा विस्तार और प्रसार है कि यह पद-पदपर व्याप्त है। इसीलिये सावधान होनेपर भी धोखा हो जाता है। संसारके सम्पूर्ण कर्मों और समस्त पदार्थोंमें इसने अपना स्थान बना रखा है। अच्छे-अच्छे विद्वान् और बुद्धिमान् पुरुष भी इसके फेरमें पड़कर कर्तव्यको भूल जाते हैं। स्वार्थसे बचने, स्वार्थका समूल नाश करनेके लिये मनुष्यको सतत सावधानीसे प्रयत्न करते रहना चाहिये और वार-बार अन्तर्वृत्ति करके देखना चाहिये। जो पुरुष इस स्वार्थपर विजय पाता है, सब प्रकारकी कामना और स्पृहाको त्यागकर विचरता है, वही परम शान्तिको प्राप्त होता है। विषय-लोलुप मनुष्योंके न तो आचरणोंमें ही सम्यक् सुधार होता है और न उन्हें कभी कहीं शान्ति ही मिलती है।

द्वेष

रागकी भाँति द्वेष भी मनुष्यका परम शत्रु है। इसीके कारण वह क्रोधके वशीभूत हो कर्तव्य भूलकर विपरीत आचरण करने लगता है, जिससे उसका सर्वनाश हो जाता है। परन्तु यह स्मरण रखना चाहिये कि द्वेषका मूल कारण वास्तवमें राग या आसक्ति ही है। इसी राग या आसक्तिसे काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि भीषण शत्रुओंका दल उत्पन्न होकर मनुष्यको सदाचारसे गिराकर उसकी बुद्धि भ्रष्ट कर देता है, जिससे वह परमार्थसे भ्रष्ट हो जाता है, इसलिये आसक्तिके त्यागपर विशेष ध्यान रखना चाहिये।

आसक्तिरहित पुरुषकी प्रत्येक क्रिया स्वार्थहीन होती है; इससे उसके हर एक आचरणमें प्रेम और दयाका भाव विकसित हुआ रहता है। किसी भी पदार्थमें राग न रहनेके कारण, संसारके जितने भोग्य-पदार्थ हैं उसके अधीन होते हैं, उन सबको वह उदार-चित्तसे देश-काल-पात्रके अनुसार लोकहितार्थ सद्व्यय करनेकी चेष्टामें रहता है। ऐसे सत्पुरुषोंकी सारी क्रियाएँ मूर्ख और अज्ञानियोंकी समझमें नहीं आतीं। वे उसकी क्रियाओंको अपनी अज्ञानावृत क्रियाओंसे तुलना करके उनमें दोष ही देखा करते हैं। परन्तु वास्तवमें ऐसे महात्माओंकी स्वार्थरहित क्रियाओंमें दोषका लेशमात्र भी प्रवेश नहीं हो सकता। इस लोक या परलोककी कोई भी कामना या स्वार्थ न रहनेके कारण ऐसे महापुरुषोंके आचरण अज्ञानी मनुष्योंकी दृष्टिमें दोषयुक्त होनेपर भी सर्वथा पवित्र होते हैं। मान, बड़ाई, प्रतिष्ठाका और संसारकी किसी भी स्थितिका लोभ नहीं होनेके कारण संसारकी कोई भी वस्तु इन्हें अपनी ओर नहीं खींच सकती, वे नित्य निर्भयपदमें स्थिर रहते हुए न तो किसीसे डरते हैं और न किसीके साथ कठोर वर्ताव ही करते हैं। विनय, कोमलता, सत्य और शान्तिकी तो वे साक्षात् मूर्ति ही होते हैं। क्षमा उनका स्वभाव बन जाता है इससे क्रोधकी उत्पत्ति उनमें कभी होती ही नहीं, कभी योग्यता प्राप्त होनेपर उनमें कोई क्रोधकी-सी बाहरी क्रिया देखी जाती है, परन्तु वस्तुतः उनमें क्रोध नहीं हो सकता। सर्वत्र सबमें समबुद्धि होनेके कारण वे किसीकी अनुचित निन्दा-स्तुति नहीं करते। झूठ-कपट का उनमें सर्वथा अभाव होता है। जहाँ, जिस बातके प्रकट हो जानेसे

किसीको हानि पहुँचती हो या अपनी प्रशंसा होती हो उसे वे यदि छिपा देते हैं तो उनका यह आचरण कपट, असत्य या स्तेय नहीं गिना जाता ।

उपसंहार

सत्यका विषय बड़ा व्यापक है । इसपर बहुत अधिक लिखा जा चुका है तो भी इसमें मनके सब भाव व्यक्त नहीं हो पाये हैं। इसकी विशदरूपसे व्याख्या करनेकी आवश्यकता है । किंतु लेख बढ़ जानेके संकोचसे जहाँतक बन पड़ा, संक्षिप्तमें ही समाप्त करनेकी चेष्टा की है ।

सत्य एक ऐसी वस्तु है, जिसका आश्रय लेनेसे सम्पूर्ण उत्तम गुणोंकी प्राप्ति स्वयमेव हो जाती है । सत्यका आश्रयी सत्पुरुष सद्गुणोंका समुद्र और ज्ञानका भण्डार बन जाता है। यद्यपि सत्यके पालनमें आरम्भमें साधकको अनेक प्रकारकी कठिनाइयों और क्लेशोंका सामना करना पड़ता है, किंतु सत्यकी सिद्धि हो जानेपर उसके शोक और मोहका आत्यन्तिक अभाव हो जाता है । अतः सत्यके पालन करनेवाले पुरुषको निर्भयतासे अपने लक्ष्यपर डटे रहना चाहिये । एक ओर सत्यका त्याग और दूसरी ओर प्राणोंका त्याग— इन दोनोंको तौलनेपर सत्यका पलड़ा ही भारी मालूम देता है। इसलिये यदि मनुष्य प्राणोंकी भी परवा न करके सत्यपर डटा रहेगा तो सभी आपत्तियाँ देखते-ही-देखते आप ही नष्ट हो जायँगी । अन्तमें उस सत्यकी विजय होगी । उदाहरणार्थ प्रह्लादका इतिहास प्रसिद्ध है । सत्यके लिये प्रमाणोंकी अपेक्षा नहीं है, वह तो स्वयं स्वतः प्रमाण है । अन्य सब प्रमाणोंकी सिद्धि सत्यपर ही अवलम्बित है । सत्यका प्रतिपक्षी

सत्यको नष्ट करनेके लिये चाहे जितने उपाय करे; सत्यको जरा भी आँच नहीं आती—बल्कि वह जितना ही कसौटीपर कसा जाता है—जितना ही तपाया जाता है उतना ही वह उज्ज्वल रूप धारण करता रहता है। जो ताड़नासे, तापसे मिट जाय वह सत्य ही नहीं है। जो सत्य-पालनका थोड़ा-सा भी महत्त्व समझ गया है उससे सत्यका त्याग होना कठिन है, फिर जिन्होंने इसके तत्त्वका सम्यक् परिज्ञान प्राप्त कर लिया है वे कैसे विचलित हो सकते हैं? केवल एक सत्यका तत्त्व जान लेनेपर मनुष्य सब तत्त्वोंका ज्ञाता बन जाता है; क्योंकि सत्य परमात्माका स्वरूप है और परमात्माके ज्ञानसे सबका ज्ञान हो जाना प्रसिद्ध है। अतः मन, वाणी और इन्द्रियोंद्वारा सत्यकी शरण लेनी चाहिये। सत्य सम्पूर्ण संसारमें व्याप्त है। अन्वेषण करनेपर सर्वत्र सत्यकी ही प्रतीति और अनुभूति होने लगेगी। जो कुछ भी प्रतीत होता है, विचारपूर्वक परीक्षा करनेसे सबका बाध होकर एक सत्य ही शेष रहता है। सम्पूर्ण संसारका अस्तित्व सत्यपर टिका हुआ है। इसके बिना किसी भी पदार्थकी सिद्धि नहीं हो सकती। यदि कोई भ्रमवश इसके विपरीत मान लेता है, वह विपरीतता ठहरती नहीं। वर्षा होनेसे जैसे बालूकी दीवार विशेष समयतक नहीं ठहर सकती, इसी प्रकार विचार-बुद्धिसे अन्वेषण करनेपर असत्यका अस्तित्व तुरंत ही लुप्त हो जाता है। बालूकी दीवारके नष्ट होनेपर बालूके कण तो रहते भी हैं, पर इस असत्यका तो नामो-निशान मिट जाता है। जो असत्य है उसे भले ही कितने ही साधनोंसे सत्य प्रमाणित करनेकी चेष्टा की जाय, पर अन्तमें

असत्य ही रहेगा—अस्तित्वहीन रहेगा और सत्यको मिटानेके सं प्रयत्न निष्फल होंगे। ऐसा महत्त्व होनेपर भी जो मूढ़ इसे छो कर असत्यका आश्रय लेते हैं, वे निःसंदेह दयनीय हैं। अतए कल्याणकामी बन्धुओंको प्राणोंसे भी बढ़कर सत्यका आदर कर चाहिये और उसके पालनार्थ कटिबद्ध होकर प्रयत्न करना चाहिये।

रामायणमें आदर्श भ्रातृ-प्रेम

अनुज जानकी सहित प्रभु चाप बान धर राम।
मम हिय गगन इंदु इव बसहु सदा निहकाम॥

भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके समान मर्यादारक्षक आजतक कोई दूसरा नहीं हुआ, ऐसा कहना अत्युक्ति नहीं होगा। श्रीराम साक्षात् परमात्मा थे, वे धर्मकी रक्षा और लोकोंके उद्धारके लिये ही अवतीर्ण हुए थे। उनके आदर्श लीलाचरित्रको पढ़ने, सुनने और स्मरण करनेसे हृदयमें महान् पवित्र भावोंकी लहरें उठने लगती हैं और मन मुग्ध हो जाता है। उनका प्रत्येक कार्य परम पवित्र, मनोमुग्धकारी और अनुकरण करने योग्य है। ऐसे अनन्त गुणोंके समुद्र श्रीरामके सम्बन्धमें मुझ-सरीखे व्यक्तिका कुछ लिखना एक प्रकारसे लड़कपन है तथापि अपने मनोविनोदके लिये शास्त्रोंके आधारपर यत्किंचित् लिखनेका साहस करता हूँ, विज्ञजन क्षमा करें। श्रीराम सर्वगुणाधार थे। सत्य, सुहृदता, गम्भीरता, क्षमा, दया, मृदुता, शूरता, धीरता, निर्भयता, विनय, शान्ति, तितिक्षा,

उपरामता, नीतिज्ञता, तेज, प्रेम, मर्यादा-संरक्षकता, एकपत्नीव्रत, प्रजारञ्जकता, ब्रह्मण्यता, मातृ-पितृ-भक्ति, गुरु-भक्ति, भ्रातृ-प्रेम, सरलता, व्यवहारकुशलता, प्रतिज्ञाततत्परता, शरणागतवत्सलता, त्याग, साधु-संरक्षण, दुष्टविनाश, निर्वैरता. सख्यता और लोकप्रियता आदि सभी सद्गुणोंका श्रीराममें विलक्षण विकास था। इतने गुणोंका एकत्र विकास जगत्में कहीं नहीं मिलता। माता-पिता, वन्धु-मित्र, स्त्री-पुत्र, सेवक-प्रजा आदिके साथ उनका जैसा आदर्श वर्ताव है, उसकी ओर खयाल करते ही मन मुग्ध हो जाता है। श्रीराम-जैसी लोकप्रियता तो आजतक कहीं नहीं देखनेमें आयी। कैकेयी और मन्थराको छोड़कर उस समय ऐसा कोई भी प्राणी नहीं था जो श्रीरामके व्यवहार और प्रेमके वर्तावसे मुग्ध न हो गया हो। वास्तवमें कैकेयी भी श्रीरामके प्रभाव और प्रेमसे सदा मुग्ध थी। रामराज्या-भिषेककी वात सुनकर वह मन्थराको पुरस्कार देनेके लिये प्रस्तुत हुई थी, श्रीरामके गुणोंपर उसका बड़ा भारी विश्वास था। वनवास भेजनेके समय शत्रु वनी हुई कैकेयीके मुखसे भी ये सच्चे उद्गार निकल पड़ते हैं—

> तुम्ह अपराध जोगु नहिं ताता।
> जननी जनक बंधु सुख दाता॥
> राम सत्य सबु जो कछु कहहू।
> तुम्ह पितु मातु वचन रत अहहू॥

कैकेयीका रामके प्रति अप्रिय और कठोर वर्ताव तो भगवान्‌की इच्छा और देवताओंकी प्रेरणासे लोकहितार्थ हुआ था। इससे यह नहीं सिद्ध होता कि कैकेयीको श्रीराम प्रिय नहीं थे। देव-

असत्य ही रहेगा—अस्तित्वहीन रहेगा और सत्यको मिटानेके सब प्रयत्न निष्फल होंगे। ऐसा महत्त्व होनेपर भी जो मूढ़ इसे छोड़कर असत्यका आश्रय लेते हैं, वे निःसंदेह दयनीय हैं। अतएव कल्याणकामी बन्धुओंको प्राणोंसे भी बढ़कर सत्यका आदर करना चाहिये और उसके पालनार्थ कटिबद्ध होकर प्रयत्न करना चाहिये।

रामायणमें आदर्श भ्रातृ-प्रेम

अनुज जानकी सहित प्रभु चाप बान धर राम।
मम हिय गगन इंदु इव बसहु सदा निहकाम॥

भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके समान मर्यादारक्षक आजतक कोई दूसरा नहीं हुआ, ऐसा कहना अत्युक्ति नहीं होगा। श्रीराम साक्षात् परमात्मा थे, वे धर्मकी रक्षा और लोकोंके उद्धारके लिये ही अवतीर्ण हुए थे। उनके आदर्श लीलाचरित्रको पढ़ने, सुनने और स्मरण करनेसे हृदयमें महान् पवित्र भावोंकी लहरें उठने लगती हैं और मन मुग्ध हो जाता है। उनका प्रत्येक कार्य परम पवित्र, मनोमुग्धकारी और अनुकरण करने योग्य है। ऐसे अनन्त गुणोंके समुद्र श्रीरामके सम्बन्धमें मुझ-सरीखे व्यक्तिका कुछ लिखना एक प्रकारसे लड़कपन है तथापि अपने मनोविनोदके लिये शास्त्रोंके आधारपर यत्किंचित् लिखनेका साहस करता हूँ, विज्ञजन क्षमा करें। श्रीराम सर्वगुणाधार थे। सत्य, सुहृदता, गम्भीरता, क्षमा, दया, मृदुता, शूरता, धीरता, निर्भयता, विनय, शान्ति, तितिक्षा,

उपरामता, नीतिज्ञता, तेज, प्रेम, मर्यादा-संरक्षकता, एकपत्नीव्रत, प्रजारञ्जकता, ब्रह्मण्यता, मातृ-पितृ-भक्ति, गुरु-भक्ति, भ्रातृ-प्रेम, सरलता, व्यवहारकुशलता, प्रतिज्ञातत्परता, शरणागतवत्सलता, त्याग, साधु-संरक्षण, दुष्टविनाश, निर्वैरता, सख्यता और लोकप्रियता आदि सभी सद्गुणोंका श्रीराममें विलक्षण विकास था। इतने गुणोंका एकत्र विकास जगत्‌में कहीं नहीं मिलता। माता-पिता, बन्धु-मित्र, स्त्री-पुत्र, सेवक-प्रजा आदिके साथ उनका जैसा आदर्श वर्ताव है, उसकी ओर खयाल करते ही मन मुग्ध हो जाता है। श्रीराम-जैसी लोकप्रियता तो आजतक कहीं नहीं देखनेमें आयी। कैकेयी और मन्थराको छोड़कर उस समय ऐसा कोई भी प्राणी नहीं था जो श्रीरामके व्यवहार और प्रेमके वर्तावसे मुग्ध न हो गया हो। वास्तवमें कैकेयी भी श्रीरामके प्रभाव और प्रेमसे सदा मुग्ध थी। रामराज्या-भिषेककी वात सुनकर वह मन्थराको पुरस्कार देनेके लिये प्रस्तुत हुई थी, श्रीरामके गुणोंपर उसका बड़ा भारी विश्वास था। वनवास भेजनेके समय शत्रु वनी हुई कैकेयीके मुखसे भी ये सच्चे उद्गार निकल पड़ते हैं—

तुम्ह अपराध जोगु नहिं ताता।
जननी जनक बंधु सुख दाता॥
राम सत्य सबु जो कछु कहहू।
तुम्ह पितु मातु बचन रत अहहू॥

कैकेयीका रामके प्रति अप्रिय और कठोर वर्ताव तो भगवान्‌की इच्छा और देवताओंकी प्रेरणासे लोकहितार्थ हुआ था। इससे यह नहीं सिद्ध होता कि कैकेयीको श्रीराम प्रिय नहीं थे। देव-

मनुष्य और पशु-पक्षी किसीका भी रामसे विरोध नहीं था। यज्ञविध्वंसकारी राक्षसों और शूर्पणखाके कान-नाक काटनेपर खर, दूषण, त्रिशिरा, रावण, कुम्भकर्ण, मेघनाद आदिके साथ जो वैर-भाव और युद्धका प्रसंग आता है, उनमें भी रहस्य भरा है। वास्तवमें रामके मनमें उनमेंसे किसीके साथ वैर था ही नहीं। राक्षसगण भी अपने सकुटुम्ब-उद्धारके लिये ही उन्हें वैर-भावसे भजते थे। रावण और मारीचकी उक्तियोंसे यह स्पष्ट है—

सुर रंजन भंजन महि भारा।
जौं भगवंत लीन्ह अवतारा॥
तौ मैं जाइ बैरु हठि करऊँ।
प्रभु सर प्रान तजें भव तरऊँ॥
होइहि भजनु न तामस देहा।
मन क्रम बचन मंत्र दृढ़ एहा॥

—रावण

मम पाछें धर धावत धरें सरासन बान।
फिरि फिरि प्रभुहि बिलोकिहउँ धन्य न मो सम आन॥

—मारीच

इससे यह सिद्ध है कि श्रीरामके जमानेमें चराचर जीवोंका श्रीरामके प्रति जैसा आदर्श प्रेम था, वैसा आजतक किसीके सम्बन्धमें भी देखने-सुननेमें नहीं आया।

श्रीरामकी मातृ-भक्ति कैसी आदर्श है। स्वमाता और अन्य माताओंकी तो बात ही क्या, कठोर-से-कठोर व्यवहार करनेवाली कैकेयीके प्रति भी श्रीरामने भक्ति और सम्मानसे पूर्ण ही बर्ताव किया।

जिस समय कैकेयीने वन जानेकी आज्ञा दी, उस समय श्रीराम उसके प्रति सम्मान प्रकट करते हुए बोले— माता! इसमें तो सभी तरह मेरा कल्याण है—

मुनिगन मिलनु बिसेषि बन सबहि भाँति हित मोर।
तेहि महँ पितु आयसु बहुरि संमत जननी तोर॥

श्रीरामने कुपित हुए भाई लक्ष्मणसे कहा—

यस्या मदभिषेकार्थे मानसं परितप्यते।
माता नः सा यथा न स्यात्सविशङ्का तथा कुरु॥
तस्याः शङ्कामयं दुःखं मुहूर्तमपि नोत्सहे।
मनसि प्रतिसंजातं सौमित्रेऽहमुपेक्षितुम्॥
न बुद्धिपूर्वं नाबुद्धं स्मरामीह कदाचन।
मातॄणां वा पितुर्वाहं कृतमल्पं च विप्रियम्॥
(वा॰ रा॰ २ । २२ । ६-८)

'हे लक्ष्मण! मेरे राज्याभिषेकके संवादसे अत्यन्त परिताप पायी हुई माता कैकेयीके मनमें किसी प्रकारकी शङ्का न हो, तुम्हें वैसा ही करना चाहिये। मैं उसके मनमें उपजे हुए शङ्कारूप दुःखको एक घड़ीके लिये भी नहीं सह सकता। हे भाई! जहाँतक मुझे याद है, मैंने अपने जीवनमें जानमें या अनजानमें माताओंका और पिताजीका कभी कोई जरा-सा अप्रिय कार्य नहीं किया।'

इसके बाद वनसे लौटते हुए भरतसे श्रीरामने कहा—

कामाद्वा तात लोभाद्वा मात्रा तुभ्यमिदं कृतम्।
न तन्मनसि कर्तव्यं वर्तितव्यं च मातृवत्॥
(वा॰ रा॰ २ । ११२ । १९)

'हे तात ! माता कैकेयीने (तुम्हारी हित-) कामनासे या (राज्यके) लोभसे जो यह कार्य किया, इसके लिये मनमें कुछ भी विचार न कर भक्तिभावसे उनकी माताकी भाँति सेवा करना ।'

इससे पता लगता है कि रामकी अपनी माताओंके प्रति कितनी भक्ति थी । एक वार लक्ष्मणने वनमें कैकेयीकी कुछ निन्दा कर डाली । इसपर मातृ-भक्त और भ्रातृ-प्रेमी श्रीरामने जो कुछ कहा सो सदा मनन करने योग्य है—

न तेऽम्बा मध्यमा तात गर्हितव्या कदाचन ।
तामेवेक्ष्वाकुनाथस्य भरतस्य कथां कुरु ॥

(वा० रा० ३ । १६ । ३७)

'हे भाई ! बिचली माता (कैकेयी) की निन्दा कभी मत किया करो । बातें करनी हो तो इक्ष्वाकुनाथ भरतके सम्बन्धमें करनी चाहिये ।' (क्योंकि भरतकी चर्चा मुझे बहुत ही प्रिय है ।)

इसी प्रकार उनकी पितृ-भक्ति भी अद्भुत है । पिताके वचनोंको सत्य करनेके लिये श्रीरामने क्या नहीं किया । पिताको दुखी देखकर जब श्रीरामने कैकेयीसे दुःखका कारण पूछा तब उसने कहा कि 'राजाके मनमें एक बात है, परंतु वे तुम्हारे डरसे कहते नहीं हैं । तुम इन्हें बहुत प्यारे हो, तुम्हारे प्रति इनके मुखसे अप्रिय वचन ही नहीं निकलते, यदि तुम राजाके आज्ञापालनकी प्रतिज्ञा करो तो ये कह सकते हैं, तुमको वह कार्य अवश्य ही करना चाहिये जिसके लिये इन्होंने मुझसे प्रतिज्ञा की है ।' इसके उत्तरमें श्रीरामने कहा—

अहो धिङ् नार्हसे देवि वक्तुं मामीदृशं वचः ।
अहं हि वचनाद्राज्ञः पतेयमपि पावके ॥
भक्षयेयं विषं तीक्ष्णं पतेयमपि चार्णवे ।

(वा० रा० २ । १८ । २८-२९)

'अहो, मुझे धिक्कार है, हे देवि ! तुमको ऐसी बात नहीं कहनी चाहिये, मैं महाराजा पिताकी आज्ञासे आगमें कूद सकता हूँ, तीक्ष्ण विष खा सकता हूँ, समुद्रमें कूद सकता हूँ ।' एक समय लक्ष्मणने जब यह कहा कि ऐसे कामासक्त पिताकी आज्ञा मानना अधर्म है, तब श्रीरामने सगरपुत्र और परशुरामजी आदिका उदाहरण देते हुए कहा 'पिता प्रत्यक्ष देवता हैं, उन्होंने किसी भी कारणसे वचन दिया हो, मुझे उसका विचार नहीं करना है, मैं विचारक नहीं हूँ मैं तो निश्चय ही पिताके वचनोंका पालन करूँगा ।'

विलाप करती हुई जननी कौसल्यासे श्रीरामने स्पष्ट ही कह दिया था कि—

नास्ति शक्तिः पितुर्वाक्यं समतिक्रमितुं मम ।
प्रसादये त्वां शिरसा गन्तुमिच्छाम्यहं वनम् ॥

(वा० रा० २ । २१ । ३०)

'मैं चरणोंमें सिर टेककर प्रणाम करता हूँ, मुझे वन जानेके लिये आज्ञा दो, माता ! पिताजीके वचनोंको टालनेकी मुझमें शक्ति नहीं है ।'

श्रीरामका एकपत्नीव्रत आदर्श है, पत्नी सीताके प्रति रामका कितना प्रेम था, इसका कुछ दिग्दर्शन सीताहरणके पश्चात

श्रीरामकी दशा देखनेसे होता है। महान् धीर-वीर राम विरहोन्मत्त होकर अश्रुपूर्ण नेत्रोंसे कदम्ब, बेल, अशोकादि वृक्षोंसे और हरिणों-से सीताका पता पूछते हैं। यहाँ भगवान् श्रीरामने अपने **'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्'** (गीता ४। ११) के वचनोंको मानो चरितार्थ कर दिया है। वे विलाप करते हैं, प्रलाप करते हैं, पागलकी भाँति ज्ञानशून्य-से हो जाते हैं, मूर्छित हो पड़ते हैं और 'हा सीते, हा सीते' पुकार उठते हैं।

श्रीरामका सख्यप्रेम भी आदर्श है। सुग्रीवके साथ मित्रता होनेपर आप मित्रके लक्षण बतलाते हैं—

जे न मित्र दुख होहिं दुखारी।
तिन्हहि बिलोकत पातक भारी॥
निज दुख गिरि सम रज करि जाना।
मित्रक दुख रज मेरु समाना॥
देत लेत मन संक न धरई।
बल अनुमान सदा हित करई॥
बिपति काल कर सतगुन नेहा।
श्रुति कह संत मित्र गुन एहा॥

फिर उसे आश्वासन देते हुए कहते हैं—

सखा सोच त्यागहु बल मोरें।
सब बिधि घटब काज मैं तोरें॥

इसी प्रकार रामका भ्रातृ-प्रेम भी अतुलनीय है। रामायणमें हमें जिस भ्रातृ-प्रेमकी शिक्षा मिलती है, भ्रातृ-प्रेमका जैसा उज्ज्वल

उच्च आदर्श प्राप्त होता है वैसा जगत्के इतिहासमें कहीं नहीं है। पाण्डवोंमें भी परस्पर बड़ा भारी प्रेम था। उनके भ्रातृ-प्रेमकी कथाएँ पढ़-सुनकर चित्त द्रवित हो उठता है और हम उनकी महिमा गाने लगते हैं। परंतु रामायणके भ्रातृ-प्रेमसे उसकी तुलना नहीं हो सकती। रामायणकालसे महाभारतकालके भ्रातृ-प्रेमका आदर्श बहुत नीचा था। इस कालकी तो बात ही क्या है, जहाँ बात-बातमें लड़ाइयाँ होती हैं और जरा-जरा-से सुख-भोगके लिये भाइयोंकी हत्या-तक कर डाली जाती है। आज इस लेखमें श्रीराम-प्रभृति चारों भाइयोंके भ्रातृ-प्रेमके सम्बन्धमें यथामति किंचित् दिग्दर्शन कराया जाता है।

श्रीरामका भ्रातृ-प्रेम

लड़कपनसे ही श्रीराम अपने तीनों भाइयोंके साथ बड़ा भारी प्रेम करते थे। सदा उनकी रक्षा करते और उन्हें प्रसन्न रखनेकी चेष्टा करते थे। खेल-कूदमें भी कभी उनको दुखी नहीं होने देते थे, यहाँतक अपनी जीतमें भी उन्हें खुश करनेके लिये हार मान लेते थे और प्रेमसे पुचकार-पुचकारकर दाँव देते थे—

खेलत संग अनुज बालक नित जोगवत अनट अपाउ।
जीति हारि चुचुकारि दुलारत देत दिवावत दाउ॥

श्रीराम तीनों भाइयोंको साथ लेकर भोजन करते, साथ ही खेलते और सोते थे। विश्वामित्रजीके साथ उनके यज्ञरक्षार्थ श्रीराम-लक्ष्मण वनमें गये। अनेक विद्या सीखकर और राक्षसोंका विनाश-कर मुनिके साथ दोनों भाई जनकपुरमें पहुँचे। धनुष-भङ्ग हुआ। परशुरामजी आये और कोप करके धनुष तोड़नेवालेका नाम पाम

पूछने लगे । श्रीरामने बड़ी नम्रतासे और लक्ष्मणजीने तेजयुक्त वचनोंसे उनके प्रश्नका उत्तर दिया । लक्ष्मणजीके कथनपर परशुरामजीको बड़ा क्रोध आया । वे उनपर दाँत पीसने लगे । इसपर श्रीरामने जिस चतुरतासे भाईके कार्यका समर्थन कर भ्रातृ-प्रेमका परिचय दिया, उस प्रसंगके पढ़नेपर हृदय मुग्ध हो जाता है ।

तदनन्तर विवाहकी तैयारी हुई, परंतु श्रीरामने स्वयंवरमें विजय प्राप्तकर अकेले ही अपना विवाह नहीं करा लिया । लक्ष्मणजी तो साथ थे ही, भरत-शत्रुघ्नको बुलाकर सबका विवाह भी साथ ही करवाया ।

विवाहके अनन्तर अयोध्या लौटकर चारों भाई प्रेमपूर्वक रहने लगे और अपने आचरणोंसे सबको मोहित करने लगे । कुछ समय बाद भरत-शत्रुघ्न ननिहाल चले गये । पीछेसे राजा दशरथने मुनि वसिष्ठकी आज्ञा और प्रजाकी सम्मतिसे श्रीरामके अति शीघ्र राज्याभिषेकका निश्चय किया । चारों ओर मङ्गल-बधाइयाँ बँटने लगीं और राज्याभिषेककी तैयारी की जाने लगी। वसिष्ठजीने आकर श्रीरामको यह हर्ष-संवाद सुनाया । राज्याभिषेककी बात सुनकर कौन प्रसन्न नहीं होता । परंतु श्रीराम प्रसन्न नहीं हुए, वे पश्चात्ताप करते हुए कहने लगे, 'अहो ! यह कैसी बात है, जन्मे साथ, खाना-पीना, सोना-खेलना साथ हुआ, कर्णवेध, जनेऊ और विवाह भी चारोंके एक साथ हुए, फिर यह राज्य ही मुझ अकेलेको क्यों मिलना चाहिये, हमारे निर्मल कुलमें यही एक प्रथा अनुचित है कि छोटे भाइयोंको छोड़कर अकेले बड़ेको ही राजगद्दी मिलती है—

जनमे एक संग सब भाई।
भोजन सयन केलि लरिकाई ॥
करनवेध उपबीत बिआहा।
संग संग सब भए उछाहा ॥
बिमल बंस यहु अनुचित एकू।
बंधु बिहाइ बड़ेहि अभिषेकू ॥

श्रीरामको अकेले राज्य स्वीकार करनेमें बड़ा अनौचित्य प्रतीत हुआ। मनकी प्रसन्नतासे नहीं, परंतु पिताकी आज्ञासे उन्हें राज्याभिषेकका प्रस्ताव स्वीकार करना पड़ा। परंतु उनके मनमें यही था कि मैं सिर्फ यह प्रथाभर पूरी कर रहा हूँ, वास्तवमें राज्य तो भाइयोंका ही है। भरत-शत्रुघ्न तो उस समय मौजूद नहीं थे, अतः श्रीरामजीने लक्ष्मणसे कहा—

सौमित्रे भुङ्क्ष्व भोगांस्त्वमिष्टान्राज्यफलानि च।
जीवितं चापि राज्यं च त्वदर्थमभिकामये ॥

(वा० रा० २।४।४४)

'भाई सौमित्रे! तुम वाञ्छित भोग और राज्यफलका भोग करो, मेरा यह जीवन और राज्य तुम्हारे ही लिये है।'

इसके बाद ही इस लीला-नाटकका पट-परिवर्तन हो गया। माता कैकेयीकी कामनाके अनुसार राज्याभिषेक वनगमनके रूपमें परिणत हो गया। प्रातःकालके समय जब श्रीराम पिता दशरथकी सम्मतिसे सुमन्तके द्वारा कैकेयीके महलमें बुलाये गये और जब उन्हें कैकेयीके वरदानकी बात मालूम हुई तब उन्होंने बड़ी प्रसन्नता प्रकट

की, वे कहने लगें कि 'माता ! इसमें बात ही कौन-सी है । मुझे तो केवल एक ही बातका दुःख है कि महाराजने भरतके अभिषेकके लिये मुझसे ही क्यों नहीं कहा—

गच्छन्तु चैवानयितुं दूताः शीघ्रजवैर्हयैः ।
भरतं मातुलकुलादद्यैव नृपशासनात् ॥
दण्डकारण्यमेषोऽहं गच्छाम्येव हि सत्वरः ।
अविचार्य पितुर्वाक्यं समा वस्तुं चतुर्दश ॥

(वा०रा० २ । १९ । १०-११)

'महाराजकी आज्ञासे दूतगण अभी तेज घोड़ोंपर सवार होकर मामाजीके यहाँ भाई भरतको लानेके लिये जायँ । मैं पिताजीके वचन सत्य करनेके लिये बिना कुछ विचार किये चौदह वर्षके लिये दण्डकारण्य जाता हूँ ।' प्राणप्रिय भाई भरतका राज्याभिषेक हो, इससे अधिक प्रसन्नता मेरे लिये और क्या होगी ? विधाता आज सब तरहसे मेरे अनुकूल है—

भरतु प्रानप्रिय पावहिं राजू ।
बिधि सब बिधि मोहि सनमुख आजू ॥
जौं न जाउँ बन ऐसेहु काजा ।
प्रथम गनिअ मोहि मूढ़ समाजा ॥

धन्य है यह त्याग ! आदिसे अन्ततक कहीं भी राज्यलिप्साका नाम नहीं और भाइयोंके लिये सर्वदा सर्वस्व त्याग करनेको तैयार ! इस प्रसङ्गसे हमें यह शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये कि छोटे भाइयों-को छोड़कर राज्य, धन या सुखको अकेले कभी ग्रहण नहीं करना

चाहिये। योग्यतावश कहीं ग्रहण करना ही पड़े तो उसमें भाइयोंका अपनेसे अधिक अधिकार समझना चाहिये, बल्कि यह मानना चाहिये कि उन्हीं लोगोंके लिये मैं इसे ग्रहण करता हूँ और यदि ऐसा मौका आ जाय कि जब भाइयोंको राज्य, धन, सुख मिलता हो और इसलिये अपनेको त्याग करना पड़े तो बहुत ही प्रसन्न होना चाहिये। अस्तु!

इसके बाद श्रीराम माता कौसल्या और पत्नी सीतासे विदा माँगने गये। श्रीरामने भरत या कैकेयीके प्रति कोई भी अपशब्द या विद्वेषमूलक शब्द नहीं कहा, बल्कि सीतासे आपने कहा—

वन्दितव्याश्च ते नित्यं याः शेषा मम मातरः।
स्नेहप्रणयसम्भोगैः समा हि मम मातरः॥
भ्रातृपुत्रसमौ चापि द्रष्टव्यौ च विशेषतः।
त्वया भरतशत्रुघ्नौ प्राणैः प्रियतरौ मम॥

(वा० रा० २। २६। ३२-३३)

'मेरी अन्य माताओंको भी नित्य प्रणाम करना, क्योंकि मुझपर स्नेह करनेमें और मेरा लाड़-प्यार तथा पालन-पोषण करनेमें मेरी सभी माताएँ समान हैं। साथ ही तुम भरत-शत्रुघ्नको भी अपने भाई और बेटेके समान या उनसे भी विशेष समझना, क्योंकि ये दोनों मुझे प्राणोंसे भी अधिक प्यारे हैं।'

यहाँ विशेष आग्रह और प्रेमके कारण सीताजीको भी साथ चलनेकी अनुमति श्रीरामको देनी पड़ी, तब लक्ष्मणजीने भी साथ चलना चाहा। श्रीराम ऐसे तो पुरुष थे ही नहीं, जो अपने

आरामके लिये लक्ष्मणसे कहते या उसे उभारते कि 'ऐसे अन्यायी राज्यमें रहकर क्या करोगे, तुम भी साथ चलो ।' उन्होंने लक्ष्मणको घर रहनेके लिये बहुत समझाया, अनेक युक्तियोंसे यह चेष्टा की कि किसी तरह लक्ष्मण अयोध्यामें रहे, जिससे राज्य-परिवारकी सेवा-सम्हाल हो सके और लक्ष्मणको वनके कष्ट न भोगने पड़ें, परंतु जब लक्ष्मणने किसी तरह नहीं माना तब उसको सुख पहुँचानेके लिये श्रीरामने साथ ले जाना स्वीकार किया ।

श्रीराम छोटे भाई लक्ष्मण और सीतासहित वनको चले गये । वनमें लक्ष्मणजी श्रीराम-सीताकी हर तरह सेवा करते हैं और श्रीराम भी वही कहते और करते हैं, जिससे श्रीसीताजी और भाई लक्ष्मण सुखी हों ।

सीय लखन जेहि बिधि सुखु लहहीं ।
सोइ रघुनाथ करहिं सोइ कहहीं ॥
जोगवहिं प्रभु सिय लखनहि कैसें ।
पलक बिलोचन गोलक जैसें ॥

इससे यह सीखना चाहिये कि अपनी सेवा करनेवाले छोटे भाई और पत्नीको जैसे सुख पहुँचे, वैसे ही कार्य करने चाहिये तथा उनकी वैसे ही रक्षा करनी चाहिये, जैसे पलकें आँखोंकी करती हैं ।

× × ×

भरतके ससैन्य वनमें आनेका समाचार प्राप्तकर जब श्रीराम-प्रेमके कारण लक्ष्मणजी क्षुब्ध होकर भरतके प्रति न कहने योग्य

शब्द कह बैठे, तब श्रीरामने भरतकी प्रशंसा करते हुए कहा—भाई ! भरतको मारनेकी बात तुम क्यों कहते हो, मुझे अपने बान्धवोंके नाश करनेसे प्राप्त होनेवाला धन नहीं चाहिये, वह तो विषयुक्त अन्नके समान है—

धर्ममर्थं च कामं च पृथिवीं चापि लक्ष्मण ।
इच्छामि भवतामर्थे एतत्प्रतिशृणोमि ते ॥
भ्रातॄणां संग्रहार्थं च सुखार्थं चापि लक्ष्मण ।
राज्यमप्यहमिच्छामि सत्येनायुधमालभे ॥
यद्विना भरतं त्वां च शत्रुघ्नं चापि मानद ।
भवेन्मम सुखं किञ्चिद्भस्म तत्कुरुतां शिखी ॥
मन्येऽहमागतोऽयोध्यां भरतो भ्रातृवत्सलः ।
मम प्राणैः प्रियतरः कुलधर्ममनुस्मरन् ॥
श्रुत्वा प्रव्राजितं मां हि जटावल्कलधारिणम् ।
जानक्या सहितं वीर त्वया च पुरुषोत्तम ॥
स्नेहेनाक्रान्तहृदयः शोकेनाकुलितेन्द्रियः ।
द्रष्टुमभ्यागतो ह्येष भरतो नान्यथागतः ॥
अम्बां च कैकयीं रुष्य भरतश्चाप्रियं वदन् ।
प्रसाद्य पितरं श्रीमान् राज्यं मे दातुमागतः ॥
(वा० रा० २ । ९७ । ५-६ एवं ८ से १२)

'हे लक्ष्मण ! मैं सत्य और आयुधकी शपथ करके कहता हूँ कि मैं धर्म, अर्थ, काम और सारी पृथिवी तथा और जो कुछ चाहता हूँ, वह सब तुम्हीं लोगोंके लिये । हे लक्ष्मण ! मैं भाइयोंकी

भोग्य-सामग्री और सुखके लिये ही राज्य चाहता हूँ। हे मान देनेवाले भाई लक्ष्मण! भरत, तुम और शत्रुघ्नको छोड़कर यदि मुझे कोई सुख होता हो तो उसमें आग लग जाय। हे पुरुष-श्रेष्ठ वीर लक्ष्मण! मैं तो समझता हूँ मेरे प्राणप्यारे भ्रातृवत्सल भाई भरतने जब अयोध्यामें आकर यह सुना होगा कि मैं जटाचीर धारणकर तुम्हारे और जानकीके साथ वनमें चला गया हूँ तब वह कुलधर्मको स्मरण करके अति स्नेह और शोकके कारण व्याकुल तथा कातर होकर अप्रिय वचनोंसे माता कैकेयीको अप्रसन्न और पिता दशरथजीको प्रसन्न करता हुआ हमलोगोंके दर्शनके लिये तथा मुझे लौटाकर राज्य देनेके लिये ही आ रहा है।' वह मनसे भी कभी विपरीत आचरण नहीं कर सकता। यदि तुम्हें राज्यकी इच्छा हो तो मैं भरतसे कहकर दिलवा दूँगा। तुम भरतके सम्बन्धमें भूल समझ रहे हो, भाई भरतको कभी राज्यमद नहीं हो सकता—

सुनहु लखन भल भरत सरीसा।
बिधि प्रपंच महँ सुना न दीसा॥
भरतहि होइ न राजमदु बिधि हरि हर पद पाइ।
कबहुँ कि काँजी सीकरनि छीरसिंधु बिनसाइ॥
लखन तुम्हार सपथ पितु आना।
सुचि सुबंधु नहिं भरत समाना॥
सगुनु खीरु अवगुन जलु ताता।
मिलइ रचइ परपंचु बिधाता॥
भरतु हंस रबिबंस तड़ागा।
जनमि कीन्ह गुन दोष बिभागा॥

गहि गुन पय तजि अवगुन बारी।
निज जस जगत कीन्हि उजिआरी॥
कहत भरत गुन सील सुभाऊ।
पेम पयोधि मगन रघुराऊ॥

श्रीराम भरतका गुणगान करते हुए प्रेमके समुद्रमें निमग्न हो गये। लक्ष्मणजीको अपनी भूल मालूम हो गयी। यहाँ भगवान् श्रीरामने लक्ष्मणके प्रति जो नीतियुक्त तीखे और प्रेमभरे वचन कहे उनमें प्रधान अभिप्राय तीन समझने चाहिये। प्रथम, भरतके प्रति श्रीरामका परम विश्वास प्रकट करना; दूसरे, लक्ष्मणको यह चेतावनी देना कि तुम भरतकी सरलता, प्रेम, त्याग आदिको जानते हुए भी मेरे प्रेमवश प्रमादसे बालककी तरह ऐसा क्यों बोल रहे हो? और तीसरे, उन्हें फटकारकर ऐसे अनुचित मार्गसे बचाना।

भरत आये और 'हे नाथ! रक्षा करो' कहकर, दण्डकी तरह पृथ्वीपर गिर पड़े। सरलहृदय श्रीलक्ष्मणने भरतकी वाणी पहचानकर उन्हें श्रीरामके चरणोंमें प्रणाम करते देखा, हृदयमें भ्रातृ-प्रेम उमड़ा, परंतु सेवा-धर्म बड़ा जबरदस्त है। लक्ष्मणजीका मन करता है कि भाई भरतको हृदयसे लगा लूँ, परंतु फिर अपने कर्तव्यका ध्यान आता है तब श्रीराम-सेवामें खड़े रह जाते हैं।

मिलि न जाइ नहिं गुदरत बनई।
सुकबि लखन मन की गति भनई॥
रहे राखि सेवा पर भारू।
चढ़ी चंग जनु खैंच खेलारू॥

आखिर सेवामें लगे रहना ही उचित समझा, परंतु श्रीरामसे निवेदन किये बिना उनसे नहीं रहा गया—लक्ष्मणजीने सिर नवाकर प्रेमसे कहा—

भरत प्रनाम करत रघुनाथा ।

भगवान् तो भरतका नाम सुनते ही विह्वल हो गये और प्रेममें अधीर होकर उन्हें उठाकर गले लगानेको उठ खड़े हुए। उस समय श्रीरामकी कैसी दशा हुई—

उठे रामु सुनि पेम अधीरा ।
कहुँ पट कहुँ निषंग धनु तीरा ॥

बरबस लिए उठाइ उर लाए कृपानिधान ।
भरत राम की मिलनि लखि बिसरे सबहि अपान ॥

यहाँ चारों भाइयोंका परस्पर प्रेम देखकर सभी मुग्ध हो गये । भरतकी विनय, नम्रता, साधुता और रामभक्ति देखकर तो लोग तन-मनकी सुधि भूल गये । श्रीरामको पिताके मरण-संवादसे बड़ा दुःख हुआ । यथोचित शास्त्रोक्त विधिसे क्रिया करनेके बाद समाज जुड़ा । भरतने भाँति-भाँतिसे अनेक युक्तियाँ दिखलाकर श्रीरामको राज्य-ग्रहणके लिये प्रार्थना की । वसिष्ठादि ऋषियोंने, मन्त्री, पुरवासी और माताओंने भी भरतका साथ दिया । जब भगवान् श्रीरामने किसी प्रकार भी स्वीकार नहीं किया तो भरतजीने कहा कि मैं अनशनव्रत रखकर प्राण दे दूँगा । इसपर श्रीरामने उन्हें पहले तो धरना देनेके लिये फटकारा, फिर विविध भाँतिसे

समझाकर शान्त किया और अन्तमें चरणोंमें पड़े रोते हुए भरतको अपने हाथोंसे खींचकर गोदमें बैठा लिया और प्रेमवश कहने लगे--

हे भरत ! मुझे वनवाससे लौटाकर राज्याभिषेक करानेके लिये तुमका जो बुद्धि हुई है सो स्वाभाविक ही है, यह गुरुसेवाद्वारा प्राप्त विनय-विवेकका फल है । इस श्रेष्ठ बुद्धिके कारण तुम समस्त पृथ्वीका पालन कर सकते हो, परन्तु--

लक्ष्मीश्चन्द्रादपेयाद्वा हिमवान्वा हिमं त्यजेत् ।
अतीयात्सागरो वेलां न प्रतिज्ञामहं पितुः ॥
(वा० रा० २ । ११२ । १८)

'चन्द्रमासे चाहे चाँदनी चली जाय, हिमालय चाहे हिमको छोड़ दे, समुद्र चाहे मर्यादाका उल्लङ्घन कर दे, पर मैं पिताकी प्रतिज्ञाको सत्य किये बिना घर नहीं लौट सकता ।'

श्रीगोसाईंजीने लिखा है कि श्रीरामने अन्तमें प्रेमविवश होकर भरतजीसे कहा कि---

भैया ! तुम दुःख न करो, जीवकी गति ईश्वराधीन है, हे भाई ! मेरी समझसे तो तीनों काल और तीनों लोकोंमें जितने पुण्यश्लोक पुरुष हैं वे सब तुमसे नीचे हैं । तुमको जो मनमें भी कुटिल समझेगा, उसके लोक-परलोक बिगड़ जायँगे । माता कैकेयीको भी वही लोग दोष देंगे, जिन्होंने गुरु और साधुओंका संग नहीं किया है । मैं शिवको साक्षी देकर सत्य कहता हूँ कि भाई ! अब यह पृथ्वी तुम्हारे रक्खे ही रहेगी । तुम अपने मनमें कुछ भी शङ्का न करो । हे प्यारे ! ... । महाराजने मुझको त्याग

दिया; प्रेमका प्रण निबाहनेके लिये शरीर भी छोड़ दिया, परन्तु सत्य नहीं छोड़ा। इसलिये मुझको उनके वचन टालनेमें बड़ा संकोच हो रहा है, परंतु उससे भी बढ़कर मुझे तुम्हारा संकोच है, गुरुजी भी कहते हैं, अतः अब सारा भार तुमपर है, तुम जो कुछ कहो, मैं वही करनेको तैयार हूँ—

मनु प्रसन्न करि सकुच तजि कहहु करौं सोइ आजु।
सत्यसंध रघुबर बचन सुनि भा सुखी समाजु॥

'सोच छोड़कर प्रसन्न मनसे आज तुम जो कुछ कह दोगे वही करनेको तैयार हूँ यानी मुझे सत्य बहुत प्यारा है, परंतु उससे भी बढ़कर तुम प्यारे हो। तुम्हारे लिये सब कुछ कर सकता हूँ।' इससे अधिक भ्रातृ-प्रेम और क्या होगा? जिस सत्यके लिये पिता-माताकी परवा नहीं की, आज अनायास वही सत्य, लौटानेके लिये आये हुए भाई भरतके प्रेमपर छोड़नेको तैयार हो गये।

भरतजी भी तो श्रीरामके ही भाई थे। उन्होंने बड़े भाई श्रीरामका अपने ऊपर इतना प्रेम देखकर उन्हें संकोचमें डालना नहीं चाहा और बोले कि—

जो सेवकु साहिबहि सँकोची। निज हित चहइ तासु मति पोची॥

'जो दास अपने मालिकको संकोचमें डालकर अपना कल्याण चाहता है, उसकी बुद्धि बड़ी ही नीच है।' मैं तो आपके राज-तिलकके लिये सामग्री लाया था, परंतु अब—

प्रभु प्रसन्न मन सकुच तजि जो जेहि आयसु देब।
सो सिर धरि धरि करिहि सबु मिटिहि अनट अवरेब॥

'प्रभु निःसंकोच होकर प्रसन्नतासे जिसको जो आज्ञा देंगे वह उसीको सिर चढ़ाकर करेगा, जिससे सारी उलझन आप ही सुलझ जायगी। अन्तमें श्रीरामने फिर कहा—'भैया ! तुम मन, वचन, कर्मसे निर्मल हो, तुम्हारी उपमा तुम्हीं हो, बड़ोंके सामने छोटे भाईके गुण इस कुसमयमें कैसे बखानूँ ? भाई ! तुम अपने सूर्यवंशकी रीति, पिताजीकी कीर्ति और प्रीति जानते हो, और भी सारी बातें तुमपर विदित हैं। अवश्य चौदह वर्षतक तुमको बहुत कष्ट होगा—

जानि तुम्हहि मृदु कहउँ कठोरा। कुसमयँ तात न अनुचित मोरा॥
होहिं कुठायँ सुबंधु सहाए। ओड़िअहिं हाथ असनिहु के घाए॥

'हे प्यारे ! मैं तुम्हारे हृदयकी कोमलता जानता हुआ भी तुम्हें यह कठोर वचन कह रहा हूँ; परन्तु क्या करूँ ? यह समय ही ऐसा है। इस समयके लिये यही उचित है। जब बुरा समय आता है तब भले भाई ही काम आते हैं, तलवारके वारको बचानेके लिये अपने ही हाथकी आड़ करनी पड़ती है।'

भगवान्‌के इन प्रेमपूर्ण रहस्यके वचनोंको सुनते ही भरत श्रीरामके रुखको भलीभाँति समझ गये। उनका विषाद दूर हो गया; परन्तु चौदह साल निराधार जीवन रहेगा कैसे ? अतः—

सो अवलंब देव मोहि देई। अवधि पारु पावौं जेहि सेई॥

—भगवान्‌ने उसी समय भरतजीके इच्छानुसार अपनी चरण-पादुका परम तेजस्वी महात्मा भरतजीको दे दी। भरतजी पादुकाओंको प्रणामकर मस्तकपर धारणकर अयोध्या लौट गये।

× × ×

श्रीरामने कुछ समयतक चित्रकूटमें निवास किया, फिर ऋषियोंके आश्रमोंमें घूमते-घूमते पञ्चवटीमें आये। वहाँ कुछ समय रहे। वनमें रहते समय भगवान् प्रतिदिन ही लक्ष्मणजीको भाँति-भाँतिसे ज्ञान, भक्ति, वैराग्यका उपदेश किया करते। एक दिन उपदेश देते हुए उन्होंने कहा—

संत चरन पंकज अति प्रेमा। मन क्रम बचन भजन दृढ़ नेमा॥
गुरु पितु मातु बंधु पति देवा। सब मोहि कहँ जानै दृढ़ सेवा॥
मम गुन गावत पुलक सरीरा। गदगद गिरा नयन बह नीरा॥
काम आदि मद दंभ न जाकें। तात निरंतर बस मैं ताकें॥
बचन कर्म मन मोरि गति भजनु करहिं निःकाम।
तिन्ह के हृदय कमल महुँ करउँ सदा बिश्राम॥

इस प्रकार सत्-चर्चा और परम रहस्यके वार्तालापमें ही समय बीतता था। भाईपर इतना प्रेम था कि श्रीराम उन्हें हृदय खोलकर अपना रहस्य समझाते थे।

× × ×

सीता-हरण हुआ, लङ्कापर चढ़ाई की गयी और भयानक युद्ध आरम्भ हो गया। एक दिन शक्तिबाणसे श्रीलक्ष्मणके घायल हो जानेपर श्रीरामने भाईके लिये जैसी विलाप-प्रलापकी लीला की, उससे पता लगता है कि छोटे भाई लक्ष्मणके प्रति श्रीरामका कितना अधिक स्नेह था।'

श्रीराम कहने लगे—

किं मे युद्धेन किं प्राणैर्युद्धकार्यं न विद्यते।
यत्रायं निहतः शेते रणमूर्धनि लक्ष्मणः॥

यथैव मां वनं यान्तमनुयाति महाद्युतिः ।
अहमप्यनुयास्यामि तथैवैनं यमक्षयम् ॥
(वा० रा० ६ । १०१ । ११-१२)

'अब मुझे युद्धसे या जीवनसे क्या प्रयोजन है ? जब कि प्यारा भाई लक्ष्मण निहत होकर रणभूमिमें सो चुका है, युद्धका कोई काम नहीं है । जिस प्रकार यह महातेजस्वी मेरे साथ वनमें आया है उसी प्रकार मैं भी इसके साथ परलोकमें जाऊँगा ।' गोसाईंजी लिखते हैं—

श्रीराम प्रलाप करते हुए कहते हैं—

सकहु न दुखित देखि मोहि काऊ ।
बंधु सदा तव मृदुल सुभाऊ ॥
मम हित लागि तजेहु पितु माता ।
सहेहु बिपिन हिम आतप बाता ॥
सो अनुराग कहाँ अब भाई ।
उठहु न सुनि मम बच बिकलाई ॥
जौं जनतेउँ बन बंधु बिछोहू ।
पिता बचन मनतेउँ नहिं ओहू ॥
सुत बित नारि भवन परिवारा ।
होहिं जाहिं जग बारहिं बारा ॥
अस बिचारि जियँ जागहु ताता ।
मिलइ न जगत सहोदर भ्राता ॥
जथा पंख बिनु खग अति दीना ।
मनि बिनु फनि करिबर कर हीना ॥

अस मम जिवन बंधु बिनु तोही।
जौं जड़ दैव जिआवै मोही॥
जैहउँ अवध कौन मुहु लाई।
नारि हेतु प्रिय भाइ गँवाई॥
अब अपलोकु सोकु सुत तोरा।
सहिहि निठुर कठोर उर मोरा॥
निज जननी के एक कुमारा।
तात तासु तुम्ह प्रान अधारा॥
सौंपेसि मोहि तुम्हहि गहि पानी।
सब बिधि सुखद परम हित जानी॥
उतरु काह दैहउँ तेहि जाई।
उठि किन मोहि सिखावहु भाई॥
बहु बिधि सोचत सोच बिमोचन।
स्रवत सलिल राजिव दल लोचन॥*

---

* यह भगवान् श्रीरामकी प्रलाप-लीला मानी जाती है। प्रलापमें कुछ-का-कुछ कहा जाना ही स्वाभाविक है। 'प्रभु प्रलाप सुनि कान' आगेके दोहेके इस वाक्यसे भी प्रलाप ही सिद्ध होता है। भगवान् शिवके इन वचनोंसे कि 'उमा एक अखंड रघुराई। नर गति भगत कृपालु देखाई॥' से भी साधारण मनुष्यवत् प्रलाप ही ठहरता है। इससे अर्थान्तर करनेकी आवश्यकता नहीं, परन्तु यदि दूसरा अर्थ किया जाय तो उपर्युक्त चौपाइयोंमें—'जौं जनतेउँ बन बंधु बिछोहू। पिता बचन मनतेउँ नहिं ओहू॥' इस चौपाईका अर्थ यह करना चाहिये कि यदि मैं जानता कि वनमें बन्धुओंसे बिछोह होगा तो मैं (पिता वचन

जो भाई अपने लिये घर-द्वार छोड़कर मरनेको तैयार है, उसके लिये विलाप किया जाना उचित ही है, परंतु श्रीरामने तो विलापकी पराकाष्ठा कर भ्रातृ-प्रेमकी बड़ी ही सुन्दर शिक्षा दी है।

श्रीहनूमान्‌जीके द्वारा संजीवनी लानेपर लक्ष्मणजी स्वस्थ हो गये। राम-रावण-युद्ध समाप्त हुआ। सीता-परीक्षाके अनन्तर श्रीराम सबको साथ लेकर पुष्पक-विमानके द्वारा अयोध्या लौटनेकी तैयारीमें हैं। इसी समय विभीषण प्रार्थना करने लगे—

भगवन्! यदि मैं आपके अनुग्रहका पात्र हूँ, यदि आप मुझपर स्नेह करते हैं तो मेरी प्रार्थना है—आप कुछ समयतक यहाँ रहें, लक्ष्मण और सीतासहित आपकी मैं पूजा करना चाहता हूँ। आप अपनी सेना तथा मित्रोंसहित घर पधारकर उसको पवित्र करें और यत्किञ्चित् सत्कार स्वीकार करें। मैं आपके प्रति आज्ञा नहीं कर रहा हूँ, परन्तु स्नेह-सम्मान और मित्रताके कारण एक सेवककी भाँति आपको प्रसन्न करनेकी अभिलाषा

मनतेउँ) पिताके वचन मानकर वनमें तो आता, परन्तु ('नहिं ओहू') लक्ष्मणका आग्रह स्वीकार कर उसे वनमें साथ नहीं लाता।

इसी प्रकार 'निज जननी के एक कुमारा। तात तासु तुम्ह प्रान अधारा' इस चौपाईका अर्थ यों करना चाहिये कि मैं जैसे अपनी माताका प्यारा इकलौता बेटा हूँ वैसे ही अपनी माता सुमित्राके तुम प्राणाधार हो।

इस चौपाईका अर्थ यह भी किया जा सकता है कि 'मैं अपनी माताके एक ही लड़का हूँ और तुम उसके (मेरे) प्राणाधार हो अर्थात् तुम्हारे जीवनसे ही मेरा जीवन है।'

रखता हूँ।' (वा० रा० ६।१२१।१२-१५) विनयका क्या ही सुन्दर सीखने योग्य तरीका है !

श्रीरामने उत्तरमें कहा—

न खल्वेतन्न कुर्यां ते वचनं राक्षसेश्वर।
तं तु मे भ्रातरं द्रष्टुं भरतं त्वरते मनः॥
मां निवर्तयितुं योऽसौ चित्रकूटमुपागतः।
शिरसा याचतो यस्य वचनं न कृतं मया॥

(वा० रा० ६।१२१।१८-१९)

'हे राक्षसेश्वर ! मैं तुम्हारी बात न मानूँ ऐसा कभी नहीं हो सकता, किंतु मेरा मन उस भाई भरतसे मिलनेके लिये छटपटा रहा है, जिसने चित्रकूटतक आकर मुझे लौटानेके लिये विनीत प्रार्थना की थी और मैंने उसको स्वीकार नहीं किया था।' मित्रवर ! तुम मेरी इस प्रार्थनापर दुःख न करना।

तोर कोस गृह मोर सब सत्य बचन सुनु भ्रात।
भरत दसा सुमिरत मोहि निमिष कल्प सम जात॥
तापस बेष गात कृस जपत निरंतर मोहि।
देखौं बेगि सो जतनु करु सखा निहोरउँ तोहि॥
बीतें अवधि जाउँ जौं जिअत न पावउँ बीर।
सुमिरत अनुज प्रीति प्रभु पुनि पुनि पुलक सरीर॥

विभीषण नहीं रोक सके, विमानपर सवार होकर चले। भगवान्‌ने अपने आनेका संवाद हनूमान्‌के द्वारा भरतजीके पास पहलेसे ही भेजकर उन्हें सुख पहुँचाया।

तदनन्तर अनन्तशक्ति भगवान् श्रीराम अयोध्या पहुँचकर क्षणमें लीलासे ही सबसे मिल लिये।

प्रेमातुर सब लोग निहारी। कौतुक कीन्ह कृपाल खरारी॥
अमित रूप प्रगटे तेहि काला। जथाजोग मिले सबहि कृपाला॥
कृपादृष्टि रघुबीर बिलोकी। किए सकल नर नारि बिसोकी॥
छन महिं सबहि मिले भगवाना। उमा मरम यह काहुँ न जाना॥

भरतके साथ भगवान्का मिलन तो अपूर्व आनन्दमय है। फिर शत्रुघ्नसे मिलकर उनका विरह-दुःख नष्ट किया। राजतिलककी तैयारी हुई। स्नान-मार्जन होने लगा। श्रीराम भी भाइयोंकी वात्सल्य-भावसे सेवा करने लगे। भरतजी बुलाये गये, श्रीरामने अपने हाथोंसे उनकी जटा सुलझायी। तदनन्तर तीनों प्राण-प्रिय भाइयोंको श्रीरामने स्वयं अपने हाथसे मल-मलकर नहलाया। भरत, लक्ष्मण, शत्रुघ्न पितृतुल्य श्रीरामके इस वात्सल्यभावसे मुग्ध हो गये।

पुनि करुनानिधि भरतु हँकारे। निज कर राम जटा निरुआरे॥
अन्हवाए प्रभु तीनिउ भाई। भगत बछल कृपाल रघुराई॥
भरत भाग्य प्रभु कोमलताई। सेष कोटि सत सकहिं न गाई॥

शिवजी कहते हैं कि भरतजी (आदि भाइयों) के भाग्य और प्रभुकी कोमलताका बखान सौ करोड़ शेषजी भी नहीं कर सकते। धन्य भ्रातृ-प्रेम !!

भगवान् श्रीराम तीनों भाइयोंसे सेवित होकर राज्य करने लगे। रामराज्यकी महिमा कौन गा सकता है? भगवान् समय-समयपर अपनी प्रजाको इकट्ठी कर उन्हें विविध भाँतिसे लोक-परलोकमें उन्नति और

कल्याणके साधनोंके सम्बन्धमें शिक्षा देते हैं। ऐसा न्याय और दयापूर्ण शासन, सुन्दर बर्ताव, प्रेमभाव, लोक-परलोकमें सुख पहुँचानेवाली तथा मुक्तिदायिनी शिक्षा, सब प्रकारके सुख राम-राज्यके अतिरिक्त अबतक अन्य किसी भी राज्यमें कभी देखे, सुने या पढ़े नहीं गये।

× × ×

समय-समयपर भाइयोंको साथ लेकर श्रीराम वन-उपवनोंमें जाते हैं, भाँति-भाँतिके शिक्षाप्रद उपदेश करते हैं। एक समय सब उपवनमें गये। भरतजीने श्रीरामके लिये अपना दुपट्टा बिछा दिया, भगवान् उसपर विराजे, तदनन्तर श्रीहनुमान्‌जीके द्वारा भरतजीके प्रश्न करनेपर श्रीरामने संत-असंतके लक्षण बतलाते हुए अन्तमें बड़ा ही सुन्दर उपदेश दिया—

पर हित सरिस धर्म नहिं भाई। पर पीड़ा सम नहिं अधमाई॥
निर्नय सकल पुरान बेद कर। कहेउँ तात जानहिं कोबिद नर॥
नर सरीर धरि जे परपीरा। करहिं ते सहहिं महा भव भीरा॥
करहिं मोह बस नर अघ नाना। स्वारथ रत परलोक नसाना॥
कालरूप तिन्ह कहँ मैं भ्राता। सुभ अरु असुभ कर्म फल दाता॥
अस बिचारि जे परम सयाने। भजहिं मोहि संसृत दुख जाने॥
त्यागहिं कर्म सुभासुभ दायक। भजहिं मोहि सुर नर मुनिनायक॥

कैसा सुन्दर सबके ग्रहण करनेयोग्य उपदेश है! ऐसे बड़े भाई अनन्त पुण्य-बलसे ही प्राप्त होते हैं!!

× × ×

आगे चलकर लवणासुरको मारनेके लिये शत्रुघ्नके कहनेपर

श्रीरामने उन्हें रणाङ्गणमें भेजना स्वीकार कर कहा कि वहाँका राज्य तुम्हें भोगना पड़ेगा। मेरी आज्ञाका प्रतिवाद न करना। शत्रुघ्नको राज्याभिषेककी बात बहुत बुरी लगी; परंतु रामाज्ञा समझकर उसे स्वीकार करना पड़ा। न चाहनेपर भी छोटे भाईको वचनोंमें बाँधकर राज्यसुख देना राम-सरीखे बड़े भाईका ही कार्य है।

इसके बाद लक्ष्मण-त्यागका प्रश्न आता है, कुछ लोग इसको श्रीरामका बड़ा ही निष्ठुर कार्य समझते हैं। जिस भाईने राज्य और राजाको दारुण ऋषि-शापसे बचाया, उसके लिये पुरस्काररूपमें भी पहलेका विधान बदल देना उचित था, परंतु ऐसा कहनेवाले लोग इस बातको भूल जाते हैं कि श्रीराम सत्यप्रतिज्ञ हैं, इसी सत्यकी रक्षाके लिये उन्होंने लक्ष्मणका त्याग कर दिया, परंतु प्यारे भाई लक्ष्मणका वियोग होते ही आप भी भरत, शत्रुघ्न और प्रजा-परिजनोंको साथ लेकर परमधामको प्रयाण कर गये।

श्रीरामके भ्रातृ-प्रेमका यह अति संक्षिप्त वर्णन है। श्रीरामकी भ्रातृवत्सलताका इससे कुछ अनुमान हो सकता है। भाइयोंके लिये ही राज्य ग्रहण करना, भाईको राज्य मिलनेके प्रस्तावसे अपना हक छोड़कर परम आनन्दित होना, जिसके कारण राज्याभिषेक रुका उस भाई भरतकी माता कैकेयीपर भक्ति करना, भरतका गुण-गान करना; धरना देनेके समय भरतको और भरतपर क्रोध करनेके समय लक्ष्मणको फटकार बताकर अन्यायमार्गसे बचाना, भरतकी इच्छापर अपने सत्यव्रतको भी छोड़नेको तैयार होना, लक्ष्मणजीके शक्ति लगनेपर उनके साथ प्राणत्याग करनेको तैयार होना, समय-समयपर सदुपदेश

देना, स्वार्थ छोड़कर सबपर सममावसे पूर्ण प्रेम करना और लवणासुरपर आक्रमणके समय जबरदस्ती राज्याभिषेकके लिये शत्रुघ्नसे स्वीकार कराना आदि श्रीरामके आदर्श भ्रातृ-प्रेमपूर्ण कार्योंसे हम सबको यथायोग्य शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये !

श्रीभरतका भ्रातृ-प्रेम

सिय राम पेम पियूष पूरन होत जनमु न भरत को।
मुनि मन अगम जम नियम सम दम बिषम ब्रत आचरत को॥
दुख दाह दारिद दंभ दूषन सुजस मिस अपहरत को।
कलिकाल तुलसी से सठन्हि हठि राम सनमुख करत को॥

भरतजीकी अपार महिमा है। रामायणमें भरतजीका ही एक ऐसा उज्ज्वल चरित्र है जिसमें कहीं कुछ भी दोष नहीं दीख पड़ता। भरतजी धर्मके ज्ञाता, नीतिज्ञ, त्यागी, सद्गुणोंसे युक्त, संयमी, सदाचारी, प्रेम और विनयकी मूर्ति, श्रद्धा-भक्ति-सम्पन्न और बड़े बुद्धिमान् थे। वैराग्य, सत्य, तप, क्षमा, तितिक्षा, दया, वात्सल्य, धीरता, शान्ति, सरलता, गम्भीरता, सौम्यता, समता, मधुरता, अमानिता, सुहृदता और स्वामिसेवा आदि गुणोंका इनमें विलक्षण विकास था। भ्रातृ-प्रेमकी तो आप मानो सजीव मूर्ति थे।

श्रीराम-वनवास अच्छा ही हुआ; जिससे भरतजीका उच्च प्रेम-भाव जगत्में प्रकट हो गया। राम-वियोग न होता तो विश्वको इस अतुल प्रेमकी सुधा-धारामें अवगाहन करनेका सुअवसर शायद ही मिलता।

पेम अमिअ मंदरु बिरहु भरतु पयोधि गँभीर।
मथि प्रगटेउ सुर साधु हित कृपासिंधु रघुबीर॥

'गम्भीर समुद्ररूप भरतजीको अपने वनवासरूपी मन्दराचलपर्वतसे मथकर कृपासिन्धु रघुनाथजीने सुर-संतोंके हितार्थ प्रेमरूपी अमृतको प्रकट किया है।'

श्रीराम-वनवास और दशरथजीकी मृत्यु होनेपर गुरु वसिष्ठकी आज्ञासे भरत-शत्रुघ्नको बुलानेके लिये कैकयदेशको दूत जाते हैं। इधर भरतजीको दुःस्वप्न होता है, जिससे वे व्याकुल हो जाते हैं और माता-पिता तथा भाई-भौजाईकी मङ्गलकामनासे दान-पुण्य करते हैं। दूतोंने जाकर गुरुका संदेश सुना दिया। भरतजीने कुशल पूछी, जिसके उत्तरमें दूतोंने भी मानो व्यंगसे ही कहा कि 'आप जिनकी कुशल पूछते हैं वे कुशलसे हैं।' भरतजी उसी दिन चल पड़े। अयोध्यामें पहुँचकर उसे श्रीहीन देख बड़े दुःखित हुए, उनका हृदय परिवारकी अनिष्ट-आशंकासे भर गया, न तो किसीसे कुछ पूछनेकी हिम्मत हुई और न किसीने कुछ कहा ही। लोग तो उस समय भरतजीको राम-वनवास और दशरथकी मृत्युमें हेतु समझकर बहुत ही बुरी दृष्टिसे देखते थे, अतः उनसे कोई अच्छी तरह बोलता ही कैसे? आगे चलकर प्रजाने साफ कहा—

मिथ्या प्रव्राजितो रामः सभार्यः सहलक्ष्मणः।
भरते सन्निबद्धाः स्मः सौनिके पशवो यथा॥
(वा० रा० २।४८।२८)

'झूठा बहाना करके कैकेयीने श्रीरामको सीता-लक्ष्मणसहित

वनमें भेज दिया है। अब हमलोग उसी प्रकार भरतके अधीन हैं, जैसे कसाईके अधीन पशु होते हैं।'

लोग सामने आते हैं और दूरसे ही जुहार करके मुँह फेरकर चले जाते हैं—

पुरजन मिलहिं न कहहिं कछु गवँहिं जोहारहिं जाहिं।
भरत कुसल पूँछि न सकहिं भय बिषाद मन माहिं॥

घबराये हुए भरतजी पिताकी खोजमें माता कैकेयीके महलमें पहुँचे और 'पिता कहाँ हैं?' ऐसा पूछने लगे। कैकेयी अपने कियेपर फूली नहीं समाती थी, वह समझती थी कि भरत भी मेरी कृति सुनकर राजी होंगे, अतः उसने कठोर बनकर झटसे कह दिया—

या गतिः सर्वभूतानां तां गतिं ते पिता गतः।
राजा महात्मा तेजस्वी यायजूकः सतां गतिः॥

(वा० रा० २।७२।१५)

'सब भूत-प्राणियोंकी अन्तमें जो गति होती है, वही तुम्हारे पिताकी भी हुई। महात्मा, तेजस्वी और यज्ञ करनेवाले राजाने सत्पुरुषोंकी गति प्राप्त की है।'

यह सुनते ही भरत शोकपीड़ित हो 'हाय! मैं मारा गया' पुकारकर सहसा पछाड़ खाकर पृथ्वीपर गिर पड़े।। भाँति-भाँतिसे विलाप करते हुए कहने लगे, 'हाय पिताजी! मुझे दुःखसागरमें छोड़कर कहाँ चले गये'—

असमर्प्यैव रामाय राज्ञे मां क्व गतोऽसि भोः।

(अध्यात्मरा० २।७।६७)

'हे पिता ! मुझे राजा रामके हाथोंमें सौंपे बिना ही आज कहाँ चले गये ?' कैकेयीने विलाप करते हुए भरतको उठाकर उसके आँसू पोंछे और कहा कि 'बेटा ! धीरज रक्खो, मैंने तुम्हारे लिये सब काम बना रखा है'—'समाश्वसिहि भद्रं ते सर्वं सम्पादितं मया ।' (अ० रा० २ । ७ । ६८) परंतु भरतजीका रोना बंद नहीं हुआ; उन्होंने कहा—

> यो मे भ्राता पिता बन्धुर्यस्य दासोऽस्मि संमतः ।
> तस्य मां शीघ्रमाख्याहि रामस्याक्लिष्टकर्मणः ॥
> पिता हि भवति ज्येष्ठो धर्ममार्यस्य जानतः ।
> तस्य पादौ ग्रहीष्यामि स हीदानीं गतिर्मम ॥
> धर्मविद्धर्मशीलश्च महाभागो दृढव्रतः ।
> आर्ये किमब्रवीद्राजा पिता मे सत्यविक्रमः ॥
> पश्चिमं साधुसन्देशमिच्छामि श्रोतुमात्मनः ।
>
> (वा० रा० २ । ७२ । ३२—३५)

'यह तो मुझे शीघ्र बता कि सरल आचरण और स्वभाववाले मेरे पिता-तुल्य बड़े भाई वह श्रीरघुनाथजी कहाँ हैं, जिनका मैं प्रिय दास हूँ ? मैं उनके चरण-वन्दन करूँगा, क्योंकि अब वे ही मेरे अवलम्ब हैं ; आर्य-धर्मके जाननेवाले लोग बड़े भाईको पिताके सदृश समझते हैं । माता ! यह भी बतला कि धर्मज्ञ, दृढ़व्रत, धर्मशील, महाभाग और सत्यपराक्रमी मेरे पिता राजा दशरथने अन्त समयमें मेरे लिये क्या कहा था 'मैं उनका अन्तिम शुभ-संदेश सुनना चाहता हूँ ।' उत्तरमें कैकेयीने कहा—

रामेति राजा विलपन् हा सीते लक्ष्मणेति च ।
स महात्मा परं लोकं गतो मतिमतां वरः ॥
इतीमां पश्चिमां वाचं व्याजहार पिता तव ।
कालधर्मं परिक्षिप्तः पाशैरिव महागजः ॥
सिद्धार्थास्तु नरा राममागतं सह सीतया ।
लक्ष्मणं च महाबाहुं द्रक्ष्यन्ति पुनरागतम् ॥

(वा० रा० २ । ७२ । ३६-३८)

'बेटा ! बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ तेरे पिता अन्तकालमें 'हा राम ! हा लक्ष्मण ! हा सीते ।' पुकारते हुए परलोक सिधारे हैं । हाथी जिस प्रकार पाशमें बँधकर विवश हो जाता है, उसी प्रकार काल-पाशमें बँधकर तेरे पिताने केवल यही कहा था कि 'अहो! सीताके साथ लौटकर आये हुए श्रीराम-लक्ष्मणको जो मनुष्य देखेंगे वही कृतार्थ होंगे ।'

यह सुनते ही भरतजीके दुःखकी सीमा न रही ।

तामाह भरतो हेऽम्ब रामः सन्निहितो न किम् ।
तदानीं लक्ष्मणो वापि सीता वा कुत्र ते गताः ॥

(अध्यात्मरा० २ । ७ । ७१)

भरतजीने पूछा—'माता ! क्या उस समय श्रीरामजी, लक्ष्मण या सीताजीमेंसे कोई भी पास नहीं था, वे सब कहाँ चले गये थे ?

अब वज्रहृदया कैकेयीने सारी कहानी सुनाते हुए कहा कि—

रामस्य यौवराज्यार्थं पित्रा ते सम्भ्रमः कृतः ।
तव राज्यप्रदानाय तदाऽहं विघ्नमाचरम् ॥

राज्ञा दत्तं हि मे पूर्वं वरदेन वरद्वयम् ।
याचितं तदिदानीं मे तयोरेकेन तेऽखिलम् ॥
राज्यं रामस्य चैकेन वनवासो मुनिव्रतम् ।
ततः सत्यपरो राजा राज्यं दत्त्वा तवैव हि ॥
रामं सम्प्रेषयामास वनमेव पिता तव ।
सीताप्यनुगता रामं पातिव्रत्यमुपाश्रिता ॥
सौभ्रात्रं दर्शयन्राममनुयातोऽपि लक्ष्मणः ।
वनं गतेषु सर्वेषु राजा तानेव चिन्तयन् ॥
प्रलपन् रामरामेति ममार नृपसत्तमः ।

(अध्यात्मरा० २ । ७ । ७२–७७)

तुम्हारे पिताने रामके राज्याभिषेककी बड़ी तैयारी की थी, परंतु तब तुम्हें राज्य दिलानेके अभिप्रायसे मैंने उसमें विघ्न डाल दिया । वरदानी राजाने पूर्वमें मुझे दो वर देनेको कह रखा था, उनमेंसे एकसे मैंने तुम्हारे लिये सम्पूर्ण राज्य और दूसरेसे रामके लिये मुनिव्रतधारणपूर्वक चौदह सालका वनवास माँगा । तब तुम्हारे पिता सत्यपरायण राजाने तुम्हें राज्य दे दिया और रामको वन भेज दिया । पतिव्रता सीता भी रामके साथ वन चली गयी और सच्चा भ्रातृत्व दिखाकर लक्ष्मण भी उन्हींके पीछे चल दिये । उन लोगोंके वन जानेपर उन्हींका चिन्तन करते हुए और 'हा राम, हा राम' पुकारते हुए महाराजा भी परलोक सिधार गये ।'

कैकेयीके इन वचनोंसे मानो भरतजीपर वज्रपात हो गया । वे पिताकी मृत्युको तो भूल गये और अपने हेतुसे श्रीरामका वनगमन सुनते ही सहम गये, पके हुए घावपर मानो आग-सी लग गयी ।

भरतहि बिसरेउ पितु मरन सुनत राम बन गौनु।
हेतु अपनपउ जानि जियँ थकित रहे धरि मौनु॥
सुनि सुठि सहमेउ राजकुमारू।
पाकें छत जनु लाग अँगारू॥

भरतजी व्याकुल हो उठे और दारुण शोकमें सारी सुध-बुध भूलकर माताको धिक्कारकर चिल्लाते हुए कहने लगे—

'अरी क्रूरे! तू राज्य चाहनेवाली माताके रूपमें मेरी शत्रु है, तू पतिघातिनी और कुल-घातिनी है, तू धर्मात्मा अश्वपतिकी कन्या नहीं है, उनके कुलका नाश करनेवाली राक्षसी पैदा हुई है। तू जानती नहीं कि श्रीरामके प्रति मेरा कैसा भाव है, इसीसे तूने यह अन्याय किया है। मैं राम-लक्ष्मणको छोड़कर किसके बलपर राज्य करूँगा? तूने मेरे धर्मात्मा पिताका नाश कर दिया और मेरे भाइयोंको गली-गली भीख माँगनेके लिये भेजा है, एक-पुत्रा कौसल्याको पुत्रवियोगका दुःख दिया है, जा तू नरकमें पड़। तू राज्यसे भ्रष्ट हो जा। अरी दुष्टे! तू धर्मसे पतित है, भगवान् करें मैं मर जाऊँ और तू मेरे लिये रोया करे! मैं इस समस्त राज्यको भाईके प्रति अर्पण कर दूँगा, जा तू अग्निमें प्रवेश कर जा। जंगलमें निकल जा या गलेमें रस्सीकी फाँसी लगाकर मर जा। मैं सत्यपराक्रम रामको राज्य देकर ही अपना कलङ्क धोऊँगा और अपनेको कृतकृत्य समझूँगा। (वा० रा० २।७४)

भरतजीने राम-प्रेममें नीति भूलकर शत्रुघ्नसे यहाँतक कह डाला कि

हन्यामहमिमां पापां कैकेयीं दुष्टचारिणीम् ।
यदि मां धार्मिको रामो नासूयेन्मातृघातकम् ॥
(वा० रा० २ । ७८ । २२)

'हे भाई ! इस दुष्ट आचरणवाली पापिनी कैकेयीको मैं मार डालता, यदि धर्मात्मा श्रीराम मातृहत्यारा समझकर मुझसे घृणा न करते ।'

आखिर भरतजीने माताका मुँह देखनातक पाप समझा और बोले कि—

जो हसि सो हसि मुहँ मसि लाई ।
आँखि ओट उठि बैठहि जाई ॥

× × ×

इतनेमें कुबड़ी मन्थरा इनाम पानेकी आशासे सज-धजकर आयी । उसे देखते ही शत्रुघ्नजीका क्रोध बढ़ा, वे लगे उसे इनाम देने, परंतु दयालु भरतजीने छुड़ा दिया । इसके बाद भरतजी माता कौसल्याके पास पहुँचे और उनकी दयनीय दशा देखकर व्याकुल हो उठे । कौसल्याजीने भी कैकेयीपुत्रके नाते भरतपर संदेह करके कुछ कटु शब्द कहे । कौसल्याजीके कटु वचनोंसे भरतका हृदय विदीर्ण हो गया और वह मूर्च्छित होकर उनके चरणोंमें गिर पड़े, जब होशमें आये तब ऐसी-ऐसी कठोर शपथें खाने लगे, जिनसे माताका हृदय पसीज गया । भरतने कहा—

कैकेय्या यत्कृतं कर्म रामराज्याभिषेचने ।
अन्यद्वा यदि जानामि सा मया नोदिता यदि ॥

पापं मेऽस्तु तदा मातर्ब्रह्महत्याशतोद्भवम् ।
हत्वा वसिष्ठं खड्गेन अरुन्धत्या समन्वितम् ॥

(अध्यात्मरा० २ । ७ । ८८-८९)

'माता ! श्रीरामके राज्याभिषेकके विषयमें तथा वनगमनके विषयमें कैकेयीने जो कुकर्म किया है, उसमें यदि मेरी सम्मति हो या मैं उसे जानता भी होऊँ तो मुझे सौ ब्रह्महत्याका पाप लगे। और वह पाप भी लगे जो गुरु वसिष्ठजीकी अरुन्धतीजीसहित तलवारसे हत्या करनेमें लगता है ।'

कौसल्याने गद्गद होकर निर्दोष भरतको गोदमें बिठा लिया और उसके आँसू पोंछकर कहने लगी—'बेटा ! मैंने शोकमें विकल होकर तुझपर आक्षेप कर दिया था । मैं जानती हूँ—

राम प्रानहु तें प्रान तुम्हारे ।
तुम्ह रघुपतिहि प्रानहु तें प्यारे ॥
बिधु बिष चवै स्रवै हिमु आगी ।
होइ बारिचर बारि बिरागी ॥
भएँ ग्यानु बरु मिटै न मोहू ।
तुम्ह रामहि प्रतिकूल न होहू ॥
मत तुम्हार यहु जो जग कहहीं ।
सो सपनेहुँ सुखु सुगति न लहहीं ॥
अस कहि मातु भरतु हियँ लाए ।
थन पय स्रवहिं नयन जल छाए ॥

भरतजीके राम-प्रेमका पता कौसल्याके इन वचनोंसे खूब

लगता है। भरतका चरित्रबल और चिर आचरित भ्रातृ-प्रेम ही था जिसने इस अवस्थामें भी कौसल्याके द्वारा भरतको भ्रातृ-प्रेमका ऐसा जोरदार सार्टिफिकेट दिलवा दिया।

× × ×

पिताकी शास्त्रोक्त और्ध्वदैहिक क्रिया करनेके बाद राजसभामें गुरु, मन्त्री, प्रजा और माताओंने यहाँतक कि माता कौसल्याने भी भरतको राजसिंहासन स्वीकार करनेके लिये अनुरोध किया, परन्तु भरत किसी प्रकार भी राजी नहीं हुए। उन्होंने अटलरूपसे कह दिया—

आपनि दारुन दीनता कहउँ सबहि सिरु नाइ।
देखें बिनु रघुनाथ पद जिय कै जरनि न जाइ॥
आन उपाउ मोहि नहिं सूझा।
का जिय कै रघुबर बिनु बूझा॥
एकहिं आँक इहइ मन माहीं।
प्रातकाल चलिहउँ प्रभु पाहीं॥
जद्यपि मैं अनभल अपराधी।
भै मोहि कारन सकल उपाधी॥
तदपि सरन सनमुख मोहि देखी।
छमि सब करिहहिं कृपा बिसेषी॥
सील सकुच सुठि सरल सुभाऊ।
कृपा सनेह सदन रघुराऊ॥
अरिहुक अनभल कीन्ह न रामा।
मैं सिसु सेवक जद्यपि बामा॥

भरतके प्रेमभरे वचन सुनकर सभी मुग्ध हो गये। रामदर्शनके लिये वनगमनका निश्चय हुआ। सभी चलनेको तैयार हो गये। रामदर्शन छोड़कर घरमें कौन रहता ?

जेहि राखहिं रहु घर रखवारी।
सो जानइ जनु गरदनि मारी॥
कोउ कह रहन कहिअ नहिं काहू।
को न चहइ जग जीवन लाहू॥

जरउ सो संपति सदन सुखु सुहृद मातु पितु भाइ।
सनमुख होत जो राम पद करै न सहस सहाइ॥

भरतजीने भगवान् रामकी सम्पत्तिकी रक्षा करना कर्तव्य समझकर जिम्मेवार कर्तव्यपरायण रक्षकोंको नियुक्त कर दिया और अयोध्यावासी नर-नारी चल पड़े। उस समय भरतके साथ नौ हजार हाथी, साठ हजार धनुर्धारी, एक लाख घुड़सवार थे। इसके सिवा रथों, माताओं और ब्राह्मणियोंकी पालकियों एवं सदाचारी ब्राह्मणोंकी तथा कारीगरों एवं सामानकी बैलगाड़ियोंकी गिनती ही नहीं थी।

भरतजीने वन जाते हुए मनमें सोचा—'श्रीराम, सीता और लक्ष्मण पैदल ही नंगे पाँव वन-वन घूमते हैं और मैं सवारीपर चढ़कर उनसे मिलने जा रहा हूँ, मुझे धिक्कार है।' यह विचारकर भरत और शत्रुघ्न पैदल हो लिये। दोनों भ्रातृभक्त भाइयोंको पैदल चलते देखकर अन्य लोग भी मुग्ध होकर सवारियोंसे उतरकर पैदल चलने लगे—

देखि सनेहु लोग अनुरागे।
उतरि चले हय गय रथ त्यागे॥

वह देखकर माता कौसल्याने अपनी डोली भरतके पास ले जाकर मधुर वचनोंमें कहा—

तात चढ़हु रथ बलि महतारी।
होइहि प्रिय परिवारु दुखारी॥
तुम्हरें चलत चलिहि सबु लोगू।
सकल सोक कृस नहिं मग जोगू॥

माता कौसल्याकी आज्ञा मानकर भरतजी रथपर चढ़ गये। चलते-चलते शृङ्गवेरपुर पहुँचे। यहाँ निषादराजने भी भरतपर संदेह किया। परंतु परीक्षा करके भरतका आचरण देख वह मन्त्रमुग्धकी भाँति भरतकी सेवामें लग गया। इङ्गुदीके पेड़के नीचे जहाँ श्रीरामने 'कुश-किसलय' की शय्यापर लेटकर रात बितायी थी, गुहके द्वारा उस स्थानको देखकर भरतकी विचित्र दशा हो गयी! वे भाँति-भाँतिसे विलापकर कहने लगे—'हा! यह बिखरी हुई पत्तोंकी शय्या क्या उन्हीं श्रीरामकी है, जो सदा आकाशस्पर्शी राजप्रासादमें रहनेके अभ्यासी हैं। जिनके महल सदा पुष्पों, चित्रों और चन्दनसे चर्चित रहते हैं, जिनके महलका ऊँचा चूड़ा नृत्य करनेवाले पक्षियों और मयूरोंका विहारस्थल है, जिसकी सोनेकी दीवारोंपर विचित्र चित्र-कारीका काम किया हुआ है, वही स्वामी राम क्या इसी इङ्गुदी पेड़के नीचे रहे हैं! हा! इस अनर्थका कारण मैं ही हूँ

हा हतोऽस्मि नृशंसोऽस्मि यत्सभार्यः कृते मम।
ईदृशीं राघवः शय्यामधिशेते ह्यनाथवत्॥
सार्वभौमकुले जातः सर्वलोकसुखावहः।
सर्वप्रियकरस्त्यक्त्वा राज्यं प्रियमनुत्तमम्॥
कथमिन्दीवरश्यामो रक्ताक्षः प्रियदर्शनः।
सुखभागी न दुःखार्हः शयितो भुवि राघवः॥

(वा० रा० २।८८।१७-१९)

'हाय! मैं कितना क्रूर हूँ, हा! मैं मारा गया, क्योंकि मेरे ही कारण श्रीरघुनाथजीको सती सीताजीके साथ ऐसी कठिन शय्यापर अनाथकी भाँति सोना पड़ा। अहो! चक्रवर्तीकुलमें उत्पन्न हुए सबको सुख देनेवाले, सबका प्रिय करनेवाले, कमनीयकान्ति, नील कमलके समान कान्तिवाले, रक्ताक्ष, प्रियदर्शन, जो सदा ही सुखके भोगनेके योग्य तथा इस दुःख-भोगके अयोग्य हैं, वे राघव अति उत्तम प्रिय राज्यको त्यागकर भूमिपर कैसे सोये!'

तदनन्तर भरतजीने उस कुश-शय्याकी प्रणाम-प्रदक्षिणा की—

कुस साँथरी निहारि सुहाई।
कीन्ह प्रनाम प्रदच्छिन जाई॥
चरन रेख रज आँखिन्ह लाई।
बनइ न कहत प्रीति अधिकाई॥
कनक बिंदु दुइ चारिक देखे।
राखे सीस सीय सम लेखे॥

यहाँसे भरतजी फिर पैदल चलने लगे, जब सेवकोंने घोड़ेपर सवार होनेके लिये विशेष आग्रह किया तब आप कहने लगे—

राम पयादेहि पायँ सिधाए।
हम कहँ रथ गज बाजि बनाए॥
सिर भर जाउँ उचित अस मोरा।
सब तें सेवक धरमु कठोरा॥

भाई! मुझे तो सिरके बल चलना चाहिये। क्योंकि जहाँ रामके चरण टिके हैं वहाँ मेरा सिर ही टिकना योग्य है। सीताराम, सीतारामका कीर्तन करते हुए भरतजी प्रयाग पहुँचे। उनके पैरोंके छाले कमलके पत्तोंपर ओसकी बूँदोंके समान चमकते हैं—

झलका झलकत पायन्ह कैसें।
पंकज कोस ओस कन जैसें॥

तदनन्तर महाराज भरतजी मुनि भरद्वाजके आश्रममें पहुँचे। परस्पर शिष्टाचारके उपरान्त भरद्वाजजीने भी भरतके हृदयपर मानो गहरा आघात करते हुए उनसे पूछा—

कच्चिन्न तस्यापापस्य पापं कर्तुमिहेच्छसि।
अकण्टकं भोक्तुमना राज्यं तस्यानुजस्य च॥
(वा० रा० २। ९०। १३)

'क्या तुम उन पापहीन श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मणका वधकर निष्कण्टक राज्य भोगनेकी इच्छासे तो वनमें नहीं जा रहे हो?' भरद्वाजके इन वचनोंसे भरतजीका हृदय टुकड़े-टुकड़े हो गया। वे कातर-कण्ठसे रोते हुए बोले—

हतोऽस्मि यदि मामेवं भगवानपि मन्यते।
(वा० रा० २। ९०। १५)

'भगवन् ! यदि त्रिकालदर्शी होकर आप भी ऐसा ही मानते हैं तब तो मैं मारा गया ।'

कैकेय्या यत्कृतं कर्म रामराज्यविघातनम् ॥
वनवासादिकं वापि नहि जानामि किञ्चन ।
भवत्पादयुगं मेऽद्य प्रमाणं मुनिसत्तम ॥
इत्युक्त्वा पादयुगलं मुनेः स्पृष्ट्वार्तमानसः ।
ज्ञातुमर्हसि मां देव शुद्धो वाशुद्ध एव वा ॥
मम राज्येन किं स्वामिन् रामे तिष्ठति राजनि ।
किङ्करोऽहं मुनिश्रेष्ठ रामचन्द्रस्य शाश्वतः ॥
(अध्यात्मरा० २ । ८ । ४६—४९)

'हे मुनिश्रेष्ठ ! कैकेयीने श्रीरामचन्द्रजीके राज्याभिषेकमें विघ्न डालनेके लिये जो कुछ किया या राम-वनवासादिके सम्बन्धमें जो कुछ हुआ, इस विषयमें मैं कुछ भी नहीं जानता, इस सम्बन्धमें आपके चरणयुगल ही मेरे लिये प्रमाण हैं ।' इतना कह मुनिके दोनों चरणोंको पकड़कर भरतजी कहने लगे—'हे देव ! मैं शुद्ध हूँ या अशुद्ध, इस बातको आप भलीभाँति जान सकते हैं । हे स्वामिन् ! श्रीरामजीके राजा रहते, मुझे राज्यसे क्या प्रयोजन है, मैं तो सदा-सर्वदा श्रीरामका एक किंकर हूँ ।'

इसपर भरद्वाजजीने प्रसन्न होकर कहा—'मैं तुम्हारी सब बातें जानता था, मैंने तो तुम्हारे भाव दृढ़ करने और तुम्हारी कीर्ति बढ़ानेके लिये ही तुमसे ऐसा पूछ लिया था । वास्तवमें

तुम्हारे समान बड़भागी दूसरा कौन है, जिसका जीवन-धन-प्राण श्रीरामके चरणकमल हैं—

सो तुम्हार धनु जीवनु प्राना ।
भूरिभाग को तुम्हहि समाना ॥
सुनहु भरत रघुबर मन माहीं ।
पेम पात्रु तुम्ह सम कोउ नाहीं ॥
लखन राम सीतहि अति प्रीती ।
निसि सब तुम्हहि सराहत बीती ॥

मैं जानता हूँ तुम राम, सीता, लक्ष्मणको अत्यन्त प्यारे हो, वे जब यहाँ ठहरे थे तो रातभर तुम्हारी ही प्रशंसा कर रहे थे। तुम तो भरत ! मानो श्रीराम-प्रेमके शरीरधारी अवतार हो।

तुम्ह तौ भरत मोर मत एहू । धरें देह जनु राम सनेहू ॥

हे भरत ! सुनो, हम तपस्वी उदासी वनवासी हैं, तुम्हारी खातिरसे झूठ नहीं बोलते, हमारी समझसे तो हमारी समस्त साधनाओंके फलस्वरूप हमें श्रीराम-सीता और लक्ष्मणके दर्शन मिले थे और अब श्रीरामदर्शनके फलस्वरूप तुम्हारे दर्शन हुए हैं, सारे प्रयागनिवासियोंसहित हमारा बड़ा सौभाग्य है—

भरत धन्य तुम्ह जसु जगु जयऊ ।
कहि अस पेम मगन मुनि भयऊ ॥

इसके अनन्तर भरद्वाज मुनिने सिद्धियोंके द्वारा परम सम्मान्य अतिथि भरतजीका आतिथ्य-सत्कार किया, सभी प्रकारकी विलास-

सामग्री उत्पन्न हो गयी । सब लोग अपनी-अपनी इच्छानुसार खान-पान और भोगादिमें लग गये, परंतु भरतजीको रामके बिना कहीं चैन नहीं है, वे किसी भी प्रलोभनमें नहीं आ सकते !

संपति चकई भरतु चक मुनि आयस खेलवार।
तेहि निसि आश्रम पिंजराँ राखे भा भिनुसार॥

'भरद्वाजजीकी सिद्धियोंद्वारा उत्पन्न सम्पत्ति मानो चकई है और भरतजी चकवा हैं, मुनिकी आज्ञा बहेलिया है, जिसने रात-भर भरतजीको आश्रमरूपी पिंजरेमें बंद कर रक्खा और इसी प्रकार सबेरा हो गया ।' चकई-चकवा रातको नहीं मिल सकते। इसी तरह विलास-सामग्री और भरतजीका (आश्रमरूपी पिंजरेमें) एक साथ रहनेपर भी मिलाप नहीं हुआ । धन्य त्यागपूर्ण भ्रातृ-प्रेम !

× × ×

रास्ता बतानेके लिये निषादको आगे करके महाराज भरतजी चित्रकूटकी ओर जा रहे हैं, मानो साक्षात् अनुराग ही शरीर धारण करके चल रहा हो । यहाँपर गोसाईंजीने बड़ा ही मनोहर वर्णन किया है । भरतजीके न तो पैरोंमें जूते हैं और न सिरपर छत्र है । वे निष्कपटभावसे प्रेमपूर्वक नियम-व्रत करते हुए जा रहे हैं । भरतजी जिस मार्गसे निकलते हैं, उसीमें मानो प्रेमका समुद्र उमड़ पड़ता है और वहाँका वातावरण इतना विशुद्ध हो जाता है कि वहाँके जड़-चेतन जीव भरतके भवरोग-नाशक दर्शन पाकर परमपदको प्राप्त हो जाते हैं । जिन रामजीका एक बार भी नाम लेनेवाला मनुष्य स्वयं तरता और दूसरोंको तारनेवाला बन जाता है, वे श्रीराम स्वयं जिन भरतजीका

मनमें सदा चिन्तन किया करते हैं, उनके दर्शनसे लोगोंका बन्धन-मुक्त हो जाना कौन बड़ी बात है ?

भरतजीके दर्शनसे भ्रातृ-प्रेमके भाव चारों ओर फैल रहे हैं, जब महाराज भरतजी श्रीराम कहकर साँस लेते हैं, तब मानो चारों ओर प्रेम उमड़ पड़ता है, उनके प्रेमपूर्ण वचन सुनकर वज्र और पत्थर-जैसे हृदयवाले भी पिघल जाते हैं, फिर साधारण मनुष्योंकी तो बात ही क्या है ?

जबहिं रामु कहि लेहिं उसासा।
उमगत पेमु मनहुँ चहु पासा॥
द्रवहिं बचन सुनि कुलिस पषाना।
पुरजन पेमु न जाइ बखाना॥

मार्गके नर-नारी भरतजीको पैदल चलते देख-देखकर नेत्रों-को सफल करते हैं और भाँति-भाँतिकी चर्चा करते हैं। वनकी नारियाँ भरतजीके शील, प्रेम और भाग्यकी सराहना करती हुई कहती हैं—

चलत पयादें खात फल पिता दीन्ह तजि राजु।
जात मनावन रघुबरहि भरत सरिस को आजु॥
भायप भगति भरत आचरनू। कहत सुनत दुख दूषन हरनू॥

'अहो ! पिताके दिये हुए राज्यको छोड़कर आज भरत फल-मूल खाते हुए पैदल ही श्रीरामको मनाने जा रहे हैं, इनके समान भाग्यवान् दूसरा कौन होगा ? भरतजीके भाईपन भक्ति और आचरणों-का गुण गाने और सुननेसे दुःख और पाप नाश हो जाते हैं।'

भरतका ऐसा प्रभाव पड़ना ही चाहिये था।

भरतजीसहित सबको शुभ शकुन होने लगे, जिससे प्रेम और भी बढ़ा, प्रेमकी विह्वलतासे पैर उलटे-सीधे पड़ रहे हैं, इतनेमें राम-सखा निषादराजने शैलशिरोमणि चित्रकूटको दूरसे दिखलाया। अहा! इसी पुण्यवान् पर्वतपर मेरे स्वामी रघुनाथजी रहते हैं, यह सोचकर भरतजी प्रणाम करने लगे और सियावर रामचन्द्रजीकी जय-ध्वनि करने लगे। उस समय भरतको जैसा प्रेम था उसका वर्णन शेषजी भी नहीं कर सकते। कविके लिये तो यह उतना ही कठिन है, जितना अहंता, ममतावाले मलिन मनुष्यके लिये ब्रह्मानन्द!

भरत पेमु तेहि समय जस तस कहि सकइ न सेषु।
कबिहि अगम जिमि ब्रह्मसुखु अह मम मलिन जनेषु॥

भरतजीने सारे समुदायसहित मन्दाकिनीमें स्नान किया और सब लोगोंको वहीं छोड़कर वे केवल शत्रुघ्न और गुहको साथ लेकर आगे चले। यहाँपर भरतजीके मनकी दशाका चित्रण श्रीगोस्वामीजीने बहुत ही सुन्दर किया है—

समुझि मातु करतब सकुचाहीं।
करत कुतरक कोटि मन माहीं॥
रामु लखनु सिय सुनि मम नाऊँ।
उठि जनि अनत जाहिं तजि ठाऊँ॥
मातु मते महुँ मानि मोहि जो कछु करहिं सो थोर।
अघ अवगुन छमि आदरहिं समुझि आपनी ओर॥

जौं परिहरहिं मलिन मनु जानी। जौं सनमानहिं सेवकु मानी॥
मोरें सरन रामहि की पनही। राम सुस्वामि दोसु सब जनही॥

धन्य भरतजी! जानते हैं कि मैं निर्दोष हूँ, परंतु ज
अयोध्याके दूत, सब नगर-निवासी, माता कौसल्या, निषाद औ
त्रिकालदर्शी भरद्वाजजीतकने एक-एक बार संदेह किया तो यहाँ भ
लक्ष्मण-सीता मुझपर संदेह न करेंगे या श्रीराम ही मुझे मन-मलि
समझकर न त्याग देंगे, इसका क्या भरोसा है? यह कौन मान सकत
है कि माताके मतके साथ मेरा मत नहीं था। जो कुछ हो, राम चाहे
त्याग दें, परंतु मैं तो उन्हींकी जूतियों की शरण पड़ा रहूँगा। माताके
नाते मैं तो दोषी हूँ ही। पर श्रीराम सुस्वामी हैं, वे अवश्य कृपा करेंगे।

फिर जब माताकी करतूत याद आ जाती है तो पैर पीछे पड़ने लग जाते हैं, अपनी भक्तिकी ओर देखकर कुछ आगे बढ़ते हैं और जब श्रीरघुनाथजीके स्वभावकी ओर वृत्ति जाती है तो मार्गमें जल्दी-जल्दी पाँव पड़ते हैं। इस समय भरतजीकी दशा वैसी ही है, जैसे जलके प्रवाहमें भँवरेकी होती है, जो कभी पीछे हटता है, कभी चक्कर खाता है और कभी फिर आगे बढ़ने लगता है। भरतके इस प्रेमको देखकर निषादराज भी तन-मनकी सुधि भूल गया।

फेरति मनहुँ मातु कृत खोरी। चलत भगति बल धीरज धोरी॥
जब समुझत रघुनाथ सुभाऊ। तब पथ परत उताइल पाऊ॥
भरत दसा तेहि अवसर कैसी। जल प्रबाहँ जल अलि गति जैसी॥
देखि भरत कर सोचु सनेहू। भा निषाद तेहि समयँ बिदेहू॥

भरत-शत्रुघ्न प्रेममें विह्वल हुए चले जा रहे हैं—

स तत्र वज्राङ्कुशवारिजाञ्चितध्वजादिचिह्नानि पदानि सर्वतः ।
ददर्श रामस्य भुवोऽतिमङ्गलान्यचेष्टयत्पादरजःसु सानुजः ॥
अहो सुधन्योऽहममूनि रामपादारविन्दाङ्कितभूतलानि ।
पश्यामि यत्पादरजो विमृग्यं ब्रह्मादिदेवैः श्रुतिभिश्च नित्यम् ॥

(अध्यात्मरा० २ । ९ । २-३)

'जहाँ श्रीरामके वज्र, अङ्कुश, ध्वजा और कमल आदि चिह्नोंसे अङ्कित शुभ चरण-चिह्न देखते हैं, वहीं दोनों भाई उस चरण-रजमें लोटने लगते हैं और कहते हैं कि अहो ! हम धन्य हैं जो श्रीरामके उन चरणोंसे चिह्नित भूमिका दर्शन कर रहे हैं, जिन चरणोंकी रज ब्रह्मादि देवता और वेद सदा खोजते रहते हैं ।'

भरतकी इस अवस्थाको देखकर पशु-पक्षी और वृक्ष भी मुग्ध हो गये । पशु-पक्षी जड़ पाषाणकी भाँति एकटकी लगाकर भरतकी ओर देखने लगे और वृक्षादि द्रवित होकर हिलने-डोलने लगे—

होत न भूतल भाउ भरत को । अचर सचर चर अचर करत को ॥

भरत-शत्रुघ्नकी यह दशा देखकर निषादराज प्रेममें तन्मय होकर रास्ता भूल गया । दो पागलोंमें तीसरा भी पागल होनेसे कैसे बचता ! तीनों ही मतवाले हो गये । देवताओंने फूल बरसाकर निषादको सावधान करते हुए रास्ता बताया । बलिहारी प्रेमकी !

× × ×

इधर लक्ष्मणजीको संदेह हुआ, उन्होंने समझा कि भरत

बुरी नीयतसे आ रहे हैं, अतः वे नीतिको भूलकर कहने ल
आज मैं उन्हें भली भाँति शिक्षा दूँगा—

राम निरादर कर फलु पाई । सोवहुँ समर सेज दोउ भाई

श्रीरामने लक्ष्मणजीकी नीयतकी प्रशंसा कर उन्हें भरतक
महत्त्व समझाया, लक्ष्मणजीका चित्त शान्त हो गया ।

भरतका जीवन बड़ा ही मार्मिक है । सर्वदा साधु और निर्दो
होते हुए भी सबके संदेहका शिकार बनना पड़ता है । भरतके
सदृश सर्वथा राज्य-लिप्सा-शून्य धर्मात्मा त्यागी महापुरुषपर इ
प्रकारके संदेहका इतिहास जगत्में कहीं नहीं मिलता । इतनेप
भी भरत सब सहते हैं, ऊबकर आत्महत्या नहीं कर लेते । शान्ति
प्रेम और सहिष्णुतासे अपनी निर्दोषताका डंका बजाकर जगत्पूज्य
बन जाते हैं ।

कुछ ही समय बाद श्रीभरतजी वहाँ आ पहुँचे और दूरसे ह
व्रतोपवासोंके कारण कृश हुए श्रीरामको तृणके आसनपर बैठे देख-
कर फूट-फूटकर रोते हुए यों कहने लगे—

यः संसदि प्रकृतिभिर्भवेद्युक्त उपासितुम् ।
वन्यैर्मृगैरुपासीनः सोऽयमास्ते ममाग्रजः ॥
वासोभिर्बहुसाहस्रैर्यो महात्मा पुरोचितः ।
मृगाजिने सोऽयमिह प्रवस्ते धर्ममाचरम् ॥
अधारयद्यो विविधाश्चित्राः सुमनसः सदा ।
सोऽयं जटाभारमिमं सहते राघवः कथम् ॥
यस्य यज्ञैर्यथादिष्टैर्युक्तो धर्मस्य सञ्चयः ।
शरीरक्लेशसम्भूतं स धर्मं परिमार्गते ॥

चन्दनेन महार्हेण यस्याङ्गमुपसेवितम् ।
मलेन तस्याङ्गमिदं कथमार्यस्य सेव्यते ॥
मन्निमित्तमिदं दुःखं प्राप्तो रामः सुखोचितः ।
धिग्जीवितं नृशंसस्य मम लोकविगर्हितम् ॥

(वा० रा० २ । ९९ । ३१—३६)

'मेरे बड़े भाई राम, जो राजदरबारमें प्रजा और मन्त्रियोंद्वारा उपासित होने योग्य हैं, वे आज इन जंगली पशुओंसे उपासित हो रहे हैं । जो महात्मा अयोध्याजीमें उत्तमोत्तम बहुमूल्य वस्त्रोंको धारण करते थे, वे आज धर्माचरणके लिये इस निर्जन वनमें केवल मृगछाला धारण किये हुए हैं । जो श्रीरघुनाथजी एक दिन अपने मस्तकपर अनेक प्रकारकी सुगन्धित पुष्पमालाएँ धारण करते थे, आज वे इस जटाभारको कैसे सह रहे हैं ? जो ऋत्विजों-द्वारा विधिपूर्वक यज्ञ कराते थे, वे आज शरीरको अत्यन्त क्लेश देते हुए धर्मका सेवन कर रहे हैं । जिनके शरीरपर सदा चन्दन लगाया जाता था, आज उनके शरीरपर मैल जमी हुई है । हाय ! निरन्तर सुख भोगनेवाले इन मेरे बड़े भाई श्रीरामजीको आज मेरे लिये ही इतना असह्य कष्ट सहन करना पड़ रहा है, मुझ क्रूरके इस लोकनिन्दित जीवनको धिक्कार है ।' यों विलाप करते और आँसुओंकी अजस्र धारा बहाते हुए भरतजी श्रीरामके समीप जा पहुँचे, परन्तु अत्यन्त दुःखके कारण उनके चरणोंतक नहीं पहुँच पाये । बीचहीमें 'हा आर्य' पुकारकर दीनकी भाँति गिर पड़े । शोकसे गला रुक गया । वे कुछ बात नहीं कह सके ।

श्रीरामने विवर्ण और दुर्बल भरतको बहुत ही कठिनतासे पहचाना और बड़े आदरके साथ जमीनसे उठाकर उनका सिर सूँघ गोदमें बैठाकर कहा—'भाई ! तुम्हारा यह वेष क्यों ? तुम राज्य त्यागकर वनमें कैसे आये ?' इसपर भरतजीने पिताकी मृत्युका संवाद सुनाया और कहा कि—'मेरी माँ कैकेयी विधवा होकर निन्दाके घोर नरकमें पड़ी है ।'

पिताका मरणसंवाद सुनते ही श्रीरामकी आँखोंमें आँसू भर आये । माताओं और गुरु वसिष्ठादि ब्राह्मणोंको प्रणाम कर तथा सबसे मिलकर श्रीरामने मन्दाकिनीपर जाकर स्नान किया, तर्पण-कर पिण्डदान दिये । उस दिन सबने उपवास किया । दूसरे दिन सब लोग एकत्र हुए, तब भरतजीने राज्याभिषेकके लिये श्रीरामसे प्रार्थना की और कहा कि—

एभिश्च सचिवैः सार्धं शिरसा याचितो मया ।
भ्रातुः शिष्यस्य दासस्य प्रसादं कर्तुमर्हसि ॥
(वा० रा० २ । १०१ । १२)

'इन सब सचिवोंके साथ मैं शिरसे प्रणाम करके याचना करता हूँ, आप मुझ भाई, शिष्य और दासके ऊपर कृपा करनेके योग्य हैं ।'

राज्यं पालय पित्र्यं ते ज्येष्ठस्त्वं मे पिता तथा ।
क्षत्रियाणामयं धर्मो यत्प्रजापरिपालनम् ॥
इष्ट्वा यज्ञैर्बहुविधैः पुत्रानुत्पाद्य तन्तवे ।
राज्ये पुत्रं समारोप्य गमिष्यसि ततो वनम् ॥

इदानीं वनवासस्य कालो नैव प्रसीद मे।
मातुर्मे दुष्कृतं किञ्चित् स्मर्तुं नार्हसि पाहि नः ॥
(अ० रा० २ । ९ । २३-२५)

'क्योंकि आप सबमें बड़े हैं, मेरे पिताजीके समान हैं, अतः आप राज्यका पालन कीजिये। प्रजा-पालन ही क्षत्रियोंका धर्म है। अनेक प्रकार यज्ञ करके एवं कुल-वृद्धिके लिये पुत्र उत्पन्न करके पुत्रको राज्यसिंहासनपर बैठानेके बाद आप वनमें पधारियेगा, यह वनवासका समय नहीं है। मुझपर कृपा कीजिये, मेरी मातासे जो कुकर्म बन गया है, उसे भूलकर मेरी रक्षा कीजिये।'

इतना कहकर भरतजी दण्डकी तरह श्रीरामके चरणोंमें गिर पड़े। श्रीरामने स्नेहसे उठाकर गोदमें बैठाया और आँखोंमें आँसू भरकर धीरेसे श्रीभरतजीसे बोले—भाई ! पिताजीने तुम्हें राज्य दिया है और मुझे वन भेजा है—

अतः पितुर्वचः कार्यमावाभ्यामतियत्नतः ॥
पितुर्वचनमुल्लङ्घ्य स्वतन्त्रो यस्तु वर्तते।
स जीवन्नेव मृतको देहान्ते निरयं व्रजेत् ॥
(अ० रा० २ । ९ । ३१-३२)

'अतएव हम दोनोंको यत्नपूर्वक पिताके वचनानुसार कार्य करना चाहिये। जो पिताके वचनोंकी अवहेलनाकर स्वतन्त्रतासे वर्तता है वह जीता ही मरेके समान है और मृत्युके बाद नरकगामी होता है। इसलिये तुम अयोध्याका राज्य करो।' भरतने कहा—'पिताजी कामुकतासे स्त्रीके वश हो रहे थे, उनका चित्त स्थिर नहीं था, वे

उन्मत्त-से थे, उन्मत्त पिताके वचनको सत्य नहीं मानना चाहिये। इसपर श्रीरामने कहा—'प्रिय भाई ! ऐसी बात मुखसे नहीं कहनी चाहिये, पिताजी न तो स्त्रीके वशमें थे, न कामुक थे और न मूर्ख थे। वे बड़े ही सत्यवादी थे और अपने पहलेके वचनोंको सत्य करनेके लिये ही उन्होंने ऐसा किया। हम रघुवंशी उनके वचनोंको कैसे असत्य कर सकते हैं ?' भरतजीने कहा—'यदि ऐसा ही है तो मैं भी आपके साथ वनमें रहकर लक्ष्मणकी भाँति आपकी सेवा करूँगा। यदि आप मेरी इस बातको भी स्वीकार न करेंगे तो मैं अनशनव्रत लेकर शरीर-त्याग कर दूँगा !' श्रीरामने उनको उलाहना देकर समझाया, परंतु जब किसी प्रकार भी भरत नहीं माने तब श्रीरामने वसिष्ठजीको इशारा किया।

> एकान्ते भरतं प्राह वसिष्ठो ज्ञानिनां वरः।
> वत्स गुह्यं शृणुष्वेदं मम वाक्यं सुनिश्चितम् ॥
> रामो नारायणः साक्षाद् ब्रह्मणा याचितः पुरा।
> रावणस्य वधार्थाय जातो दशरथात्मजः ॥
> योगमायापि सीतेति जाता जनकनन्दिनी।
> शेषोऽपि लक्ष्मणो जातो राममन्वेति सर्वदा ॥
> रावणं हन्तुकामास्ते गमिष्यन्ति न संशयः।
> तस्मात्त्यजाग्रहं तात रामस्य विनिवर्तने ॥
>
> (अध्यात्मरा० २ । ९ । ४२–४६)

'श्रीरामका इशारा पाकर गुरु वसिष्ठजीने भरतको एकान्तमें ले जाकर कहा—बेटा ! मैं तुमसे एक निश्चित गुप्त बात बतलाता हूँ।

इदानीं वनवासस्य कालो नैव प्रसीद मे।
मातुर्मे दुष्कृतं किञ्चित् स्मर्तुं नार्हसि पाहि नः ॥
(अ० रा० २। ९। २३-२५)

'क्योंकि आप सबमें बड़े हैं, मेरे पिताजीके समान हैं, अतः आप राज्यका पालन कीजिये। प्रजा-पालन ही क्षत्रियोंका धर्म है। अनेक प्रकार यज्ञ करके एवं कुल-वृद्धिके लिये पुत्र उत्पन्न करके पुत्रको राज्यसिंहासनपर बैठानेके बाद आप वनमें पधारियेगा, यह वनवासका समय नहीं है। मुझपर कृपा कीजिये, मेरी मातासे जो कुकर्म बन गया है, उसे भूलकर मेरी रक्षा कीजिये।'

इतना कहकर भरतजी दण्डकी तरह श्रीरामके चरणोंमें गिर पड़े। श्रीरामने स्नेहसे उठाकर गोदमें बैठाया और आँखोंमें आँसू भरकर धीरेसे श्रीभरतजीसे बोले—भाई! पिताजीने तुम्हें राज्य दिया है और मुझे वन भेजा है—

अतः पितुर्वचः कार्यमावाभ्यामतियत्नतः ॥
पितुर्वचनमुल्लङ्घ्य स्वतन्त्रो यस्तु वर्तते।
स जीवन्नेव मृतको देहान्ते निरयं व्रजेत् ॥
(अ० रा० २। ९। ३१-३२)

'अतएव हम दोनोंको यत्नपूर्वक पिताके वचनानुसार कार्य करना चाहिये। जो पिताके वचनोंकी अवहेलनाकर स्वतन्त्रतासे वर्तता है वह जीता ही मरेके समान है और मृत्युके बाद नरकगामी होता है। इसलिये तुम अयोध्याका राज्य करो।' भरतने कहा—'पिताजी कामुकतासे स्त्रीके वश हो रहे थे, उनका चित्त स्थिर नहीं था, वे

उन्मत्त-से थे, उन्मत्त पिताके वचनको सत्य नहीं मानना चाहिये।' इसपर श्रीरामने कहा—'प्रिय भाई! ऐसी बात मुखसे नहीं कहनी चाहिये, पिताजी न तो स्त्रीके वशमें थे, न कामुक थे और न मूर्ख थे। वे बड़े ही सत्यवादी थे और अपने पहलेके वचनोंको सत्य करनेके लिये ही उन्होंने ऐसा किया। हम रघुवंशी उनके वचनोंको कैसे असत्य कर सकते हैं?' भरतजीने कहा—'यदि ऐसा ही है तो मैं भी आपके साथ वनमें रहकर लक्ष्मणकी भाँति आपकी सेवा करूँगा। यदि आप मेरी इस बातको भी स्वीकार न करेंगे तो मैं अनशनव्रत लेकर शरीर-त्याग कर दूँगा!' श्रीरामने उनको उलाहना देकर समझाया, परंतु जब किसी प्रकार भी भरत नहीं माने तब श्रीरामने वसिष्ठजीको इशारा किया।

एकान्ते भरतं प्राह वसिष्ठो ज्ञानिनां वरः।
वत्स गुह्यं शृणुष्वेदं मम वाक्यं सुनिश्चितम्॥
रामो नारायणः साक्षाद् ब्रह्मणा याचितः पुरा।
रावणस्य वधार्थाय जातो दशरथात्मजः॥
योगमायापि सीतेति जाता जनकनन्दिनी।
शेषोऽपि लक्ष्मणो जातो राममन्वेति सर्वदा॥
रावणं हन्तुकामास्ते गमिष्यन्ति न संशयः।
तस्मात्त्यजाग्रहं तात रामस्य विनिवर्तने॥

(अध्यात्मरा० २।९।४२-४६)

'श्रीरामका इशारा पाकर गुरु वसिष्ठजीने भरतको एकान्तमें ले जाकर कहा—बेटा! मैं तुमसे एक निश्चित गुप्त बात बतलाता हूँ।

श्रीराम साक्षात् नारायण हैं, पूर्वकालमें ब्रह्माजीने इनसे रावणवधार्थ प्रार्थना की थी, तदनुसार ये दशरथजीके यहाँ अवतीर्ण हुए हैं, जनकनन्दिनी सीताजी योगमाया हैं और लक्ष्मणजी शेषजीके अवतार हैं, जो सदा रामजीके पीछे-पीछे उनकी सेवामें लगे रहते हैं। श्रीराम रावणको मारनेके लिये वनमें अवश्य जायँगे, इसलिये तुम इन्हें लौटा ले जानेका हठ छोड़ दो।'

श्रीरामका अपने प्रति असाधारण प्रेम, अपने सेवाधम और गुरुके इन गुह्य वचनोंपर खयालकर भरतजी वापस अयोध्या लौटनेको तैयार हो गये और श्रीरामकी चरणपादुकाओंको प्रणाम करके बोले कि—

चतुर्दश हि वर्षाणि जटाचीरधरो ह्यहम् ॥
फलमूलाशनो वीर भवेयं रघुनन्दन ।
तवागमनमाकाङ्क्षन्वसन्वै नगराद्बहिः ॥
तव पादुकयोर्न्यस्य राज्यतन्त्रं परन्तप ।
चतुर्दशे हि सम्पूर्णे वर्षेऽहनि रघूत्तम ॥
न द्रक्ष्यामि यदि त्वां तु प्रवेक्ष्यामि हुताशनम् ।
तथेति च प्रतिज्ञाय तं परिष्वज्य सादरम् ॥
(वा० रा० २ । ११२ । २३—२६)

'हे आर्य रघुनन्दन! मैं जटा-वल्कल धारण करूँगा, फल-मूल खाऊँगा, सारे राज-काजका भार आपकी चरण-पादुकाओंको सौंपकर आपकी राह देखता हुआ चौदह सालतक नगरके बाहर निवास करूँगा। हे परन्तप! चौदह वर्षके पूर्ण होनेपर पंद्रहवें वर्षके पहले दिन यदि आपके दर्शन न होंगे तो अग्निमें प्रवेश कर जाऊँगा।'

श्रीरामने भरतकी दृढ़ प्रतिज्ञा सुनकर अत्यन्त प्रेमसे उन्हें हृदयसे लगा लिया और ठीक अवधिपर अयोध्या लौटनेका वचन दिया। धर्मज्ञ भरतजीने श्रीरामके प्रति प्रणाम-प्रदक्षिणा करके स्वर्णजड़ित पादुकाओंको पहले मस्तकपर धारण किया और तदनन्तर उन्हें हाथीपर रखवाया! वनसे अयोध्या लौटकर नगरसे बाहर नन्दिग्राममें पहुँचकर कहा—

एतद्राज्यं मम भ्रात्रा दत्तं संन्यासमुत्तमम्।
योगक्षेमवहे चेमे पादुके हेमभूषिते॥
छत्रं धारयत क्षिप्रमार्यपादाविमौ मतौ।
आभ्यां राज्ये स्थितो धर्मः पादुकाभ्यां गुरोर्मम॥
भ्रात्रा तु मयि संन्यासो निक्षिप्तः सौहृदादयम्।
तमिमं पालयिष्यामि राघवागमनं प्रति॥
क्षिप्रं संयोजयित्वा तु राघवस्य पुनः स्वयम्।
चरणौ तौ तु रामस्य द्रक्ष्यामि सहपादुकौ॥
ततो निक्षिप्तभारोऽहं राघवेण समागतः।
निवेद्य गुरवे राज्यं भजिष्ये गुरुवर्तिताम्॥
राघवाय च संन्यासं दत्त्वेमे वरपादुके।
राज्यं चेदमयोध्यां च धूतपापो भवाम्यहम्।

(वा० रा० २। ११५। १४, १६—२०)

अहो! मेरे पूज्य भाईने यह राज्य मुझे धरोहररूप सौंपा है और इसके योगक्षेमके लिये ये स्वर्णपादुकाएँ दी हैं। ये पादुकाएँ भगवान्‌की प्रतिनिधि हैं, अतः इनपर छत्र धारण करो। मेरे गुरु श्रीरामकी इन्हीं पादुकाओंसे धर्मराज्यकी स्थापना होगी। मेरे भाईने

प्रेमके कारण मुझे यह राज्यरूप धरोहर दी है, जबतक वे लौटकर नहीं आवेंगे, तबतक मैं इनकी रक्षा और सेवा करूँगा। मेरे ज्येष्ठ बन्धु श्रीरघुनाथजी जब सकुशल यहाँ पधारेंगे, तब इन दोनों पादुकाओंको उनके चरणोंमें पहनाकर आनन्दसे दर्शन करूँगा। पादुकाओंके साथ ही यह धरोहररूप राज्य उन्हें सौंपकर राज्यभारसे छूटकर मैं निरन्तर उनकी आज्ञामें रहता हुआ उनका भजन करूँगा। इस प्रकार दोनों पादुकाएँ, राज्य और अयोध्या उन्हें पुनः सौंपकर मैं कलंक-मुक्त हो जाऊँगा।'

तदनन्तर पादुकाओंका अभिषेक किया गया, भरतजीने स्वयं छत्र-चामर धारण किये। भरतजी राज्यका समस्त शासन-सम्बन्धी कार्य पादुकाओंसे पूछकर करते थे। जो कुछ भी कार्य होता था या भेंट आती थी सो सबसे पहले पादुकाओंको निवेदन करते, पुनः उसका यथोचित प्रबन्ध करते और वह भी पादुकाओंको सुना देते थे। इस प्रकार पादुकाओंके अधीन होकर भरतजी नन्दिग्राममें नियमपूर्वक रहने लगे। उनकी 'रहनी-करनी'के सम्बन्धमें गोसाईंजी लिखते हैं—

जटाजूट सिर मुनि पट धारी।
महि खनि कुस साँथरी सँवारी॥
असन बसन बासन ब्रत नेमा।
करत कठिन रिषि धरम सप्रेमा॥
भूषन बसन भोग सुख भूरी।
तन मन बचन तजे तिन तूरी॥

अवध राजु सुर राजु सिहाई।
दसरथ धनु सुनि धनदु लजाई ॥
तेहिं पुर बसत भरत बिनु रागा।
चंचरीक जिमि चंपक बागा ॥
रमा बिलासु राम अनुरागी।
तजत बमन जिमि जन बड़भागी ॥

× × ×

देह दिनहुँ दिन दूबरि होई।
घटइ तेजु बलु मुख छबि सोई ॥
नित नव राम प्रेम पनु पीना।
बढ़त धरम दलु मनु न मलीना ॥
जिमि जलु निघटत सरद प्रकासे।
बिलसत बेतस बनज बिकासे ॥
सम दम संजम नियम उपासा।
नखत भरत हिय बिमल अकासा ॥
ध्रुव बिस्वासु अवधि राका सी।
स्वामि सुरति सुर बीथि बिकासी ॥
राम पेम बिधु अचल अदोषा।
सहित समाज सोह नित चोखा ॥
भरत रहनि समुझनि करतूती।
भगति बिरति गुन बिमल बिभूती ॥
बरनत सकल सुकबि सकुचाहीं
सेस गनेस गिरा गमु नाहीं ॥

नित पूजत प्रभु पाँवरी प्रीति न हृदयँ समाति।
मागि मागि आयसु करत राज काज बहु भाँति॥
पुलक गात हियँ सिय रघुबीरू।
जीह नामु जप लोचन नीरू॥
लखन राम सिय कानन बसहीं।
भरतु भवन बसि तप तनु कसहीं॥

भरतजीकी इस वैराग्य-त्यागमयी मञ्जुल मूर्तिका ध्यान और उनके आचरणोंका अनुकरण कर कृतार्थ हो जाइये!

इस प्रसङ्गसे हमलोगोंको यह शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये कि छोटे भाईको बड़े भाईके साथ कैसा त्याग और विनयपूर्ण वर्ताव करना चाहिये।

× × ×

रावण-वधके अनन्तर श्रीराम सीता, लक्ष्मण, मित्रों और सेवकोंसहित पुष्पक-विमानपर सवार होकर अयोध्या जा रहे हैं। उधर भरतजी महाराज अवधिके दिन गिन रहे हैं। एक दिन शेष रहा है, भरतजीकी चिन्ताका पार नहीं है—वे सोचते हैं—

कारन कवन नाथ नहिं आयउ।
जानि कुटिल किधौं मोहि बिसरायउ॥
अहह धन्य लछिमन बड़भागी।
राम पदारबिंदु अनुरागी॥
कपटी कुटिल मोहि प्रभु चीन्हा।
ताते नाथ संग नहिं लीन्हा॥

जौं करनी समुझै प्रभु मोरी।
नहिं निस्तार कलप सत कोरी॥
जन अवगुन प्रभु मान न काऊ।
दीन बंधु अति मृदुल सुभाऊ॥
मोरे जियँ भरोस दृढ़ सोई।
मिलिहहिं राम सगुन सुभ होई॥
बीतें अवधि रहहिं जौं प्राना।
अधम कवन जग मोहि समाना॥

'श्रीरघुनाथजी क्यों नहीं आये ? क्या मुझे कुटिल समझकर भुला दिया ? अहो ! धन्य है बड़भागी भैया लक्ष्मणको, जिसका रामके चरणकमलोंमें इतना अनुराग है। मुझे तो कपटी और कुटिल जानकर ही नाथने वनमें नहीं रक्खा था (असलमें कैकेयी-पुत्रके लिये यह ठीक ही है)। मेरी करनी सोचनेसे तो सौ करोड़ कल्पोंतक भी उद्धार नहीं हो सकता। परंतु भगवान्‌का स्वभाव बड़ा ही कोमल है, वे अपने जनोंका अवगुण नहीं देखते। मेरे मनमें भगवान्‌के इस विरदका दृढ़ भरोसा है। सगुन भी शुभ हो रहे हैं, इससे निश्चय होता है भगवान् कृपापूर्वक अवश्य दर्शन देंगे। परंतु यदि अवधि बीतनेपर भी ये अधम प्राण रहेंगे तो मेरे समान जगत्‌में दूसरा नीच और कौन होगा ?'

भरतकी इस व्याकुल दशाको जानकर उधर '*ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्*' (गीता ४। ११) की प्रतिज्ञाके अनुसार भगवान् भी व्याकुल हो गये, उन्होंने संदेश देनेके लिये

हनूमान्‌जीको भेज दिया। रामविरहके अथाह समुद्रमें भरतजीका मन डूब रहा था, इतनेहीमें ब्राह्मणका स्वरूप धारण कर श्रीहनूमान्‌जी मानो उद्धार करनेके लिये जहाजरूप होकर आ गये। हनूमान्‌जी रामगतप्राण, रामपरायण भरतजीकी स्थिति देखकर मुग्ध हो गये। उनके रोमाञ्च हो आया और आँखोंसे आँसू बहने लगे। भरतकी कैसी स्थिति थी?

बैठे देखि कुसासन जटा मुकुट कृस गात।
राम राम रघुपति जपत स्रवत नयन जलजात॥

हनूमान्‌ने भरतकी आँसू बहाती हुई नाम-जप-परायण ध्यानस्थ मूर्तिको देखकर परम सुखसे भरकर कानोंमें अमृत बरसानेवाली वाणीसे कहा—

जासु बिरहँ सोचहु दिन राती।
रटहु निरंतर गुन गन पाँती॥
रघुकुल तिलक सुजन सुख दाता।
आयउ कुसल देव मुनि त्राता॥
रिपु रन जीति सुजस सुर गावत।
सीता सहित अनुज प्रभु आवत॥

यह वचन सुनते ही भरतजीके सारे दुःख मिट गये। प्यासेको अमृत मिल गया। प्राणहीनमें प्राण आ गये। भरतजी हर्षोन्मत्त होकर पूछने लगे—

को तुम्ह तात कहाँ ते आए।
मोहि परम प्रिय बचन सुनाए॥

हनूमान्‌जीने कहा कि—

मारुत सुत मैं कपि हनुमाना।
नामु मोर सुनु कृपानिधाना॥
दीनबंधु रघुपति कर किंकर। × × ×

भरतजीने उठकर हनूमान्‌जीको हृदयसे लगा लिया—

सुनत भरत भेंटेउ उठि सादर॥

प्रेम हृदयमें नहीं समाता है, नेत्रोंसे प्रेमाश्रुओंकी धारा बह रही है, शरीर पुलकित हो रहा है। भरतजी कहते हैं—

कपि तव दरस सकल दुख बीते।
मिले आजु मोहि राम पिरीते॥
बार बार बूझी कुसलाता।
तो कहुँ देउँ काह सुनु भ्राता॥
यहि संदेस सरिस जग माहीं।
करि बिचारि देखेउँ कछु नाहीं॥
नाहिन तात उरिन मैं तोही।
अब प्रभु चरित सुनावहु मोही॥

हनूमान्‌जीने चरण-वन्दनकर सारी कथा सक्षेपमें सुना दी। तदनन्तर भरतजीने फिर पूछा—

कहु कपि कबहुँ कृपाल गोसाईं।
सुमिरहिं मोहि दास की नाईं॥

निज दास ज्यों रघुबंसभूषन कबहुँ मम सुमिरन कर्‌यो।
सुनि भरत बचन बिनीत अति कपि पुलकि तन चरनन्हि पर्‌यो॥
रघुबीर निज मुख जासु गुन गन कहत अग जग नाथ जो।
काहे न होइ बिनीत परम पुनीत सदगुन सिंधु सो॥

श्रीहनूमान्‌जीने गद्गद होकर कहा—

राम प्रान प्रिय नाथ तुम्ह सत्य बचन मम तात।
पुनि पुनि मिलत भरत सुनि हरष न हृदयँ समात॥

भरत और हनूमान् बार-बार गले लगकर मिलते हैं। हर्षका पार नहीं है। हनूमान्‌जी वापस लौट गये, इधर सारे रनिवास और नगरमें खबर भेजो गयी। सभी ओर हर्ष छा गया। सारा नगर सजाया गया!

भगवान्‌का विमान अयोध्यामें पहुँचा। भरतजी, शत्रुघ्नजी अगवानीके लिये सब मन्त्रियों और पुरवासियोंसहित सामने गये। विमान जमीनपर उतरा, भरतजो विमानमें जाकर श्रीरामके चरणोंमें लोट गये और आनन्दाश्रुओंसे उनके चरणोंको धोने लगे। श्रीरघुनाथजोने उन्हें उठाकर छातीसे लगा लिया। तदनन्तर भरतजी भाई लक्ष्मणजीसे मिले और उन्होंने माता सीताको प्रणाम किया। श्रीरामने भरतको गोदमें बैठाकर विमानको भरतके आश्रमकी ओर जानेकी आज्ञा दी। तदनन्तर नगरमें आकर सबसे मिले। श्रीरामने भरतको जटा अपने हाथोंसे सुलझायी। फिर तीनों भाइयोंको नहलाया। इसके बाद स्वयं जटा सुलझाकर स्नान किया

तदनन्तर भगवान् राजसिंहासनपर बैठे। तीनों भाई सेवामें लगे। समय-समयपर भरतजी अनेक सुन्दर प्रश्न करके रामसे विविध उपदेश प्राप्त करने लगे और अन्तमें श्रीरामके साथ ही परमधाम पधारे!

श्रीभरतजीका चरित्र विलक्षण और परम आदर्श है। उनका रामप्रेम अतुलनीय है, इसीसे कहा गया है कि—

भरत सरिस को राम सनेही।
जग जपु राम रामु जप जेही॥

वास्तवमें भरतजीका भ्रातृ-प्रेम जगत्के इतिहासमें एक ही है। इनका राज्य-त्याग, संयम, व्रत, नियम आदि सभी सराहनीय और अनुकरणीय है। इनके चरित्रसे स्वार्थत्याग, विनय, सहिष्णुता, गम्भीरता, सरलता, क्षमा, विराग और प्रधानतः भ्रातृभक्तिकी बड़ी ही अनुपम शिक्षा लेनी चाहिये।

श्रीलक्ष्मणका भ्रातृ-प्रेम

अहह धन्य लछिमन बड़भागी।
राम पदारबिंदु अनुरागी॥

राम-मेघके चातक लक्ष्मणजीकी महिमा अपार है। लक्ष्मणजी-का अवतार श्रीरामके चरणोंमें रहकर उनकी सेवा करनेके लिये ही हुआ था। इसीसे आज रामकी श्याम मूर्तिके साथ लक्ष्मणकी गौर मूर्ति भी स्थापित होती है और रामके साथ लक्ष्मणका नाम लिया जाता है। राम-भरत या राम-शत्रुघ्न कोई नहीं कहता,

परन्तु राम-लक्ष्मण सभी कहते हैं। श्रीलक्ष्मणजी धीर, वी तेजस्वी, ब्रह्मचर्यव्रती, इन्द्रियविजयी, पराक्रमी, सरल, सुन्द तितिक्षासम्पन्न, निर्भय, निष्कपट, त्यागी, बुद्धिमान्, पुरुषार्थ तपस्वी, सेवाधर्मी, नीतिके जाननेवाले, सत्यव्रती और रामग प्राण थे। उनका सबसे मुख्य-धर्म श्रीरामके चरणोंमें रहकर उनक अनुकरण करना था। वे श्रीरामसेवामें अपने-आपको भूल जा थे। भरतजीका विनय और मधुरतायुक्त गम्भीर प्रेम जैसे अनो है, वैसे ही श्रीलक्ष्मणजीका वीरतायुक्त सेवामूलक अनन्य प्रे भी परम आदर्श है।

लड़कपनमें साथ खेलने-खानेके उपरान्त पंद्रह वर्षकी उम्र ही लक्ष्मणजी अपने बड़े भाई श्रीरामजीके साथ विश्वामित्रके यज्ञरक्षार्थ चले जाते हैं। वहाँ सब प्रकारसे भाईकी सेवामें नियुक्त रहते हैं। इनकी सेवाके दिग्दर्शनमें जनकपुरका वह दृश्य देखना चाहिये, जहाँ रातके समय विश्वामित्रजीके साथ श्रीराम-लक्ष्मण महाराजा जनकके अतिथिरूपमें डेरेपर ठहरे हैं। गोसाईंजी उनके बर्तावका इस प्रकार वर्णन करते हैं—

सभय सप्रेम बिनीत अति सकुच सहित दोउ भाइ।
गुर पद पंकज नाइ सिर बैठे आयसु पाइ॥
निसि प्रबेस मुनि आयसु दीन्हा।
सबहीं संध्याबंदनु कीन्हा॥
कहत कथा इतिहास पुरानी।
रुचिर रजनि जुग जाम सिरानी॥

मुनिबर सयन कीन्हि तब जाई।
लगे चरन चापन दोउ भाई॥
जिन्ह के चरन सरोरुह लागी।
करत बिबिध जप जोग बिरागी॥
ते दोउ बंधु प्रेम जनु जीते।
गुर पद कमल पलोटत प्रीते॥
बार बार मुनि अग्या दीन्ही।
रघुबर जाइ सयन तब कीन्ही॥
चापत चरन लखनु उर लाएँ।
सभय सप्रेम परम सचु पाएँ॥
पुनि पुनि प्रभु कह सोवहु ताता।
पौढ़े धरि उर पद जलजाता॥
उठे लखनु निसि बिगत सुनि अरुन सिखा धुनि कान॥
गुर तें पहिलेहिं जगतपति जागे रामु सुजान॥

अहा, क्या ही सुन्दर आदर्श दृश्य है! श्रीराम-लक्ष्मण नगर देखने गये थे, वहाँ नगरवासी नर-नारी और समवयस्क तथा छोटे बालकोंके प्रेममें रम गये, परन्तु अबेर होते देख गुरु विश्वामित्रजीका डर लगा। अतएव बालकोंको समझा-बुझाकर वह मिथिला-मोहिनी जुगल-जोड़ी डेरेपर लौट आयी। आकर भय, प्रेम, विनय और संकोचके साथ गुरु-चरणोंमें प्रणामकर दोनों भाई चुपचाप खड़े रहे, जब गुरुजीने आज्ञा दी तब बैठे, फिर गुरुकी आज्ञासे ठीक समयपर सन्ध्या-वन्दन किया। तदनन्तर कथा-

पुराण होते-होते दो पहर रात बीत गयी। तब मुनि विश्वामित्रजी सोये। अब दोनों भाई उनके चरण दबाने लगे। मुनि बार-बार रोकते और सोनेके लिये कहते हैं, पर चरण दबानेके लाभको वे छोड़ना नहीं चाहते। बहुत कहने-सुननेपर श्रीराम भी लेट गये, अब लक्ष्मणजी उनके चरणोंको हृदयपर रखकर भय-प्रेमसहित चुपचाप दबाने लगे। ऐसे चुपचाप प्रेमसे दबाने लगे कि महाराज-को नींद आ जाय। श्रीरामने बार-बार कहा तब लक्ष्मणजी श्रीराम-के चरणकमलोंका हृदयमें ध्यान करते हुए सोये। प्रातःकाल मुर्गे-की ध्वनि सुनते ही सबसे पहले लक्ष्मणजी उठे, उनके बाद श्रीरामजी और तदनन्तर गुरु विश्वामित्रजी। इस आदर्श रात्रिचर्यासे ही दिनचर्याका भी अनुमान कर लीजिये। आज ऐसा दृश्य सपनेकी-सी बात हो रही है। इससे अनुमान हो सकता है कि श्रीलक्ष्मणजी रामकी किस प्रकार सेवा करते थे।

× × ×

श्रीलक्ष्मणजीकी भ्रातृ-भक्ति अतुलनीय है। वे सब कुछ सह सकते थे; परन्तु श्रीरामका अपमान, तिरस्कार और दुःख उनके लिये असह्य था। अपने लिये—अपने सुखोंके लिये उन्होंने कभी किसीपर क्रोध नहीं किया। अपने जीवनको तो सर्वथा त्यागमय और रामकी कठिन सेवामें ही लगाये रक्खा, परन्तु रामका तनिक-सा तिरस्कार भी उनको तलमला देता और वे भयानक कालनाग-की भाँति फुंकार मार उठते। फिर उनके सामने कोई भी क्यों न हो, वे किसीकी भी परवा नहीं करते।

जनकपुरके स्वयंवरमें जब शिव-धनुषको तोड़नेमें कोई भी

समर्थ नहीं हुआ, तब जनकजीको बड़ा क्लेश हुआ, उन्होंने दुःखभरे शब्दोंमें कहा—

अब जनि कोउ माखै भट मानी।
बीर बिहीन मही मैं जानी॥
तजहु आस निज निज गृह जाहू।
लिखा न बिधि बैदेहि बिबाहू॥
जौं जनतेउँ बिनु भट भुबि भाई।
तौ पनु करि होतेउँ न हँसाई॥

जनकजीकी इस वाणीको सुनकर सीताकी ओर देखकर लोग दुखी हो गये; परंतु लक्ष्मणजीके मनकी कुछ दूसरी ही अवस्था है। जब जनकके मुँहसे 'अब कोई वीरताका अभिमान न करे' ये शब्द निकले तभी वे अकुला उठे। उन्होंने सोचा कि श्रीरामकी उपस्थितिमें जनक यह क्या कह रहे हैं, परंतु रामकी आज्ञा नहीं थी, चुप रहे; लेकिन जब जनकजीने बार-बार धरणीको वीर-विहीन बतलाया तब लक्ष्मणजीकी भौंहें टेढ़ी और आँखें लाल हो गयीं, उनके होठ काँपने लगे, आखिर उनसे नहीं रहा गया, उन्होंने श्रीरामके चरणोंमें सिर नवाकर कहा—

रघुबंसिन्ह महुँ जहँ कोउ होई।
तेहिं समाज अस कहइ न कोई॥
कही जनक जसि अनुचित बानी।
बिद्यमान रघुकुल मनि जानी॥

जहाँ रघुवंशमणि श्रीरामजी बैठे हों वहाँ ऐसी अनुचित बात कौन कह सकता है ? लक्ष्मण कहते हैं कि 'हे श्रीरामजी ! यदि आपकी आज्ञा हो तो मैं स्वभावसे ही इस ब्रह्माण्डको गेंदकी तरह हाथमें उठा लूँ और—

काचे घट जिमि डारौं फोरी ।
सकउँ मेरु मूलक जिमि तोरी ॥

फिर आपके प्रतापसे इस बेचारे पुराने धनुषकी तो बात ही कौन-सी है, आज्ञा मिले तो दिखाऊँ खेल—

कमल नाल जिमि चाप चढ़ावौं ।
जोजन सत प्रमान लै धावौं ॥
तोरौं छत्रक दंड जिमि तव प्रताप बल नाथ ।
जौं न करौं प्रभुपद सपथ कर न धरौं धनु भाथ ॥

लक्ष्मणजीके इन वचनोंसे पृथ्वी काँप उठी, सारा राज-समाज डर गया, सीताजीका सकुचाया हुआ हृदय-कमल खिल उठा, जनकजी सकुचा गये, विश्वामित्रसहित सब मुनिगणों और श्रीरघुवीरजीको हर्षके मारे बारंबार रोमाञ्च होने लगा । लक्ष्मणजीने अपनी सेवा बजा दी, रामका महत्त्व लोगोंपर प्रकट हो गया । वीररसकी जीती-जागती मूर्ति देखकर लोग विमुग्ध हो गये । परंतु इस वीररसके महान् चित्रपटको श्रीरायने एक ही सैनसे पलट दिया—

सयनहिं रघुपति लखनु नेवारे ।
प्रेम समेत निकट बैठारे ॥

तदनन्तर शिवजीका धनुष गुरुकी आज्ञासे श्रीरामने भङ्ग कर दिया। परशुरामजी आये और कुपित होकर धनुष तोड़नेवालेका नाम-धाम पूछने लगे। श्रीरामने प्रकारान्तरसे धनुष तोड़ना स्वीकार किया।

नाथ संभुधनु भंजनिहारा।
होइहि केउ एक दास तुम्हारा॥

यहाँ परशुराम-लक्ष्मण-संवाद बड़ा ही रोचक है। लक्ष्मणने व्यंग-भावसे श्रीरामकी महिमा सुनायी है और श्रीरामने भाई लक्ष्मणकी उक्तियोंका प्रकारान्तरसे समर्थन किया। मानो दोनों भाई अंदरसे मिले हुए ऊपरसे दो प्रकारका वर्ताव करते हुए एक दूसरेका पक्ष समर्थन कर रहे हैं। आखिर श्रीरामके मृदु गूढ़ वचन सुनकर परशुरामजीकी आँखें खुलीं, तब उन्होंने कहा—

राम रमापति कर धनु लेहू।
खैंचहु मिटै मोर संदेहू॥

धनुष हाथमें लेते ही आप-से-आप चढ़ गया—

देत चापु आपुहिं चलि गयऊ।
परसुराम मन बिसमय भयऊ॥

भगवान्‌का प्रभाव समझ परशुरामजी गद्गद हो गये और उन्होंने श्रीराम-लक्ष्मणको प्रणाम कर अपना रास्ता लिया।

चारों भाइयोंका विवाह हुआ। सब अयोध्या लौटे। राज-परिवार सुखके समाजसे पूर्ण हो गया। माताएँ आनन्दमें भर उठीं।

तदनन्तर श्रीभरत-शत्रुघ्न ननिहाल चले गये। परंतु लक्ष्मणजी नहीं गये। उन्हें ननिहाल-ससुरालकी, नगर-अरण्यकी कुछ भी परवा नहीं, रामजी साथ चाहिये। रामके बिना लक्ष्मण नहीं रह सकते। छाया कायासे अलग हो तो लक्ष्मण रामसे अलग हों। लक्ष्मणके प्रेमका ऐसा प्रबल आकर्षण है कि श्रीराम उनके बिना अकेले न तो सो सकते हैं और न उत्तम भोजन ही कर सकते हैं—

न च तेन विना निद्रां लभते पुरुषोत्तमः।
मृष्टमन्नमुपानीतमश्नाति न हि तं विना॥
(वा० रा० १। १८। ३०-३१)

रामराज्याभिषेककी तैयारी हुई, लक्ष्मणजीके आनन्दका पार नहीं है। श्रीरामको राज्यसिंहासनपर देखनेके लिये लक्ष्मण कितने अधिक लालायित थे,, इसका पता राज्यसिंहासनके बदले वनवासकी आज्ञा होनेपर लक्ष्मणजीके भभके हुए क्रोधानलको देखनेसे ही लग जाता है। जो बात मनके जितनी अधिक प्रतिकूल होती है, उसपर उतना ही अधिक क्रोध आता है।

जब श्रीराम वनवास जाना स्वीकार करके कैकेयी और दशरथकी प्रणाम-प्रदक्षिणा कर माता कौसल्यासे आज्ञा लेनेके लिये महलसे बाहर निकले, तब लक्ष्मणजी भी क्रोधमें भरकर अश्रुपूर्ण नेत्रोंसे उनके पीछे-पीछे गये। वे हर हालतमें श्रीरामके साथ हैं।

दोनों भाई माता कौसल्याके पास पहुँचे। श्रीरामने सारी कथा

सुनायी। माताके दुःखका पार नहीं रहा, माताने रामको रोकनेकी चेष्टा की, परंतु श्रीराम न माने। श्रीरामका यह कार्य लक्ष्मणजीको नहीं रुचा, वे श्रीरामके पूर्ण अनुयायी थे; परंतु श्रीरामको अपना हक छोड़ते देखकर उनसे नहीं रहा गया। लक्ष्मणजीके चरित्रमें यह एक विशेषता है, वे जो बात अपने मनमें जँचती है, सो बड़े जोरदार शब्दोंमें रामके सामने रखते हैं, उनकी उक्तियोंका खण्डन करते हैं, कभी विह्वल होकर विलाप नहीं करते। पुरुषत्व तो उनमें टपका पड़ता है, परंतु जब श्रीरामका अन्तिम निर्णय जान लेते हैं, तब अपना सारा पक्ष सर्वथा छोड़कर रामका सर्वतोभावसे अनुगमन करने लगते हैं। दशरथजी और कैकेयीके इस आचरणसे दुखी हुई माता कौसल्याको विलाप करते देख भ्रातृ-प्रेमी लक्ष्मणजी मातासे कहने लगे—

> अनुरक्तोऽस्मि भावेन भ्रातरं देवि तत्त्वतः।
> सत्येन धनुषा चैव दत्तेनेष्टेन ते शपे॥
> दीप्तमग्निमरण्यं वा यदि रामः प्रवेक्ष्यति।
> प्रविष्टं तत्र मां देवि त्वं पूर्वमवधारय॥
> हरामि वीर्याद्दुःखं ते तमः सूर्य इवोदितः।
> देवी पश्यतु मे वीर्यं राघवश्चैव पश्यतु॥
>
> (वा० रा० २। २१। १६–१८)

'हे देवि! मैं सत्य, धनुष, दान, पुण्य और इष्टकी शपथ करके आपसे कहता हूँ कि मैं यथार्थ ही सब प्रकारसे अपने बड़े भाई श्रीरामका अनुयायी हूँ। यदि श्रीराम जलती हुई अग्निमें या घोर वनमें

प्रवेश करें तो मुझे पहले ही उनमें प्रवेश हुआ समझो। हे माता! जैसे सूर्य उदय होकर सब प्रकारके अन्धकारको हर लेता है, उसी प्रकार मैं अपने पराक्रमसे आपके दुःखको दूर करूँगा। आप और श्रीरामचन्द्र मेरा पराक्रम देखें। इन वचनोंमें भ्रातृ-प्रेम कितना छलकता है।

इसके अनन्तर वे श्रीरामसे हर तरहकी वीरोचित बातें कहने लगे—'हे आर्य! आप तुरंत राज्यपर अधिकार कर लें। मैं धनुष-बाण हाथमें लिये आपकी सेवा और रक्षाके लिये सर्वदा तैयार हूँ। मैं जब कालरूप होकर आपकी सहायता करूँगा, तब किसकी शक्ति है जो कुछ भी विघ्न कर सके? अयोध्याभरमें एक कैकेयीको छोड़-कर दूसरा कोई भी आपके विरुद्ध नहीं है, परंतु यदि सारी अयोध्या भी हो जाय तो मैं अयोध्याभरको अपने तीक्ष्ण बाणोंसे मनुष्यहीन कर डालूँगा। भरतके मामा या उनके कोई भी हितैषी मित्र पक्ष लेंगे तो उनका भी वध कर डालूँगा। कैकेयीमें आसक्त पिताजी यदि कैकेयीके उभाड़नेसे हमारे शत्रु होंगे तो उनको कैद कर लूँगा या मार डालूँगा। इसमें मुझे पाप नहीं लगेगा। अन्याय करनेवालोंको शिक्षा देना धर्म है।'

त्वया चैव मया चैव कृत्वा वैरमनुत्तमम्।
कास्य शक्तिः श्रियं दातुं भरतायारिशासन॥

(वा० रा० २।२१।१५)

'हे शत्रुसूदन! आपसे और मुझसे दुस्तर वैर करके इस पिता-की क्या शक्ति है जो भरतको राज्य दे सके?'

श्रीरामने लक्ष्मणको सान्त्वना देते हुए कहा—

तव लक्ष्मण जानामि मयि स्नेहमनुत्तमम् ।
विक्रमं चैव सत्त्वं च तेजश्च सुदुरासदम् ॥
धर्मो हि परमो लोके धर्मे सत्यं प्रतिष्ठितम् ।
धर्मसंश्रितमप्येतत्पितुर्वचनमुत्तमम् ॥
सोऽहं न शक्ष्यामि पुनर्नियोगमतिवर्तितुम् ।
पितुर्हि वचनाद्वीर कैकेय्याहं प्रचोदितः ॥
तदेतां विसृजानार्यां क्षत्रधर्माश्रितां मतिम् ।
धर्ममाश्रय मा तैक्ष्ण्यं मद्बुद्धिरनुगम्यताम् ॥

(वा० रा० २ । २१ । ३९, ४१, ४३, ४४)

'लक्ष्मण ! मैं जानता हूँ, तुम्हारा मुझमें बड़ा प्रेम है और यह भी जानता हूँ कि तुममें अपराजेय पराक्रम, तेज और सत्त्व हैं; परंतु भाई ! इस लोकमें धर्म ही सबसे श्रेष्ठ है, धर्ममें ही सत्य भरा है । पिताके वचन धर्म और सत्यसे युक्त हैं । हमें उनका पालन करना चाहिये । हे वीर ! सत्य और धर्मको श्रेष्ठ समझनेवाला मैं कैकेयीके द्वारा प्राप्त हुई पिताकी आज्ञाका उल्लङ्घन करनेमें समर्थ नहीं हूँ । तुम भी इस क्षात्रधर्मवाली उग्र वृत्तिको छोड़ दो और इस तीक्ष्णता-का त्याग कर विशुद्ध धर्मका आश्रय ले मेरे विचारका अनुसरण करो ।'

हे भाई ! तुम क्रोध और दुःखको छोड़कर धैर्य धारण कर अपमानको भूलकर हर्षित हो जाओ । पिताजी सत्यवादी और सत्य-प्रतिज्ञ हैं, वे सत्यच्युतिके भयसे परलोकसे डर रहे हैं, मेरे द्वारा सत्यका पालन होनेसे वे निर्भय हो जायँगे । मेरा अभिषेक न रोका गया तो पिताजीका सत्य जायगा, जिससे उनको बड़ा दुःख होगा और उनका

दुखी होना मेरे लिये भी बड़े ही दुःखकी बात होगी। हे भाई! मेरे वनवासमें दैव ही प्रधान कारण है, नहीं तो जो कैकेयी माता मुझपर इतना अधिक स्नेह रखती थी, वह मेरे लिये वनवासका वरदान क्यों माँगती? उसकी बुद्धि दैवने ही बिगाड़ी है। आजतक कौसल्या और कैकेयी आदि सभी माताओंने मेरे साथ एक-सा बर्ताव किया है। कैकेयी मुझे कभी कटु वचन नहीं कह सकती, यदि वह प्रबल दैवके वशमें न होती। अतएव तुम मेरी बात मानकर दुःखरहित हो अभिषेककी तैयारीको जल्दी-से-जल्दी हटवा दो।

श्रीरामके वचन सुनकर कुछ देर तो लक्ष्मणने सिर नीचा करके कुछ सोचा, परंतु पुरुषार्थकी मूर्ति लक्ष्मणको रामकी यह दलील नहीं जँची, उनकी भौंहें चढ़ गयीं, सिरमें बल पड़ गया, वे क्रोधसे भरे साँपकी तरह साँस लेने लगे और पृथ्वीपर हाथ पटककर बोले—आप ये भ्रमकी-सी बातें कैसे कह रहे हैं, आप तो महावीर हैं—

विक्लवो वीर्यहीनो यः स दैवमनुवर्तते।
वीराः सम्भावितात्मानो न दैवं पर्युपासते॥
दैवं पुरुषकारेण यः समर्थः प्रबाधितुम्।
न दैवेन विपन्नार्थः पुरुषः सोऽवसीदति॥
द्रक्ष्यन्ति त्वद्य दैवस्य पौरुषं पुरुषस्य च।
दैवमानुषयोरद्य व्यक्ताव्यक्तिर्भविष्यति॥

(वा० रा० २। २३। १७–१९)

'दैव-दैव तो वही पुकारा करते हैं जो पौरुषहीन और कायर होते हैं। जिन शूरवीरोंके पराक्रमकी जगतमें प्रसिद्धि है, वे कभी

ऐसा नहीं करते। जो पुरुष अपने पुरुषार्थसे दैवको दबा सकते हैं, उनके कार्य दैववश असफल होनेपर भी उन्हें दुःख नहीं होता। हे रघुनन्दन ! आज दैव और पुरुषार्थके पराक्रमको लोग देखेंगे, इनमें कौन बलवान् है, इस बातका आज पता लग जायगा।'

अतएव हे आर्य !--

ब्रवीहि कोऽद्यैव मया वियुज्यतां
तवासुहृत्प्राणयशः सुहृज्जनैः।
यथा तवेयं वसुधा वशा भवे-
त्तथैव मां शाधि तवास्मि किङ्करः॥
(वा० रा० २। २३। ४१)

'मुझे आज्ञा दीजिये कि मैं आपके किस शत्रुको आज प्राण, यश और मित्रोंसे अलग करूँ (मार डालूँ)। प्रभो ! मैं आपका किङ्कर हूँ, ऐसी आज्ञा दें जिससे इस सारी पृथ्वीपर आपका अधिकार हो जाय।' इतना कहकर लक्ष्मणजी राम-प्रेममें रोने लगे। भगवान् श्रीरामने अपने हाथोंसे उनके आँसू पोंछकर उन्हें बार-बार सान्त्वना देते हुए कहा कि भाई ! तुम निश्चय समझो कि माता-पिताकी आज्ञा मानना ही पुत्रका उत्तमोत्तम धर्म है, इसीलिये मैं पिताकी आज्ञा माननेको तैयार हुआ हूँ। फिर इस राज्यमें रक्खा ही क्या है, यह तो स्वप्नकी दृश्यावलिके सदृश है—

यदिदं दृश्यते सर्वं राज्यं देहादिकं च यत्।
यदि सत्यं भवेत्तत्र आयासः सफलश्च ते॥

भोगा मेघवितानस्थविद्युल्लेखेव चञ्चलाः ।
आयुरप्यग्निसन्तप्तलोहस्थजलविन्दुवत् ॥
क्रोधमूलो मनस्तापः क्रोधः संसारबन्धनम् ।
धर्मक्षयकरः क्रोधस्तस्मात्क्रोधं परित्यज ॥
तस्माच्छान्तिं भजस्वाद्य शत्रुरेवं भवेन्न ते ।
देहेन्द्रियमनःप्राणबुद्ध्यादिभ्यो विलक्षणः ॥
आत्मा शुद्धः स्वयंज्योतिरविकारी निराकृतिः ।
यावद्देहेन्द्रियप्राणैर्भिन्नत्वं नात्मनो विदुः ॥
तावत्संसारदुःखौघैः पीड्यन्ते मृत्युसंयुताः ।
तस्मात्त्वं सर्वदा भिन्नमात्मानं हृदि भावय ॥

(अ० रा० २ । ४, १९, २०, ३६, ३८-४०)

यदि यह सब राज्य और शरीरादि दृश्य पदार्थ सत्य होते तो उसमें तुम्हारा परिश्रम कुछ सफल भी हो सकता, परंतु ये इन्द्रियोंके भोग तो बादलोंके समूहमें बिजलीकी चमकके समान चञ्चल हैं और यह आयु अग्निसे तपे हुए लोहेपर जलकी बूँदके समान क्षणविनाशी है । भाई ! यह क्रोध ही मानसिक संतापकी जड़ है, क्रोधसे ही संसारका बन्धन होता है, क्रोध धर्मका नाश कर डालता है, अतएव इस क्रोधको त्यागकर शान्तिका सेवन करो, फिर संसारमें तुम्हारा कोई शत्रु नहीं है । आत्मा तो देह, इन्द्रिय, मन, प्राण, बुद्धि आदि सबसे विलक्षण ही है । वह आत्मा शुद्ध, स्वयंप्रकाश, निर्विकार और निराकार है । जबतक यह पुरुष आत्माको देह, इन्द्रिय, प्राण आदिसे अलग नहीं जानता, तबतक उसे संसारके जन्म-मृत्यु-जनित दुःख

समूहसे पीड़ित होना पड़ता है, अतएव हे लक्ष्मण ! तुम अपने हृदयमें आत्माको सदा-सर्वदा इनसे पृथक् (इनका द्रष्टा) समझो ।'

× × ×

श्रीराम वन जानेको तैयार हो गये, सीताजी भी साथ जाती हैं, अब लक्ष्मणजीका क्रोध तो शान्त है, परंतु वे श्रीरामके साथ जानेके लिये व्याकुल हैं, दौड़कर श्रीरामके चरणोंमें लोट जाते हैं और रोते हुए कहते हैं—'हे रघुनन्दन ! आपने मुझसे कहा था कि तू मेरे विचारका अनुसरण कर, फिर आज आप मुझे छोड़कर क्यों जा रहे हैं—

न देवलोकाक्रमणं नामरत्वमहं वृणे ।
ऐश्वर्यं चापि लोकानां कामये न त्वया विना ॥

(वा० रा० २ । ३१ । ५)

'हे भाई ! मैं आपको छोड़कर स्वर्ग, मोक्ष या संसारका कोई ऐश्वर्य नहीं चाहता ।' कहाँ तो लक्ष्मणकी वह तेजोमयी विकराल मूर्ति और कहाँ यह माताके सामने बच्चेकी-सी फरियाद ! यही तो लक्ष्मणके भ्रातृ-प्रेमकी विशेषता है । श्रीरामजी भाई लक्ष्मणके इस व्यवहारसे मुग्ध हो गये और उन्हें छातीसे लगाकर बोले—

स्निग्धो धर्मरतो धीरः सततं सत्पथे स्थितः ।
प्रियः प्राणसमो वश्यो विधेयश्च सखा च मे ॥

(वा० रा० २ । ३१ । १०)

'भाई ! तुम मेरे स्नेही हो, धर्मपरायण, धीर, सदा सन्मार्गमें स्थित हो, मुझे प्राणोंके समान प्रिय हो, मेरे वशवर्ती हो, मेरे आज्ञाकारी हो और मेरे मित्र हो ।' इसमें कुछ भी संदेह नहीं है, परंतु तुम्हें साथ

ले चलनेसे यहाँ दुःखी पिता और शोकपीड़िता माताओंको कौन सान्त्वना देगा ?

मातु पिता गुरु स्वामि सिख सिर धरि करहि सुभायँ।
लहेउ लाभु तिन्ह जनम कर नतरु जनमु जग जायँ॥
अस जियँ जानि सुनहु सिख भाई।
करहु मातु पितु पद सेवकाई॥
रहहु करहु सब कर परितोषू।
नतरु तात होइहि बड़ दोषू॥

बड़ी ही शुभ शिक्षा है, परंतु चातक तो मेघकी स्वातिबूँदको छोड़कर गङ्गाकी ओर भी नहीं ताकना चाहता; एकनिष्ठ लक्ष्मण एक बार तो सहम गये, प्रेमवश कुछ बोल न सके, फिर अकुलाकर चरणोंमें गिर पड़े और आँसुओंसे चरण धोते हुए बोले—

दीन्हि मोहि सिख नीकि गोसाईं।
लागि अगम अपनी कदराईं॥
नरबर धीर धरम धुर धारी।
निगम नीति कहुँ ते अधिकारी॥
मैं सिसु प्रभु सनेहँ प्रतिपाला।
मंदरु मेरु कि लेहिं मराला॥
गुर पितु मातु न जानउँ काहू।
कहउँ सुभाउ नाथ पतिआहू॥
जहँ लगि जगत सनेह सगाई।
प्रीति प्रतीति निगम निजु गाई॥

मोरें सबइ एक तुम्ह स्वामी।
दीनबंधु उर अंतरजामी॥
धरम नीति उपदेसिअ ताही।
कीरति भूति सुगति प्रिय जाही॥
मन क्रम बचन चरन रत होई।
कृपासिंधु परिहरिअ कि सोई॥

भगवान्‌ने देखा कि अब लक्ष्मण नहीं रहेंगे, तब उन्हें आज्ञा दी, अच्छा—

मागहु बिदा मातु सन जाई।
आवहु बेगि चलहु बन भाई॥

लक्ष्मण डरते-से माता सुमित्राजीके पास गये कि कहीं माता रोक न दें। परंतु वह भी लक्ष्मणकी ही माँ थीं, उन्होंने बड़े प्रेमसे कहा—

रामं दशरथं विद्धि मां विद्धि जनकात्मजाम्।
अयोध्यामटवीं विद्धि गच्छ तात यथासुखम्॥
(वा० रा० २।४०।९)

'जाओ बेटा! सुखसे वनको जाओ। श्रीरामको दशरथ, सीताको माता और वनको अयोध्या समझना।'

अवध तहाँ जहँ राम निवासू।
तहँइँ दिवसु जहँ भानु प्रकासू॥
अस जियँ जानि संग बन जाहू।
लेहु तात जग जीवन लाहू॥

पुत्रवती जुबती जग सोई।
रघुपति भगतु जासु सुतु होई॥
नतरु बाँझ भलि बादि बिआनी।
राम बिमुख सुत तें हित जानी॥
तुम्हरेहिं भाग रामु बन जाहीं।
दूसर हेतु तात कछु नाहीं॥

लक्ष्मणका मनचाहा हो गया; वे दौड़कर श्रीरामके पास पहुँच गये और सीताके साथ दोनों भाई अयोध्यावासियोंको रुलाकर वनकी ओर चल दिये।

× × ×

एक दिनकी बात है, वनमें चलते-चलते संध्या हो गयी। कभी पैदल चलनेका किसीको अभ्यास नहीं था, तीनों जने थके हुए थे, वनमें चारों ओर काले साँप घूम रहे थे। लक्ष्मणने जगह साफकर एक पेड़के नीचे कोमल पत्ते बिछा दिये। श्रीराम-सीता उसपर बैठ गये। लक्ष्मणजीने भोजनका सामान जुटाया। श्रीराम इस कष्टको देखकर स्नेहवश लक्ष्मणसे बार-बार कहने लगे कि 'भाई! तुम अयोध्या लौट जाओ, वहाँ जाकर माताओंको सान्त्वना दो। यहाँके कष्ट मुझको और सीताको ही भोगने दो।' इसके उत्तरमें लक्ष्मणने बड़े ही मार्मिक शब्द कहे—

न च सीता त्वया हीना न चाहमपि राघव।
मुहूर्तमपि जीवावो जलान्मत्स्याविवोद्धृतौ॥

न हि तातं न शत्रुघ्नं न सुमित्रां परन्तप।
द्रष्टुमिच्छेयमद्याहं स्वर्गं चापि त्वया विना॥
(वा० रा० २। ५३। ३१-३२)

'हे रघुनन्दन ! सीताजी और मैं आपसे अलग रहकर उसी तरह घड़ीभर भी नहीं जी सकते, जैसे जलसे निकालनेपर मछलियाँ नहीं जी सकतीं। हे शत्रुनाशन ! आपको छोड़कर मैं माता, पिता, भाई शत्रुघ्न और स्वर्गको भी नहीं देखना चाहता।' धन्य भ्रातृ-प्रेम!

जिस समय निषादराज गुहके यहाँ श्रीराम-सीता रातके समय लक्ष्मणजीके द्वारा तैयार की हुई घास-पत्तोंकी शय्यापर सोते हैं, उस समय श्रीलक्ष्मण कुछ दूरपर खड़े पहरा दे रहे हैं। गुह आकर कहता है 'आपको जागनेका अभ्यास नहीं है, आप सो जाइये। मैंने पहरेका सारा प्रबन्ध कर दिया है।' इस बातको सुनकर श्रीलक्ष्मणजी कहने लगे—

कथं दाशरथौ भूमौ शयाने सह सीतया।
शक्या निद्रा मया लब्धुं जीवितानि सुखानि वा॥
(वा० रा० २। ८६। १०)

'दशरथनन्दन श्रीराम सीताके साथ जमीनपर सो रहे हैं। फिर मुझे कैसे तो नींद आ सकती है और कैसे जीवन तथा सुख अच्छा लग सकता है।'

वनमें श्रीलक्ष्मणजी हर तरहसे श्रीराम-सीताकी सेवा करते हैं। चित्रकूटमें काठ और पत्ते इकट्ठे करके लक्ष्मणने ही कुदारसे मिट्टी खोदकर सुन्दर कुटिया बनायी थी। फल-मूल लाना, हवनकी सामग्री इकट्ठी करनी, सीताके गहने-कपड़ोंकी बाँसकी पेटी तथा

शस्त्रास्त्रोंको उठाकर चलना, जाड़ेकी रातमें दूरसे खेतोंमेंसे होकर पानी भरकर लाना। रास्ता पहचाननेके लिये पेड़ों-पत्थरोंपर पुराने कपड़े लपेट रखना, झाड़ू देना, चौका देना, बैठनेके लिये वेदी बनाना, जलानेके लिये काठ-ईंधन इकट्ठा करना और रातभर जागकर पहरा देते रहना—ये सारे काम लक्ष्मणजीके जिम्मे हैं और बड़े हर्षके साथ वे सब कार्य सुचारुरूपसे करते हैं।

सेवहिं लखनु करम मन बानी।
जाइ न सीलु सनेहु बखानी॥
सेवहिं लखनु सीय रघुबीरहि।
जिमि अबिबेकी पुरुष सरीरहि॥

आज्ञाकारितामें तो लक्ष्मणजी बड़े ही आदर्श हैं। कितनी भी विपरीत आज्ञा क्यों न हो, वे बिना 'किंतु-परंतु' किये चुपचाप उसे सिर चढ़ा लेते हैं, आज्ञा-पालनके कुछ दृष्टान्त देखिये—

१—वनवासके समय आपने आज्ञा मानकर लड़नेकी सारी इच्छा एकदम छोड़ दी।

२—भरतके चित्रकूट आनेके समय बड़ा गुस्सा आया, परंतु श्रीरामकी आज्ञा होते ही तथ्य समझकर शान्त हो गये।

३—खर-दूषणसे युद्ध करनेके समय श्रीरामने आज्ञा दी कि 'मैं इनके साथ युद्ध करता हूँ, तुम सीताजीको साथ ले जाकर पर्वतकी गुफामें जा बैठो।' लक्ष्मण-सरीखे तेजस्वी वीरके लिये लड़ाईके मैदानसे हटनेकी यह आज्ञा बहुत ही कड़ी थी, परन्तु उन्होंने चुपचाप इसे स्वीकार कर लिया।

४—श्रीसीताजी अशोकवाटिकासे पालकीमें आ रही थीं। श्रीरामने पैदल लानेकी विभीषणको आज्ञा दी, इससे लक्ष्मणजीको एक बार दुःख हुआ, परंतु कुछ भी नहीं बोले।

५—श्रीरामके द्वारा तिरस्कार पायी हुई सीताने जब चिता जलानेके लिये लक्ष्मणजीको आज्ञा दी, तब श्रीरामका इशारा पाकर मर्म-वेदनाके साथ इन्होंने चिता तैयार कर दी।

६—सीता-वनवासके समय श्रीरामकी आज्ञासे पत्थरका-सा कलेजा बनाकर अन्तरके दुःखसे दग्ध होते हुए भी सीताजीको वनमें छोड़ आये।

इनके जीवनमें राम-आज्ञा-भङ्गके सिर्फ दो प्रसंग आते हैं, जिनमें प्रथम तो, सीताको अकेले पर्णकुटीमें छोड़कर मायामृगको पकड़नेके लिये गये हुए श्रीरामके पास जाना और दूसरा मुनि दुर्वासाके शापसे राज्यको बचानेके लिये अपने त्यागे जानेका महान् कष्ट स्वीकार करते हुए भी दुर्वासाको श्रीरामके पास जाने देना। परंतु ये दोनों ही अवसर अपवादस्वरूप हैं।

सीताजीके कटुवचन कहनेपर लक्ष्मणने उन्हें समझाया कि माता! ये शब्द मायावी मारीचके हैं। श्रीरामको त्रिभुवनमें कोई नहीं जीत सकता, आप धैर्य रक्खें। मैं रामकी आज्ञाका उल्लङ्घन करके आपको अकेली छोड़कर नहीं जा सकता। इतनेपर भी जब उन्होंने तमककर कहा कि 'मैं समझती हूँ, तू भरतका दूत है, तेरे मनमें काम-विकार है, तू मुझे प्राप्त करना चाहता है, मैं आगमें जल मरूँगी, परंतु तेरे और भरतके हाथ नहीं आ सकती।' इस

शस्त्रास्त्रोंको उठाकर चलना, जाड़ेकी रातमें दूरसे खेतोंमेंसे हे[illegible] पानी भरकर लाना। रास्ता पहचाननेके लिये पेड़ों-पत्थरोंपर पु[illegible] कपड़े लपेट रखना, झाड़ू देना, चौका देना, बैठनेके लिये वेदी ब[illegible] जलानेके लिये काठ-ईंधन इकट्ठा करना और रातभर जाग[illegible] पहरा देते रहना—ये सारे काम लक्ष्मणजीके जिम्मे हैं और [illegible] हर्षके साथ वे सब कार्य सुचारुरूपसे करते हैं।

सेवहिं लखनु करम मन बानी।
जाइ न सीलु सनेहु बखानी॥
सेवहिं लखनु सीय रघुबीरहि।
जिमि अबिबेकी पुरुष सरीरहि॥

आज्ञाकारितामें तो लक्ष्मणजी बड़े ही आदर्श हैं। कितनी भी [illegible] विपरीत आज्ञा क्यों न हो, वे बिना 'किंतु-परंतु' किये चुपचाप उ[illegible] सिर चढ़ा लेते हैं, आज्ञा-पालनके कुछ दृष्टान्त देखिये—

१—वनवासके समय आपने आज्ञा मानकर लड़नेकी [illegible] इच्छा एकदम छोड़ दी।

२—भरतके चित्रकूट आनेके समय बड़ा गुस्सा आया, पर[illegible] श्रीरामकी आज्ञा होते ही तथ्य समझकर शान्त हो गये।

३—खर-दूषणसे युद्ध करनेके समय श्रीरामने आज्ञा दी [illegible] 'मैं इनके साथ युद्ध करता हूँ, तुम सीताजीको साथ ले जाकर प[illegible] गुफामें जा बैठो।' लक्ष्मण-सरीखे तेजस्वी वीरके लिये लड़ा[illegible] मैदानसे हटनेकी यह आज्ञा बहुत ही कड़ी थी, परन्तु उ[illegible] चुपचाप इसे स्वीकार कर लिया।

४—श्रीसीताजी अशोकवाटिकासे पाल्कीमें आ रही थीं। श्रीरामने पैदल लानेकी विभीषणको आज्ञा दी, इससे लक्ष्मणजीको एक बार दुःख हुआ, परंतु कुछ भी नहीं बोले।

५—श्रीरामके द्वारा तिरस्कार पायी हुई सीताने जब चिता जलानेके लिये लक्ष्मणजीको आज्ञा दी, तब श्रीरामका इशारा पाकर मर्म-वेदनाके साथ इन्होंने चिता तैयार कर दी।

६—सीता-वनवासके समय श्रीरामकी आज्ञासे पत्थरका-सा कलेजा बनाकर अन्तरके दुःखसे दग्ध होते हुए भी सीताजीको वनमें छोड़ आये।

इनके जीवनमें राम-आज्ञा-भङ्गके सिर्फ दो प्रसंग आते हैं, जिनमें प्रथम तो, सीताको अकेले पर्णकुटीमें छोड़कर मायामृगको पकड़नेके लिये गये हुए श्रीरामके पास जाना और दूसरा मुनि दुर्वासाके शापसे राज्यको बचानेके लिये अपने त्यागे जानेका महान् कष्ट स्वीकार करते हुए भी दुर्वासाको श्रीरामके पास जाने देना। परंतु ये दोनों ही अवसर अपवादस्वरूप हैं।

सीताजीके कटुवचन कहनेपर लक्ष्मणने उन्हें समझाया कि 'माता! ये शब्द मायावी मारीचके हैं। श्रीरामको त्रिभुवनमें कोई नहीं जीत सकता, आप धैर्य रक्खें। मैं रामकी आज्ञाका उल्लङ्घन कर आपको अकेली छोड़कर नहीं जा सकता। इतनेपर भी जब उन्होंने तमककर कहा कि 'मैं समझती हूँ, तू भरतका दूत है, तेरे मनमें काम-विकार है, तू मुझे प्राप्त करना चाहता है, मैं आगमें जल मरूँगी, परंतु तेरे और भरतके हाथ नहीं आ सकती।' इन

वचन-बाणोंसे पवित्र-हृदय जितेन्द्रिय लक्ष्मणका हृदय बिंध गया; उन्होंने कहा, 'हे माता वैदेही! आप मेरे लिये देवस्वरूप हैं, इससे मैं आपको कुछ भी कह नहीं सकता, परंतु मैं आपके शब्दोंके सहन करनेमें असमर्थ हूँ। हे वनदेवताओ! आप सब साक्षी हैं, मैं अपने बड़े भाई रामकी आज्ञामें रहता हूँ, तिसपर भी माता सीता स्त्री-स्वभावसे मुझपर संदेह करती हैं। मैं समझता हूँ कि कोई भारी संकट आनेवाला है। माता! आपका कल्याण हो, वनदेवता आपकी रक्षा करें। मैं जाता हूँ।' इस अवस्थामें लक्ष्मणका वहाँसे जाना दोषावह नहीं माना जा सकता।

दूसरे प्रसंगमें तो लक्ष्मणने कुटुम्बसहित भाईको और भाईके साम्राज्यको शापसे बचानेके लिये ही आज्ञाका त्याग किया था।

कुछ लोग कहते हैं कि श्रीलक्ष्मणजी रामसे ही प्रेम करते थे, भरतके प्रति तो उनका विद्वेष बना ही रहा, परंतु यह बात ठीक नहीं। रामकी अवज्ञा करनेवालेको अवश्य ही वे क्षमा नहीं कर सकते थे, परंतु जब उन्हें मालूम हो गया कि भरत दोषी नहीं हैं, तब लक्ष्मणके अन्तःकरणमें अपनी कृतिपर बड़ा ही पश्चात्ताप हुआ और वे भरतपर पूर्ववत् श्रद्धा तथा स्नेह करने लगे। एक समय जाड़ेकी ऋतुमें वनके अंदर शीतकी भयानकताको देखकर लक्ष्मणजी नन्दिग्रामनिवासी भरतकी चिन्ता करते हुए कहते हैं—

अस्मिंस्तु पुरुषव्याघ्र काले दुःखसमन्वितः।
तपश्चरति धर्मात्मा त्वद्भक्त्या भरतः पुरे॥

त्यक्त्वा राज्यं च मानं च भोगांश्च विविधान् बहून् ।
तपस्वी नियताहारः शेते शीते महीतले ॥
सोऽपि वेलामिमां नूनमभिषेकार्थमुद्यतः ।
वृतः प्रकृतिभिर्नित्यं प्रयाति सरयूं नदीम् ॥
अत्यन्तसुखसंवृद्धः सुकुमारो हिमार्दितः ।
कथं त्वपररात्रेषु सरयूमवगाहते ॥
पद्मपत्रेक्षणः श्यामः श्रीमान्निरुदरो महान् ।
धर्मज्ञः सत्यवादी च ह्रीनिषेवो जितेन्द्रियः ॥
प्रियाभिभाषी मधुरो दीर्घबाहुररिन्दमः ।
सन्त्यज्य विविधान्सौख्यानार्यं सर्वात्मनाश्रितः ॥
जितः स्वर्गस्तव भ्रात्रा भरतेन महात्मना ।
वनस्थमपि तापस्ये यस्त्वामनुविधीयते ॥

(वा० रा० ३ । १६ । २७—३३)

'हे पुरुषश्रेष्ठ ! ऐसे अत्यन्त शीतकालमें धर्मात्मा भरत आपके प्रेमके कारण कष्ट सहकर अयोध्यामें तप कर रहे होंगे । अहो ! नियमित आहार करनेवाले तपस्वी भरत राज्य, सम्मान और विविध प्रकारके भोग-विलासोंको त्यागकर इस शीतकालमें ठंढी जमीनपर सोते होंगे । अहो ! भरत भी इसी समय उठकर अपने साथियोंको लेकर सरयूमें नहाने जाते होंगे । अत्यन्त सुखमें पले हुए सुकुमार शरीरवाले शीतसे पीड़ित हुए भरत इतने तड़के सरयूके अत्यन्त शीतल जलमें कैसे स्नान करते होंगे ! कमलनयन श्यामसुन्दर भाई भरत सदा नीरोग, धर्मज्ञ, सत्यवादी, लज्जाशील,

जितेन्द्रिय, प्रिय और मधुर-भाषी तथा लम्बी भुजाओंवाले शत्रु-नाशन महात्मा हैं। अहा! भरतने सब प्रकारके सुखोंका त्याग कर सब प्रकारसे आपका ही आश्रय ले लिया है। हे आर्य! महात्मा भाई भरतने स्वर्गको भी जीत लिया; क्योंकि आप वनमें हैं इसलिये वे भी आपकी ही भाँति तपस्वी-धर्मका पालन कर आपका अनुसरण कर रहे हैं।

इन वचनोंको पढ़नेपर भी क्या यह कहा जा सकता है कि लक्ष्मणका भरतके प्रति प्रेम नहीं था? इनमें तो उनका प्रेम टपका पड़ता है।

× × ×

लक्ष्मणजी अपनी बुद्धिका भी कुछ घमण्ड न रखकर श्रीराम-सेवामें किस प्रकार अर्पित-प्राण थे, इस बातका पता तब लगता है कि जब पञ्चवटीमें भगवान् श्रीराम अच्छा-सा स्थान खोजकर पर्णकुटी तैयार करनेके लिये लक्ष्मणको आज्ञा देते हैं। तब सेवा-परायण लक्ष्मण हाथ जोड़कर भगवान्से कहते हैं कि हे प्रभो! मैं अपनी स्वतन्त्रतासे कुछ नहीं कर सकता।

परवानस्मि काकुत्स्थ त्वयि वर्षशतं स्थिते।
स्वयं तु रुचिरे देशे क्रियतामिति मां वद॥

(वा० रा० ३। १५। ७)

'हे काकुत्स्थ! चाहे सैकड़ों वर्ष बीत जायँ पर मैं तो आपके ही अधीन हूँ। आप ही पसंद करके उत्तम स्थान बतावें।'

इसका यह मतलब नहीं है कि लक्ष्मणजी विवेकहीन थे। वे बड़े बुद्धिमान् और विद्वान् थे एवं समय-समयपर रामकी सेवाके लिये बुद्धिका प्रयोग भी करते थे; किंतु जहाँ रामके लिये कामपर

ही पूरा संतोष होता वहाँ वे कुछ भी नहीं बोलते थे। उनमें तेज और क्रोधके भाव थे, पर वे थे सब रामके लिये ही। लक्ष्मण विलाप करना, विह्वल होना, डिगना और राम-विरोधीपर क्षमा करना नहीं जानते थे। इसीसे अन्य दृष्टिसे देखनेवाले लोग उनके चरित्रमें दोषोंकी कल्पना किया करते हैं, परंतु लक्ष्मण सर्वथा निर्दोष, राम-प्रिय, रामरहस्यके ज्ञाता और आदर्श भ्राता हैं। इनके ज्ञानका नमूना देखना हो तो गुहके साथ इन्होंने एकान्तमें जो बातें की थीं, उन्हें पढ़ देखिये। जब निषादने विषादवश कैकेयीको बुरा-भला कहा और श्रीसीतारामजीके भूमि-शयनको देखकर दुःख प्रकट किया तब लक्ष्मणजी नम्रताके साथ मधुरवाणीद्वारा उससे कहने लगे—

काहु न कोउ सुख दुख कर दाता।
निज कृत करम भोग सबु भ्राता॥
जोग बियोग भोग भल मंदा।
हित अनहित मध्यम भ्रम फंदा॥
जनमु मरनु जहँ लगि जग जालू।
संपति बिपति करमु अरु कालू॥
धरनि धामु धनु पुर परिवारू।
सरगु नरकु जहँ लगि ब्यवहारू॥
देखिअ सुनिअ गुनिअ मन माहीं।
मोह मूल परमारथु नाहीं॥
सपनें होइ भिखारि नृपु रंकु नाकपति होइ।
जागें लाभु न हानि कछु तिमि प्रपंच जियँ जोइ॥

अस बिचारि नहिं कीजिअ रोसू।
काहुहि बादि न देइअ दोसू॥
मोह निसाँ सबु सोवनिहारा।
देखिअ सपन अनेक प्रकारा॥
एहिं जग जामिनि जागहिं जोगी।
परमारथी प्रपंच बियोगी॥
जानिअ तबहिं जीव जग जागा।
जब सब बिषय बिलास बिरागा॥
होइ बिबेकु मोह भ्रम भागा।
तब रघुनाथ चरन अनुरागा॥
सखा परम परमारथु एहू।
मन क्रम बचन राम पद नेहू॥
राम ब्रह्म परमारथ रूपा।
अबिगत अलख अनादि अनूपा॥
सकल बिकार रहित गतभेदा।
कहि नित नेति निरूपहिं बेदा॥
भगत भूमि भूसुर सुरभि सुर हित लागि कृपाल।
करत चरित धरि मनुज तनु सुनत मिटहिं जग जाल॥
सखा समुझि अस परिहरि मोहू।
सिय रघुबीर चरन रत होहू॥

श्रीलक्ष्मणजीकी महिमा कौन गा सकता है? इनके समान परमार्थ और प्रेमका, बुद्धिमत्ता और सरलताका, परामर्श और

आज्ञाकारिताका, तेज और मैत्रीका विलक्षण समन्वय इन्हींके चरित्रमें है। सारा संसार श्रीरामका गुणगान करता है, श्रीराम भरतका गुण गाते हैं और भरत लक्ष्मणके भाग्यकी सराहना करते हैं। फिर हम किस गिनतीमें हैं, जो लक्ष्मणजीके गुणोंका संक्षेपमें वखान कर सकें!

श्रीशत्रुघ्नका भ्रातृ-प्रेम

रिपुसूदन पद कमल नमामी। सूर सुसील भरत अनुगामी॥

रामदासानुदास श्रीशत्रुघ्नजी भगवान् श्रीराम और भरत-लक्ष्मणके परम प्रिय और आज्ञाकारी वन्धु थे। शत्रुघ्नजी मौनकर्मी, प्रेमी, सदाचारी, मितभाषी, सत्यवादी, विषय-विरागी, सरल, तेजपूर्ण, गुरुजनोंके अनुगामी, वीर और शत्रु-तापन थे। श्रीरामायणमें इनके सम्बन्धमें विशेष विवरण नहीं मिलता; परंतु जो कुछ मिलता है, उसीसे इनकी महत्ताका अनुमान हो जाता है। जैसे श्रीलक्ष्मणजी भगवान् श्रीरामके चिर-संगी थे, इसी प्रकार लक्ष्मणानुज शत्रुघ्नजी श्रीभरतजीकी सेवामें नियुक्त रहते थे। भरतजीके साथ ही आप उनके ननिहाल गये थे और पिताकी मृत्युपर साथ ही लौटे थे। अयोध्या पहुँचनेपर कैकेयीके द्वारा पितामरण और राम-सीता-लक्ष्मणके वनवासका समाचार सुनकर इनको भी वड़ा भारी दुःख हुआ। भाई लक्ष्मणके शौर्यसे आप परिचित थे, अतएव इन्होंने शोकपूर्ण हृदयसे बड़े आश्चर्यके साथ भरतजीसे कहा—

गतिर्यः सर्वभूतानां दुःखे किं पुनरात्मनः।
स रामः सत्त्वसम्पन्नः स्त्रिया प्रव्राजितो वनम्॥

बलवान्वीर्यसम्पन्नो लक्ष्मणो नाम योऽप्यसौ।
किं न मोचयते रामं कृत्वापि पितृनिग्रहम् ॥
(वा० रा० २।७८।२-३)

'श्रीराम' जो दुःखके समय सब भूतप्राणियोंके आश्रय हैं, फिर हमलोगोंके आश्रय हैं इसमें तो कहना ही क्या, ऐसे महाबलवान् राम एक स्त्री (कैकेयी) की प्रेरणासे ही वनमें चले गये। अहो ! श्रीलक्ष्मण तो बलवान् और महापराक्रमी थे, उन्होंने पिताको डाँटकर रामको वन जानेसे क्यों नहीं रोका ?' इस समय शत्रुघ्नजी दुःख और कोपसे भरे थे, इतनेमें रामविरहसे दुःखी एक द्वारपालने आकर कहा कि 'हे राजकुमार ! जिसके षड्यन्त्रसे श्रीरामको वन जाना पड़ा और महाराजकी मृत्यु हुई, वह क्रूरा पापिनी कुब्जा वस्त्राभूषणोंसे सजी हुई खड़ी है, आप उचित समझें तो उसे कुछ शिक्षा दें।' कुब्जा भरतजीसे इनाम लेने आ रही थी और उसे दरवाजेपर देखते ही द्वारपालने अंदर आकर शत्रुघ्नसे ऐसा कह दिया था। शत्रुघ्नको बड़ा गुस्सा आया, उन्होंने कुब्जाकी चोटी पकड़कर उसे घसीटा, उसने जोरसे चीख मारी। यह दशा देखकर कुब्जाकी अन्य सखियाँ तो दौड़कर श्रीकौसल्याजीके पास चली गयीं, उन्होंने कहा कि अब मधुरभाषिणी, दयामयी कौसल्याकी शरण गये बिना शत्रुघ्न हमलोगोंको भी नहीं छोड़ेंगे। कैकेयी छुड़ाने आयी तो उनको भी फटकार दिया। आखिर भरतने आकर शत्रुघ्नसे कहा—भाई ! स्त्री-जाति अवध्य है, नहीं तो मैं ही कैकेयीको मार डालता—

इमामपि हतां कुब्जां यदि जानाति राघवः।
त्वां च मां चैव धर्मात्मा नाभिभाषिष्यते ध्रुवम्॥
(वा० रा० २। ७८। २३)

'भाई! यह कुब्जा भी यदि तुम्हारे हाथसे मारी जायगी तो धर्मात्मा श्रीराम इस बातको जानकर निश्चय ही तुमसे और मुझसे बोलना छोड़ देंगे।' भरतजीके वचन सुनकर शत्रुघ्नजीने उसको छोड़ दिया। यहाँ यह पता लगता है कि प्रथम तो रामकी धर्म-नीतिमें स्त्री-जातिका कितना आदर था, स्त्री अवध्य समझी जाती थी। दूसरे शोकाकुल भरतने इस अवस्थामें भी भाई शत्रुघ्नको भ्रातृ-प्रेमके कारण रामकी राजनीति बतलाकर अधर्मसे रोका और तीसरे, रोषमें भरे हुए शत्रुघ्नने भी तुरंत भाईकी बात मान ली। इससे हमलोगोंको यथायोग्य शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये। जो लोग यह आक्षेप किया करते हैं कि प्राचीन कालमें भारतीय पुरुष स्त्रियोंको बहुत तुच्छ बुद्धिसे देखते थे, उनको इस प्रसंगसे शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये।

× × ×

इसके अनन्तर शत्रुघ्न भी भरतके साथ श्रीरामको लौटाने वनमें जाते हैं और वहाँ भरतकी आज्ञासे रामकी कुटिया ढूँढ़ते हैं। जब भरत दूरसे श्रीरामको देखकर दौड़ते हैं, तब श्रीरामदर्शनोत्सुक शत्रुघ्न भी पीछे-पीछे दौड़े जाते हैं और—

शत्रुघ्नश्चापि रामस्य ववन्दे चरणौ रुदन्।
तावुभौ च समालिङ्ग्य रामोऽप्यश्रूण्यवर्तयत्॥
(वा० रा० २। ९९। ४०)

'वे भी रोते हुए श्रीरामके चरणोंमें प्रणाम करते हैं, श्रीराम भी दोनों भाइयोंको छातीसे लगाकर रोने लगते हैं।' इसी प्रकार लक्ष्मणजी अपने छोटे भाई शत्रुघ्नसे भी मिलते हैं—

भेंटेउ लखन ललकि लघु भाई।

इसके बाद श्रीराम-भरतके संवादमें लक्ष्मण-शत्रुघ्नका बीचमें बोलनेका कोई काम नहीं था। दोनोंके अपने-अपने नेता बड़े भाई मौजूद थे। शत्रुघ्नने तो भरतको अपना जीवन सौंप ही दिया था। इसीसे भरत कह रहे थे कि—

सानुज पठइअ मोहि बन कीजिअ सबहि सनाथ।

शत्रुघ्नकी सम्मति न होती या शत्रुघ्नके भ्रातृ-प्रेमपर भरोसा न होता तो भरत ऐसा क्यों कह सकते?

पादुका लेकर लौटनेके समय श्रीरामसे दोनों भाई पुनः गले लगाकर मिलते हैं। रामकी प्रदक्षिणा करते हैं। लक्ष्मणकी भाँति शत्रुघ्न भी कुछ तेज थे, कैकेयीके प्रति उनके मनमें रोष था, श्रीराम इस बातको समझते थे, इससे वनसे विदा होते समय श्रीरामने शत्रुघ्नको वात्सल्यताके कारण शिक्षा देते हुए कहा—

मातरं रक्ष कैकेयीं मा रोषं कुरु तां प्रति॥
मया च सीतया चैव शप्तोऽसि रघुनन्दन।

(वा० रा० २। ११२। २७-२८)

'हे भाई! तुम्हें मेरी और सीताकी शपथ है, तुम माता कैकेयी-के प्रति कुछ भी क्रोध न करके उनकी रक्षा करते रहना।' इतना

कहनेपर उनकी आँखें प्रेमाश्रुओंसे भर गयीं ! इससे पता लगता है कि श्रीराम-शत्रुघ्नमें परस्पर कितना प्रेम था !

इसके बाद शत्रुघ्नजी भरतजीके साथ अयोध्या लौटकर उनके आज्ञानुसार राज और परिवारकी सेवामें रहते हैं तथा श्रीरामके अयोध्या लौट आनेपर प्रेमपूर्वक उनसे मिलते हैं—

पुनि प्रभु हरषि सत्रुहन भेंटे हृदयँ लगाइ ।

तदनन्तर उनकी सेवामें लग जाते हैं । श्रीरामका राज्याभिषेक होता है और रामराज्यमें सबका जीवन सुख और धर्ममय बीतता है ।

एक समय ऋषियोंने आकर श्रीरामसे कहा कि 'लवणासुर नामक राक्षस बड़ा उपद्रव कर रहा है, वह प्राणिमात्रको—खास करके तपस्वियोंको पकड़कर खा जाता है । हम सब बड़े ही दुखी हैं ।' श्रीरामने उनसे कहा कि—'आप भय न करें, मैं उस राक्षसको मारनेका प्रबन्ध करता हूँ ।' तदनन्तर श्रीरामने अपने भाइयोंसे पूछा कि 'लवणासुरको मारने कौन जाता है ?' भरतजीने कहा, 'महाराज ! आपकी आज्ञा होगी तो मैं चला जाऊँगा ।' इस-पर लक्ष्मणानुज शत्रुघ्नजीने नम्रतासे कहा—'हे रघुनाथजी ! आप जब वनमें थे, तब महात्मा भरतजीने बड़े-बड़े दुःख सहकर राज्यका पालन किया था, ये नगरसे बाहर नन्दिग्राममें रहते थे, कुशपर सोते थे, फल-मूल खाते थे और जटा-वल्कल धारण करते थे । अब मैं दास जब सेवामें उपस्थित हूँ, तब इन्हें न भेजकर मुझे ही भेजना चाहिये । भगवान् श्रीरामने कहा—'अच्छी बात है, तुम्हारी इच्छा है तो ऐसा ही करो, मैं तुम्हारा मधुदैत्यके सुन्दर नगरका राज्या-

भिषेक करूँगा, तुम शूरवीर हो, नगर बसा सकते हो, मधु राक्षसके पुत्र लवणासुरको मारकर धर्मबुद्धिसे वहाँका राज्य करो। मैंने जो कुछ कहा है, इसके बदलेमें कुछ भी न कहना, क्योंकि बड़ोंकी आज्ञा बालकोंको माननी चाहिये। गुरु वसिष्ठ तुम्हारा विधिवत् अभिषेक करेंगे, अतएव मेरी आज्ञासे तुम उसे स्वीकार करो।' श्रीरामने अपने मुँहसे बड़ोंकी आज्ञाका महत्त्व इसीलिये बतलाया कि वे शत्रुघ्नकी त्यागवृत्तिको जानते थे। श्रीराम ऐसा न कहते तो वे सहजमें राज्य स्वीकार न करते। इस बातका पता उनके उत्तरसे लगता है। शत्रुघ्नजी बोले—

हे नरेश्वर! बड़े भाईकी उपस्थितिमें छोटेका राज्याभिषेक होना मैं अधर्म समझता हूँ! इधर आपकी आज्ञाका पालन भी अवश्य करना चाहिये। आपके द्वारा ही मैंने यह धर्म सुना है। श्रीभरत-जीके बीचमें मुझको कुछ भी नहीं बोलना चाहिये था——

व्याहृतं दुर्वचो घोरं हन्तास्मि लवणं मृधे।
तस्यैवं मे दुरुक्तस्य दुर्गतिः पुरुषर्षभ॥
उत्तरं न हि वक्तव्यं ज्येष्ठेनाभिहिते पुनः।
अधर्मसहितं चैव परलोकविवर्जितम्॥

(वा० रा० ७।६३।५-६)

'हे पुरुषश्रेष्ठ! दुष्ट लवणासुरको मैं रणमें मारूँगा' मैंने ये दुर्वचन कहे, इस अनधिकार बोलनेके कारण ही मेरी यह दुर्गति हुई। बड़ोंकी आज्ञा होनेपर तो प्रति-उत्तर भी नहीं करना चाहिये। ऐसा करना अधर्मयुक्त और परलोकका नाश करनेवाला है।' धन्य शत्रुघ्नजी, आप राज्य-प्राप्तिको 'दुर्गति' समझते हैं। कैसा आदर्श

त्याग है ! आप फिर कहते हैं कि 'हे काकुत्स्थ ! एक दण्ड तो मुझे मिल गया, अब आपके वचनोंपर कुछ बोलूँ तो कहीं दूसरा दण्ड न मिल जाय, अतएव मैं कुछ भी नहीं कहता । आपके इच्छानुसार करनेको तैयार हूँ ।'

भगवान्‌की आज्ञासे शत्रुघ्नका राज्याभिषेक हो गया, तदनन्तर उन्होंने लवणासुरपर चढ़ाई की, श्रीरामने चार हजार घोड़े, दो हजार रथ, एक सौ उत्तम हाथी, क्रय-विक्रय करनेवाले व्यापारी, खर्चके लिये एक लाख स्वर्णमुद्राएँ साथ दीं और भाँति-भाँतिके सदुपदेश देकर शत्रुघ्नको विदा किया । इससे पता लगता है कि शत्रुघ्नजी श्रीरामको कितने प्यारे थे ।

रास्तेमें ऋषियोंके आश्रमोंमें ठहरते हुए वे जाने लगे । वाल्मीकिजीके आश्रममें भी एक रात ठहरे, उसी रातको सीताजीके लव-कुशका जन्म हुआ था । अतः वह रात शत्रुघ्नजीके लिये बड़े आनन्दकी रही । शत्रुघ्नजीने मधुपुर जाकर लवणासुरका वध किया । देवता और ऋषियोंने आशीर्वाद दिये । तदनन्तर बारह सालतक मधुपुरीमें रहकर शत्रुघ्नजी वापस श्रीरामदर्शनार्थ लौटे । रास्तेमें फिर वाल्मीकिजीके आश्रममें ठहरे । अब लव-कुश बारह वर्षके हो गये थे । मुनिने उनको रामायणका गान सिखला दिया था, अतएव मुनिकी आज्ञासे लव-कुशने शत्रुघ्नजीको रामायणका मनोहर और करुणोत्पादक गान सुनाया । राम-महिमाका गान सुनकर शत्रुघ्न मुग्ध हो गये—

श्रुत्वा पुरुषशार्दूलो विसंज्ञो बाष्पलोचनः।
स मुहूर्तमिवासंज्ञो विनिःश्वस्य मुहुर्मुहुः॥

(वा० रा० ७ । ७१ । १७)

'उस गानको सुनकर पुरुषसिंह शत्रुघ्नकी आँखोंसे आँसुओंकी धारा बह चली और वे बेहोश हो गये। उस बेहोशीमें दो घड़ीतक उनके जोर-जोरसे साँस चलते रहे।' धन्य है!

इसके अनन्तर उन्होंने अयोध्या पहुँचकर श्रीरामसहित सब भाइयोंके दर्शन किये। फिर कुछ दिनों बाद मधुपुरी लौट गये।

× × ×

परम धामके प्रयाणका समय आया, इन्द्रियविजयी शत्रुघ्नको पता लगते ही वह अपने पुत्रोंको राज्य सौंपकर दौड़े हुए श्रीरामके पास आये और चरणोंमें प्रणाम कर गद्गदकण्ठसे कहने लगे—

कृत्वाभिषेकं सुतयोर्द्वयो राघवनन्दन।
तवानुगमने राजन् विद्धि मां कृतनिश्चयम्॥
न चान्यदद्य वक्तव्यमतो वीर न शासनम्।
विहन्यमानमिच्छामि मद्विधेन विशेषतः॥

(वा० रा० ७ । १०८ । १४-१५)

'हे रघुनन्दन! हे राजन्! आप ऐसे समझें कि मैं अपने दोनों पुत्रोंको राज्य सौंपकर आपके साथ जानेका निश्चय करके आया हूँ। हे वीर! आज आप कृपाकर न तो दूसरी बात कहें और न दूसरी आज्ञा ही दें, यह मैं इसलिये कह रहा हूँ कि खास तौरपर मुझ जैसे पुरुषद्वारा आपकी आज्ञाका उल्लङ्घन होना

नहीं चाहिये। मतलब यह कि आप कहीं साथ छोड़कर यहाँ रहनेकी आज्ञा न दे दें, जिससे मुझे आपकी आज्ञा भङ्ग करनी पड़े, जो मैंने आजतक नहीं की। धन्य है भ्रातृ-प्रेम !

भगवान्‌ने प्रार्थना स्वीकार की और सबने मिलकर श्रीरामके साथ रामधामका प्रयाण किया।

उपसंहार

यह रामायणके चारों पूज्य पुरुषोंके आदर्श भ्रातृ-प्रेमका किंचित् दिग्दर्शन है। यह लेख विशेषरूपसे भ्रातृ-प्रेमपर ही लिखा गया है। अन्य वर्णन तो प्रसङ्गवश आ गये हैं, अतएव दूसरे उपदेशप्रद आदर्श विषयोंकी यथोचित चर्चा नहीं हो सकी है। इस लेखमें अधिकांश भाग वाल्मीकि, अध्यात्म और रामचरितमानसके आधारपर लिखा गया है।

वास्तवमें श्रीराम और उनके बन्धुओंके अगाध चरितको थाह कौन पा सकता है ? मैंने तो अपने विनोदके लिये यह चेष्टा की है, त्रुटियोंके लिये विज्ञजन क्षमा करें। श्रीराम और उनके प्रिय बन्धुओंके विमल और आदर्श चरितसे हमलोगोंको पूरा लाभ उठाना चाहिये। साक्षात् सच्चिदानन्दघन भगवान् होनेपर भी उन्होंने जीवनमें मनुष्योंकी भाँति लीलाएँ की हैं, जिनको आदर्श मानकर हम काममें ला सकते हैं।

कुछ लोग कहा करते हैं कि श्रीराम जब साक्षात् भगवान् थे तब उन्हें अवतार धारण करनेकी क्या आवश्यकता थी, वे अपनी शक्तिसे यों ही सब कुछ कर सकते थे। इसमें को[illegible]

संदेह नहीं कि भगवान् सभी कुछ कर सकते हैं, करते हैं। उनके लिये कुछ भी असम्भव नहीं है, परंतु उन्होंने अवतार धारणकर ये आदर्श लीलाएँ इसीलिये की हैं कि हमलोग उनका गुणानुवाद गाकर और अनुकरण कर कृतार्थ हों। यदि वे अवतार धारण कर हमलोगोंकी शिक्षाके लिये ये लीलाएँ न करते तो हमलोगोंको आदर्श शिक्षा कहाँसे और कैसे मिलती? अब हमलोगोंका यही कर्तव्य है कि उनकी लीलाओंका श्रवण, मनन और अनुकरण कर उनके सच्चे भक्त बनें! लेख बहुत बड़ा हो गया है इसलिये यहीं समाप्त किया जाता है।

श्रीसीताके चरित्रसे आदर्श शिक्षा

यह कहना अत्युक्ति नहीं होगा कि अखिल विश्वके स्त्री-चरित्रोंमें श्रीरामप्रिया जगज्जननी जानकीजीका चरित्र सबसे उत्कृष्ट है। रामायणके समस्त स्त्री-चरित्रोंमें तो सीताजीका चरित्र सर्वोत्तम, सर्वथा आदर्श और पद-पदपर अनुकरण करनेयोग्य है ही। भारत-ललनाओंके लिये सीताजीका चरित्र सन्मार्गपर चलनेके लिये पूर्ण मार्गदर्शक है। सीताजीके असाधारण पातिव्रत्य, त्याग, शील, अभय, शान्ति, क्षमा, सहनशीलता, धर्मपरायणता, नम्रता, सेवा, संयम, सत्-व्यवहार, साहस, शौर्य आदि गुण एक साथ जगत्की विरली ही महिलामें मिल सकते हैं। श्रीसीताके पवित्र जीवन और अप्रतिम पातिव्रत्यधर्मके सदृश उदाहरण रामायणमें तो क्या जगत्के किसी भी इतिहासमें मिलने कठिन हैं। आरम्भसे लेकर अन्ततक सीताके जीवनकी सभी बातें—

केवल एक प्रसंगको छोड़कर—पवित्र और आदर्श हैं। ऐसी कोई बात नहीं है, जिससे हमारी माँ-बहिनोंको सत्-शिक्षा न मिले। संसारमें अबतक जितनी स्त्रियाँ हो चुकी हैं, श्रीसीताको पातिव्रत्य-धर्ममें सर्वशिरोमणि कहा जा सकता है। किसी भी ऊँची-से-ऊँची स्त्रीके चरित्रकी सूक्ष्म आलोचना करनेसे ऐसी एक-न-एक बात मिल ही सकती है जो अनुकरणके योग्य न हो, परंतु सीताका ऐसा कोई भी आचरण नहीं मिलता।

जिस एक प्रसंगको सीताके जीवनमें दोषयुक्त समझा जाता है, वह है मायामृगको पकड़नेके लिये श्रीरामके चले जाने और मारीचके मरते समय 'हा सीते! हा लक्ष्मण!' की पुकार करनेपर सीताजीका घबड़ाकर लक्ष्मणके प्रति यह कहना कि 'मैं समझती हूँ कि तू मुझे पानेके लिये अपने बड़े भाईकी मृत्यु देखना चाहता है। मेरे लोभसे ही तू अपने भाईकी रक्षा करनेको नहीं जाता।' इस बर्तावके लिये सीताने आगे चलकर बहुत पश्चात्ताप किया। साधारण स्त्री-चरित्रमें सीताजीका यह बर्ताव कोई विशेष दोषयुक्त नहीं है। स्वामीको संकटमें पड़े हुए समझकर आतुरता और प्रेम-की बाहुल्यतासे सीताजी यहाँपर नीतिका उल्लङ्घन कर गयी थीं। श्रीराम-सीताका अवतार मर्यादाकी रक्षाके लिये था, इसीसे सीताजीकी यह एक गलती समझी गयी और इसीलिये सीताजीने पश्चात्ताप किया था।

नैहरमें प्रेम-व्यवहार

जनकपुरमें पिताके घर सीताजीका सबके साथ बड़े प्रेमका बर्ताव था। छोटे-बड़े सभी स्त्री-पुरुष सीताजीको हृदयसे चाहते थे। सीताजी आरम्भसे ही सलज्जा थीं। लज्जा ही स्त्रियोंका भूषण है। वे प्रतिदिन माता-पिताके

चरणोंमें प्रणाम किया करती थीं। घरके नौकर-चाकरतक उनके व्यवहारसे परम प्रसन्न थे। सीताजीके प्रेमके बर्तावका कुछ दिग्दर्शन उस समयके वर्णनसे मिलता है, जिस समय वे ससुरालके लिये विदा हो रही हैं—

पुनि धीरजु धरि कुअँरि हँकारीं। बार बार भेटहिं महतारीं॥
पहुँचावहिं फिरि मिलहिं बहोरी। बढ़ी परस्पर प्रीति न थोरी॥
पुनि पुनि मिलति सखिन्ह बिलगाई। बाल बच्छ जिमि धेनु लवाई॥

प्रेम बिबस नर नारि सब सखिन्ह सहित रनिवासु।
मानहुँ कीन्ह बिदेहपुर करुनाँ बिरहँ निवासु॥

सुक सारिका जानकी ज्याए। कनक पिंजरन्हि राखि पढ़ाए॥
ब्याकुल कहहिं कहाँ बैदेही। सुनि धीरजु परिहरइ न केही॥
भए बिकल खग मृग एहि भाँती। मनुज दसा कैसें कहि जाती॥
बंधु समेत जनकु तब आए। प्रेम उमगि लोचन जल छाए॥
सीय बिलोकि धीरता भागी। रहे कहावत परम बिरागी॥
लीन्हि रायँ उर लाइ जानकी। मिटी महामरजाद ग्यान की॥

जहाँ ज्ञानियोंके आचार्य जनकके ज्ञानकी मर्यादा मिट जाती है और पिंजरेके पखेरू तथा पशु-पक्षी भी 'सीता! सीता!!' पुकारकर व्याकुल हो उठते हैं, वहाँ कितना प्रेम है, इस बातका अनुमान पाठक कर लें! सीताके इस चरित्रसे स्त्रियोंको यह शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये कि स्त्रीको नैहरमें छोटे-बड़े सभीके साथ ऐसा बर्ताव करना उचित है जो सभीको प्रिय हो।

सीता अपने माता-पिताकी आज्ञा-पालन करनेमें कभी नहीं चूकती थी। माता-पितासे उसे जो कुछ शिक्षा मिलती, उसपर वह बड़ा अमल करती थी। मिथिलासे विदा होते समय और चित्रकूटमें सीताजीको माता-पितासे जो कुछ शिक्षा मिली है, वह स्त्रीमात्रके लिये पालनीय है—

माता-पिताका आज्ञा-पालन

होएहु संतत पियहि पिआरी। चिरु अहिवात असीस हमारी॥
सासु ससुर गुरु सेवा करेहू। पति रुख लखि आयसु अनुसरेहू॥

श्रीरामको राज्याभिषेकके बदले यकायक वनवास हो गया। सीताजीने यह समाचार सुनते ही तुरंत अपना कर्तव्य निश्चय कर लिया। नैहर-ससुराल, गहने-कपड़े, राज्य-परिवार, महल-बाग, दास-दासी और भोग-राग आदिसे कुछ मतलब नहीं। छायाकी तरह पतिके साथ रहना ही पत्नीका एकमात्र कर्तव्य है। इस निश्चयपर आकर सीताने श्रीरामके साथ वनगमनके लिये जैसा कुछ व्यवहार किया है, वह परम उज्ज्वल और अनुकरणीय है। श्रीसीताजीने प्रेमपूर्ण विनय और हठसे वनगमनके लिये पूरी कोशिश की। साम, दाम, नीति—सभी वैध उपायोंका अवलम्बन किया और अन्तमें वह अपने प्रयत्नमें सफल हुई। उसका ध्येय था किसी भी उपायसे वनमें पतिके साथ रहकर पतिकी सेवा करना। इसीको वह परम धर्म समझती थी। इसीमें उसे परम आनन्दकी प्राप्ति होती थी। वह कहती है—

पतिसेवाके लिये प्रेमाग्रह

मातु पिता भगिनी प्रिय भाई। प्रिय परिवार सुहृद समुदाई॥
सास ससुर गुर सजन सहाई। सुत सुंदर सुसील सुखदाई॥

जहँ लगि नाथ नेह अरु नाते। पिय बिनु तियहि तरनिहु ते ताते॥
तनु धनु धामु धरनि पुर राजू। पति बिहीन सबु सोक समाजू॥
भोग रोग सम भूषन भारू। जम जातना सरिस संसारू॥

वनके नाना क्लेशों और कुटुम्बके साथ रहनेके नाना प्रलोभनोंको सुनकर भी सीता अपने निश्चयपर अडिग रहती है। वह पति-सेवाके सामने सब कुछ तुच्छ समझती है।

नाथ सकल सुख साथ तुम्हारें। सरद बिमल बिधु बदनु निहारें॥

यहाँपर यह सिद्ध होता है कि सीताजीने एक बार प्राप्त हुई पति-आज्ञाको बदलाकर दूसरी बार अपने मनोऽनुकूल आज्ञा प्राप्त करनेके लिये प्रेमाग्रह किया। यहाँतक कि, जब भगवान् श्रीराम किसी प्रकार भी नहीं माने तो हृदय विदीर्ण हो जानेतकका संकेत कर दिया—

ऐसेउ बचन कठोर सुनि जौं न हृदउ बिलगान।
तौ प्रभु बिषम बियोग दुख सहिहहिं पावँर प्रान॥

अध्यात्मरामायणके अनुसार तो श्रीसीताने यहाँतक स्पष्ट कह दिया कि—

रामायणानि बहुशः श्रुतानि बहुभिर्द्विजैः॥
सीतां विना वनं रामो गतः किं कुत्रचिद्वद।
अतस्त्वया गमिष्यामि सर्वथा त्वत्सहायिनी॥
यदि गच्छसि मां त्यक्त्वा प्राणांस्त्यक्ष्यामि तेऽग्रतः।
(२।४।७७-७९)

'मैंने भी ब्राह्मणोंके द्वारा रामायणकी अनेक कथाएँ सुनी हैं। कहीं भी ऐसा कहा गया हो तो बतलाइये कि किसी भी रामावतारमें

श्रीराम सीताको अयोध्यामें छोड़कर वन गये हैं। इस बार ही यह नयी बात क्यों होती है ? मैं आपकी सेविका बनकर साथ चलूँगी। यदि किसी तरह भी आप मुझे नहीं ले चलेंगे तो मैं आपके सामने ही प्राण त्याग दूँगी। पतिसेवाकी कामनासे सीताने इस प्रकार स्पष्टरूपसे अवतार विषयक अपनी बड़ाईके शब्द भी कह डाले।

वाल्मीकिरामायणके अनुसार सीताजीके अनेक रोने-गिड़गिड़ाने, विविध प्रार्थना करने और प्राणत्यागपूर्वक परलोकमें पुनः मिलन होनेका निश्चय बतलानेपर भी जब श्रीराम उसे साथ ले जानेको राजी नहीं हुए तब उनको बड़ा दुःख हुआ और वे प्रेमकोपमें आँखोंसे गर्म-गर्म आँसुओंकी धारा बहाती हुई नीतिके नाते इस प्रकार कुछ कठोर वचन भी कह गयीं कि—'हे देव! आप-सरीखे आर्य पुरुष मुझ-जैसी अनुरक्त भक्त, दीन और सुख-दुःखको समान समझनेवाली सहधर्मिणीको अकेली छोड़कर जानेका विचार करें यह आपको शोभा नहीं देता। मेरे पिताने आपको पराक्रमी और मेरी रक्षा करनेमें समर्थ समझकर ही अपना दामाद बनाया था।' इस कथनसे यह भी सिद्ध होता है कि श्रीराम लड़कपनसे अत्यन्त श्रेष्ठ पराक्रमी समझे जाते थे। इस प्रसङ्गमें श्रीवाल्मीकिजी और गोस्वामी तुलसीदासजीने सीता-रामके संवादमें जो कुछ कहा है सो प्रत्येक स्त्री-पुरुषके ध्यानपूर्वक पढ़ने और मनन करनेयोग्य है।

सीताजीके प्रेमकी विजय हुई, श्रीरामने उन्हें साथ ले चलना स्वीकार किया। इस कथानकसे यह सिद्ध होता है कि पत्नीको पति-सेवाके लिये—अपने सुखके लिये नहीं—पतिकी आज्ञाको टालनेका

अधिकार है । वह प्रेमसे पति-सुखके लिये ऐसा कर सकती है। सीताने तो यहाँतक कह दिया था 'यदि आप आज्ञा नहीं देंगे तब भी मैं तो साथ चलूँगी ।' सीताजीके इस प्रेमाग्रहकी आजतक कोई भी निन्दा नहीं करता, क्योंकि सीता केवल पतिप्रेम और पति-सेवाहीके लिये समस्त सुखोंको तिलाञ्जलि देकर वन जानेको तैयार हुई थी, किसी इन्द्रिय-सुखरूप स्वार्थ-साधनके लिये नहीं ! इससे यह नहीं समझना चाहिये कि सीताका व्यवहार अनुचित या पतिव्रतधर्मसे विरुद्ध था । स्त्रीको धर्मके लिये ही ऐसा व्यवहार करनेका अधिकार है । इससे पुरुषोंको भी यह शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये कि सहधर्मिणी पतिव्रता पत्नीकी विना इच्छा उसे त्याग-कर अन्यत्र चले जाना अनुचित है । इसी प्रकार स्त्रीको भी पति-सेवा और पति-सुखके लिये उसके साथ ही रहना चाहिये । पतिके विरोध करनेपर भी कष्ट और आपत्तिके समय पति-सेवाके लिये स्त्रीको उसके साथ रहना उचित है । अवश्य ही अवस्था देखकर कार्य करना चाहिये । सभी स्थितियोंमें सबके लिये एक-सी व्यवस्था नहीं हो सकती । सीताने भी अपनी साधुताके कारण सभी समय इस अधिकारका उपयोग नहीं किया था ।

पति-सेवामें सुख

वनमें जाकर सीता पति-सेवामें सब कुछ भूलकर सब तरह सुखी रहती है। उसे राज-पाट, महल-बगीचे, धन-दौलत और दास-दासियोंकी कुछ भी स्मृति नहीं होती । रामको वनमें छोड़कर लौटा हुआ सुमन्त,सीताके लिये विलाप करती हुई माता कौसल्यासे कहता है— सीता निर्जन वनमें घरकी भाँति निर्भय होकर रहती है, वह श्रीराममें मन लगाकर उनका प्रेम प्राप्त

कर रही है । वनवाससे सीताको कुछ भी दुःख नहीं हुआ, मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि (श्रीरामके साथ) सीता वनवासके सर्वथा योग्य है । चन्द्रानना सती सीता जैसे पहले यहाँ बगीचोंमें जाकर खेलती थी वैसे ही वहाँ निर्जन वनमें भी वह श्रीरामके साथ बालिकाके समान खेलती है । सीताका मन राममें है, उसका जीवन श्रीरामके अधीन है, अतएव श्रीरामके साथ सीताके लिये वन ही अयोध्या है और श्रीरामके विना अयोध्या ही वन है ।' धन्य पातिव्रत ! धन्य !

सीता पति-सेवाके लिये वन गयी; परंतु उसको इस बातका बड़ा क्षोभ रहा कि सासुओंकी सेवासे उसे अलग होना पड़ रहा है । सीता सासके पैर छूकर सच्चे मनसे रोती हुई कहती है—

सास-सेवा

× × × × । सुनिअ माय मैं परम अभागी ॥
सेवा समय दैअँ बनु दीन्हा ।
मोर मनोरथु सफल न कीन्हा ॥
तजब छोभु जनि छाड़िअ छोहू ।
करमु कठिन कछु दोसु न मोहू ॥

सास-पतोहूका यह व्यवहार आदर्श है । भारतीय ललनाएँ यदि आज कौसल्या और सीताका-सा व्यवहार करना सीख जायँ तो भारतीय गृहस्थ सब प्रकारसे सुखी हो जायँ । सास अपनी बधुओंको सुखी देखनेके लिये व्याकुल रहें और बहुएँ सासकी सेवाके लिये छटपटावें तो दोनों ओर ही सुखका साम्राज्य स्थापित हो सकता है ।

सीताकी सहिष्णुताका एक उदाहरण देखिये । वन-गमनके समय जब कैकेयी सीताको वनवासके योग्य वस्त्र पहननेके लिये कहती है तब वसिष्ठ-सरीखे महर्षिका मन भी क्षुब्ध हो उठता है; परंतु सीता इस कथनको केवल चुपचाप सुन ही नहीं लेती, आज्ञानुसार वह वस्त्र धारण भी कर लेती है । इस प्रसङ्गसे भी यह शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये कि सास या उसके समान नातेमें अपनेसे बड़ी कोई भी स्त्री जो कुछ कहे या बर्ताव करे, उसको खुशीके साथ सहन करना चाहिये और कभी पतिके साथ विदेश जाना पड़े तो सच्चे हृदयसे सासुओंको प्रणाम कर, उन्हें संतोष करवाकर, सेवासे वञ्चित होनेके लिये हार्दिक पश्चात्ताप करते हुए जाना चाहिये । इससे वधुओंको सासुओंका आशीर्वाद आप ही प्राप्त होगा ।

सहिष्णुता

सीता अपने समयमें लोकप्रसिद्ध पतिव्रता थी, उसे कोई पातिव्रत्यका क्या उपदेश करता ? परंतु सीताको अपने पातिव्रत्यका कोई अभिमान नहीं था । अनसूयाजीके द्वारा किया हुआ पातिव्रत्यधर्मका उपदेश सीता बड़े आदरके साथ सुनती है और उनके चरणोंमें प्रणाम करती है । उसके मनमें यह भाव नहीं आता कि मैं सब कुछ जानती हूँ बल्कि अनसूयाजी ही उससे कहती हैं—

निरभिमानता

सुनु सीता तव नाम सुमिरि नारि पतिब्रत करहिं ।
तोहि प्रानप्रिय राम कहिउँ कथा संसार हित ॥

इससे यह शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये कि अपनेसे बड़े-बूढ़े

जो कुछ उपदेश दें उसे अभिमान छोड़कर आदर और सम्मानके साथ सुनना चाहिये एवं यथासाध्य उसके अनुसार चलना चाहिये।

गुरुजन-सेवा और मर्यादा

बड़ोंकी सेवा और मर्यादामें सीताका मन कितना लगा रहता था, इस बातको समझनेके लिये महाराज जनककी चित्रकूट-यात्राके प्रसंगको याद कीजिये। भरतके वन जानेपर राजा जनक भी रामसे मिलनेके लिये चित्रकूट पहुँचते हैं। सीताकी माता श्रीरामकी माताओंसे—सीताकी सासुओंसे मिलती हैं और सीताको साथ लेकर अपने डेरेपर आती हैं। सीताको तपस्विनीके वेषमें देखकर सबको विषाद होता है, पर महाराज जनक अपनी पुत्रीके इस आचरणपर बड़े ही संतुष्ट होते हैं और कहते हैं—

पुत्रि पवित्र किए कुल दोऊ।
सुजस धवल जगु कह सबु कोऊ॥

माता-पिता बड़े प्रेमसे हृदयसे लगाकर अनेक प्रकारकी सीख और असीस देते हैं। बात करते-करते रात अधिक हो जाती है। सीता मनमें सोचती है कि सासुओंकी सेवा छोड़कर इस अवस्थामें रातको यहाँ रहना अनुचित है, किंतु स्वभावसे ही लज्जाशीला सीता संकोचवश मनकी बात माँ-बापसे कह नहीं सकती—

कहति न सीय सकुचि मन माहीं।
इहाँ बसब रजनीं भल नाहीं॥

चतुर माता सीताके मनका भाव जान लेती है और सीताके शील-स्वभावकी मन-ही-मन सराहना करते हुए माता-पिता सीताको

कौसल्याके डेरेमें भेज देते हैं। इस प्रसङ्गसे भी स्त्रियोंको सेवा और मर्यादाकी शिक्षा लेनी चाहिये।

निर्भयता

सीताका तेज और उसकी निर्भयता देखिये। जिस दुर्दान्त रावणका नाम सुनकर देवता भी काँपते थे, उसीको सीता निर्भयताके साथ कैसे-कैसे वचन कहती थीं। रावणके हाथोंमें पड़ी हुई सीता अति क्रोधसे उसका तिरस्कार करती हुई कहती है—'अरे दुष्ट निशाचर! तेरी आयु पूरी हो गयी है, अरे मूर्ख! तू श्रीरामचन्द्रकी सहधर्मिणीको हरणकर प्रज्वलित अग्निके साथ कपड़ा बाँधकर चलना चाहता है। तुझमें और रामचन्द्रमें उतना ही अन्तर है जितना सिंह और सियारमें, समुद्र और नालेमें, अमृत और काँजीमें, सोने और लोहेमें, चन्दन और कीचड़में, हाथी और बिलावमें, गरुड़ और कौवेमें तथा हंस और गीधमें होता है। मेरे अमित प्रभाववाले स्वामीके रहते तू मुझे हरण करेगा तो जैसे मक्खी घीके पीते ही मृत्युके वश हो जाती है, वैसे ही तू भी कालके गालमें चला जायगा।' इससे यह सीखना चाहिये कि परमात्माके बलपर किसी भी अवस्थामें मनुष्यको डरना उचित नहीं। अन्यायका प्रतिवाद निर्भयताके साथ करना चाहिये। परमात्माके बलका सच्चा भरोसा होगा तो रावणका वध करके सीताको उसके चंगुलसे छुड़ानेकी भाँति भगवान् हमें भी विपत्तिसे छुड़ा लेंगे।

धर्मके लिये प्राण-त्यागकी तैयारी

विपत्तिमें पड़कर भी कभी धर्मका त्याग नहीं करना चाहिये। इस विषयमें सीताका उदाहरण सर्वोत्तम है। लङ्का-की अशोक-वाटिकामें सीताका धर्म नाश करनेके लिये दुष्ट रावणकी ओरसे कम चेष्टाएँ नहीं हुईं।

राक्षसियोंने सीताको भय और प्रलोभन दिखलाकर बहुत ही तंग किया, परंतु सीता तो सीता ही थी। धर्मत्यागका प्रश्न तो वहाँ उठ ही नहीं सकता, सीताने तो छलसे भी अपने बाहरी बर्तावमें भी विरक्तिसे बचनेके हेतु कभी दोष नहीं आने दिया। उसके निर्मल और धर्मसे परिपूर्ण मनमें कभी बुरी स्फुरणा ही नहीं आ सकी। अपने धर्मपर अटल रहती हुई सीता दुष्ट रावणका सदा तीव्र और नीतियुक्त शब्दोंमें तिरस्कार ही करती रही। एक बार रावणके वाग्बाणोंको न सह सकनेके समय और रावणके द्वारा मायासे श्रीराम-लक्ष्मणको मरे हुए दिखला देनेके कारण वह मरनेको तैयार हो गयी। परंतु धर्मसे डिगनेकी भावना स्वप्नमें भी कभी उसके मनमें नहीं उठी। वह दिन-रात भगवान् श्रीरामके चरणोंके ध्यानमें लगी रहती थी। सीताजीने श्रीरामको हनुमान्‌के द्वारा जो सन्देश कहलाया, उससे पता लग सकता है कि उनकी कैसी पवित्र स्थिति थी—

> **नाम पाहरू दिवस निसि ध्यान तुम्हार कपाट।**
> **लोचन निज पद जंत्रित जाहिं प्रान केहिं बाट॥**

इससे स्त्रियोंको यह शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये कि पतिके वियोगमें भीषण आपत्तियाँ आनेपर भी पतिके चरणोंका ध्यान रहे। मनमें भगवान्‌के बलपर पूरी वीरता, धीरता और तेज रहे। स्वधर्मके पालनमें प्राणोंकी भी आहुति देनेको सदा तैयार रहे। धर्म जाकर प्राण रहनेमें कोई लाभ नहीं, परंतु प्राण जाकर धर्म रहनेमें ही कल्याण है—'स्वधर्मे निधनं श्रेयः।' (गीता ३।३५)।

सीताजीकी सावधानी देखिये। जब हनुमान्‌जी अशोकवाटिकामें सीताके पास जाते हैं तब सीता अपने बुद्धिकौशलसे सब प्रकार उनकी परीक्षा करती है। जबतक उसे यह विश्वास नहीं हो जाता कि हनुमान् वास्तवमें श्रीरामचन्द्रके दूत हैं, शक्तिसम्पन्न हैं और मेरी खोजमें ही यहाँ आये हैं तबतक खुलकर बात नहीं करती है।

सावधानी

जब पूरा विश्वास हो जाता है तब पहले स्वामी और देवरकी कुशल पूछती है, फिर आँसू बहाती हुई करुणापूर्ण शब्दोंमें कहती है—'हनुमन्! रघुनाथजीका चित्त तो बड़ा ही कोमल है। कृपा करना तो उनका स्वभाव ही है; फिर मुझसे वह इतनी निष्ठुरता क्यों कर रहे हैं? वह तो स्वभावसे ही सेवकको सुख देनेवाले हैं, फिर मुझे उन्होंने क्यों बिसार दिया है? क्या श्रीरघुनाथजी कभी मुझे याद भी करते हैं? हे भाई! कभी उस श्यामसुन्दरके कोमल मुखकमलको देखकर मेरी ये आँखें शीतल होंगी? अहो! नाथने मुझको बिल्कुल भुला दिया!' इतना कहकर सीता रोने लगी, उसकी वाणी रुक गयी!!

दाम्पत्य-प्रेम

बचनु न आव नयन भरे बारी।
अहह नाथ हौं निपट बिसारी॥

इसके बाद हनुमान्‌जीने जब श्रीरामका प्रेम-सन्देश सुनाते हुए यह कहा कि माता! श्रीरामका प्रेम तुमसे दुगुना है। उन्होंने कहलवाया है—

तत्त्व प्रेम कर मम अरु तोरा।
जानत प्रिया एकु मनु मोरा॥
सो मनु सदा रहत तोहि पाहीं।
जानु प्रीति रसु एतनेहि माहीं॥

यह सुनकर सीता गद्गद हो जाती है। श्रीसीता-रामका परस्पर कैसा आदर्श प्रेम है! जगत्‌के स्त्री-पुरुष यदि इस प्रेमको आदर्श बनाकर परस्पर ऐसा ही प्रेम करने लगें तो गृहस्थ सुखमय बन जाय।

सीताजीने जयन्तकी घटना याद दिलाते हुए कहा कि 'हे कपिवर! तू ही बता, मैं इस अवस्थामें कैसे जी सकती हूँ?

पर-पुरुषसे परहेज

शत्रुको तपानेवाले श्रीराम लक्ष्मण समर्थ होनेपर भी मेरी सुधि नहीं लेते, इससे माल्म होता है अभी मेरा दुःखभोग शेष नहीं हुआ है।' यों कहते-कहते जब सीताके नेत्रोंसे आँसुओंकी धारा बहने लगी, तब हनुमान्‌ने उन्हें आश्वासन देते हुए कहा कि 'माता! कुछ दिन धीरज रक्खो। शत्रुओंके संहार करनेवाले कृतात्मा श्रीराम और लक्ष्मण थोड़े ही समयमें यहाँ आकर रावणका वध कर तुम्हें अवधपुरीमें ले जायँगे। तुम चिन्ता न करो। यदि तुम्हारी विशेष इच्छा हो और मुझे आज्ञा दो तो मैं भगवान् श्रीरामकी और तुम्हारी दयासे रावणका वध कर और लङ्काको नष्टकर तुमको प्रभु श्रीरामचन्द्रके समीप ले जा सकता हूँ। अथवा हे देवि! तुम मेरी पीठपर बैठ जाओ, मैं आकाशमार्गसे होकर महासागरको लाँघ जाऊँगा। यहाँके राक्षस मुझे नहीं पकड़ सकेंगे। मैं शीघ्र ही तुम्हें श्रीरामचन्द्रके समीप ले जाऊँगा।' हनुमान्‌के

वचन सुनकर उनके बल-पराक्रमकी परीक्षा लेनेके बाद सीता कहने लगी—हे वानरश्रेष्ठ ! पति-भक्तिका सम्यक् पालन करनेवाली मैं अपने स्वामी श्रीरामचन्द्रको छोड़कर स्वेच्छासे किसी भी अन्य पुरुषके अङ्गका स्पर्श करना नहीं चाहती—

> भर्तुर्भक्तिं पुरस्कृत्य रामादन्यस्य वानर।
> नाहं स्प्रष्टुं स्वतो गात्रमिच्छेयं वानरोत्तम॥
>
> (वा० रा० ५ । ३७ । ६२)

दुष्ट रावणने बलात्कारसे हरण करनेके समय मुझको स्पर्श किया था, उस समय तो मैं पराधीन थी, मेरा कुछ भी वश नहीं चलता था। अब तो श्रीराम स्वयं यहाँ आवें और राक्षसोंसहित रावणका वध करके मुझे अपने साथ ले जायँ, तभी उनकी उज्ज्वल कीर्तिकी शोभा है।

भला विचारिये, हनुमान्-सरीखा सेवक, जो सीताजीको सच्चे हृदयसे मातासे बढ़कर समझता है और सीता-रामकी भक्ति करना ही अपने जीवनका परम ध्येय मानता है, सीता पातिव्रत्य-धर्मकी रक्षाके लिये, इतने घोर विपत्तिकालमें अपने स्वामीके पास जानेके लिये भी उसका स्पर्श नहीं करना चाहती ! कैसा अद्भुत धर्मका आग्रह है। इससे यह सीखना चाहिये कि भारी आपत्तिके समय भी स्त्रीको यथासाध्य परपुरुषके अङ्गोंका स्पर्श नहीं करना चाहिये !

भगवान् श्रीराममें सीताका कितना प्रेम था और उनसे मिलनेके लिये उसके हृदयमें कितनी अधिक व्याकुलता थी, इस बातका कुछ पता हरणके समयसे लेकर लङ्का-विजयतकके सीताके विविध वचनोंसे लगता है,

उस प्रसंगको पढ़ते-पढ़ते ऐसा कौन है, जिसका करुणासे हृदय न भर जाय ? परंतु सीताजीकी सच्ची व्याकुलताका सबसे बढ़कर प्रमाण तो यह है कि श्रीरघुनाथजी महाराज उसके लिये विरहव्याकुल स्त्रैण मनुष्यकी भाँति विह्वल होकर उन्मत्तवत् रोते और विलाप करते हुए ऋषिकुमारों, सूर्य, पवन, पशु-पक्षी और जड़ वृक्ष-लताओंसे सीताका पता पूछते फिरते हैं—

आदित्य भो लोककृताकृतज्ञ लोकस्य सत्यानृतकर्मसाक्षिन् ।
मम प्रिया सा क्व गता हृता वा शंसस्व मे शोकहतस्य सर्वम् ॥
लोकेषु सर्वेषु न चास्ति किञ्चिद्यत्ते न नित्यं विदितं भवेत्तत् ।
शंसस्व वायो कुलपालिनीं तां मृता हृता वा पथि वर्तते वा ॥
(वा० रा० ३ । ६३ । १६–१७)

लोकोंके कृत्याकृत्यको जाननेवाले हे सूर्यदेव ! तू सत्य और असत्य कर्मोंका साक्षी है । मेरी प्रियाको कोई हर ले गया है या वह कहीं चली गयी है, इस बातको तू भलीभाँति जानता है । अतएव मुझ शोकपीड़ितको सारा हाल बतला । हे वायुदेव ! तीनों लोकोंमें तुझसे कुछ भी छिपा नहीं है, तेरी सर्वत्र गति है । हमारे कुलकी मर्यादाकी रक्षा करनेवाली सीता मर गयी, हरी गयी या कहीं मार्गमें भटक रही है, जो कुछ हो सो यथार्थ कह ।'

हा गुन खानि जानकी सीता ।
रूप सील ब्रत नेम पुनीता ॥
लछिमन समुझाए बहु भाँती ।
पूछत चले लता तरु पाँती ॥

हे खग मृग हे मधुकर श्रेनी।
तुम्ह देखी सीता मृगनैनी॥

× × ×

एहि बिधि खोजत बिलपत स्वामी।
मनहुँ महा बिरही अति कामी॥

इससे यह नहीं समझना चाहिये कि भगवान् श्रीराम 'महाविरही और अतिकामी' थे। सीताजीका श्रीरामके प्रति इतना प्रेम था और वह उनके लिये इतनी व्याकुल थीं कि श्रीरामको भी वैसा ही बर्ताव करना पड़ा। भगवान्‌का यह प्रण है—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
(गीता ४।११)

श्रीरामने 'महाविरही और अतिकामी' के सदृश लीला कर इस सिद्धान्तको चरितार्थ कर दिया। इससे यह शिक्षा लेनी चाहिये कि यदि हम भगवान्‌को पानेके लिये व्याकुल होंगे तो भगवान् भी हमारे लिये वैसे ही व्याकुल होंगे। अतएव हम सबको परमात्माके लिये इसी प्रकार व्याकुल होना चाहिये।

अग्नि-परीक्षा

रावणका वध हो गया, प्रभु श्रीरामकी आज्ञासे सीताको स्नान करवाकर और वस्त्राभूषण पहनाकर विभीषण श्रीरामके पास लाते हैं। बहुत दिनोंके बाद प्रिय पति श्रीरघुवीरके पूर्णिमाके चन्द्र-सदृश मुखको देखकर सीताका सारा दुःख नाश हो गया और उसका मुख निर्मल चन्द्रमाकी भाँति चमक उठा। परंतु श्रीरामने यह स्पष्ट कह दिया—'मैंने अपने कर्तव्यका

पालन किया। रावणका वधकर तुझको दुष्टके चंगुलसे छुड़ाया, परंतु तू रावणके घरमें रह चुकी है, रावणने तुझको बुरी नजरसे देखा है, अतएव अब मुझे तेरी आवश्यकता नहीं। तू अपने इच्छानुसार चाहे जहाँ चली जा। मैं तुझे ग्रहण नहीं कर सकता।

नास्ति मे त्वय्यभिष्वङ्गो यथेष्टं गम्यतामिति ॥

(वा० रा० ६ । ११५ । २१)

श्रीरामके इन अश्रुतपूर्व कठोर और भयंकर वचनोंको सुनकर दिव्य सती सीताकी जो कुछ दशा हुई, उसका वर्णन नहीं हो सकता! स्वामीके वचन-बाणोंसे सीताके समस्त अङ्गोंमें भीषण घाव हो गये। वह फूट-फूटकर रोने लगी। फिर करुणाको भी करुणासागरमें डुबो देनेवाले शब्दोंमें उसने धीरे-धीरे गद्गद वाणीसे कहा—

'हे स्वामी! आप साधारण मनुष्योंकी भाँति मुझे क्यों ऐसे कठोर और अनुचित शब्द कहते हैं? मैं अपने शीलकी शपथ करके कहती हूँ कि आप मुझपर विश्वास रक्खें। हे प्राणनाथ! रावणने हरण करनेके समय जब मेरे शरीरका स्पर्श किया था, तब मैं परवश थी। इसमें तो दैवका ही दोष है। यदि आपको यही करना था, तो हनुमान्‌को जब मेरे पास भेजा था, तभी मेरा त्याग कर दिये होते तो अबतक मैं अपने प्राण ही छोड़ देती!' श्रीसीताजीने बहुत-सी बातें कहीं, परंतु श्रीरामने कोई जवाब नहीं दिया, तब वे दीनता और चिन्तासे भरे हुए लक्ष्मणसे बोलीं 'हे सौमित्रे! ऐसे मिथ्यापवादसे कलङ्कित होकर मैं जीना नहीं चाहती। मेरे

दुःखकी निवृत्तिके लिये तुम यहीं अग्नि-चिता तैयार कर दो। मेरे

प्रिय पतिने मेरे गुणोंसे अप्रसन्न होकर जनसमुदायके मध्य मेरा त्याग किया है, अब मैं अग्निप्रवेश करके इस जीवनका अन्त करना चाहती हूँ।' वैदेही सीताके वचन सुनकर लक्ष्मणने कोपभरी लाल-लाल आँखोंसे एक वार श्रीरामचन्द्रकी ओर देखा, परंतु रामकी रुचिके अधीन रहनेवाले लक्ष्मणने आकार और संकेतसे श्रीरामका रुख समझकर उनके इच्छानुसार चिता तैयार कर दी। सीताने प्रज्वलित अग्निके पास जाकर देवता और ब्राह्मणोंको प्रणाम कर दोनों हाथ जोड़कर कहा—

यथा मे हृदयं नित्यं नापसर्पति राघवात्।
तथा लोकस्य साक्षी मां सर्वतः पातु पावकः॥
यथा मां शुद्धचारित्रां दुष्टां जानाति राघवः।
तथा लोकस्य साक्षी मां सर्वतः पातु पावकः॥
(वा० रा० ६। ११६। २५-२६)

'हे अग्निदेव! यदि मेरा मन कभी भी श्रीरामचन्द्रसे चलायमान न हुआ हो तो तुम मेरी सब प्रकारसे रक्षा करो। श्रीरघुनाथजी महाराज मुझ शुद्ध चरित्रवाली या दुष्टाको जिस प्रकार यथार्थ जान सकें वैसे ही मेरी सब प्रकारसे रक्षा करो, क्योंकि तुम सब लोकोंके साक्षी हो।' इतना कहकर अग्निकी प्रदक्षिणा कर सीता निःशङ्क-हृदयसे अग्निमें प्रवेश कर गयी। सब ओर हाहाकार मच गया। ब्रह्मा, शिव, कुबेर, इन्द्र, यमराज और वरुण आदि देवता आकर श्रीरामको समझाने लगे। ब्रह्माजीने बहुत कुछ रहस्यकी बातें कहीं।

इतनेमें सर्वलोकोंके साक्षी भगवान् अग्निदेव सीताको गोदमें

लेकर अकस्मात् प्रकट हो गये और वैदेहीको श्रीरामके प्रति अर्पण करते हुए बोले—

एषा ते राम वैदेही पापमस्यां न विद्यते ॥
नैव वाचा न मनसा नैव बुद्ध्या न चक्षुषा ।
सुवृत्ता वृत्तशौटीर्यं न त्वामत्यचरच्छुभा ॥
रावणेनापनीतैषा वीर्योत्सिक्तेन रक्षसा ।
त्वया विरहिता दीना विवशा निर्जने सती ॥
रुद्धा चान्तःपुरे गुप्ता त्वच्चित्ता त्वत्परायणा ।
रक्षिता राक्षसीभिश्च घोराभिर्घोरबुद्धिभिः ॥
प्रलोभ्यमाना विविधं तर्ज्यमाना च मैथिली ।
नाचिन्तयत तद्रक्षस्त्वद्गतेनान्तरात्मना ॥
विशुद्धभावां निष्पापां प्रतिगृह्णीष्व मैथिलीम् ।
न किञ्चिदभिधातव्या अहमाज्ञापयामि ते ॥

(वा० रा० ६ । ११८ । ५—१०)

'हे राम ! इस अपनी वैदेही सीताको ग्रहण करो । इसमें कोई भी पाप नहीं है । हे चरित्राभिमानी राम ! इस शुभलक्षणा सीताने वाणी, मन, बुद्धि या नेत्रोंसे कभी तुम्हारा उल्लङ्घन नहीं किया । निर्जन वनमें जब तुम इसके पास नहीं थे, तब यह बेचारी निरुपाय और विवश थी । इसीसे बलगर्वित रावण इसे बलात्कारसे हर ले गया था । यद्यपि इसको अन्तःपुरमें रक्खा गया था और क्रूर-से-क्रूर स्वभाववाली राक्षसियाँ पहरा देती थीं; अनेक प्रकारके प्रलोभन दिये जाते थे और तिरस्कार भी किया जाता था, परंतु

तुम्हारेमें मन लगानेवाली, तुम्हारे परायण हुई सीताने तुम्हारे सिवा दूसरेका कभी मनसे विचार ही नहीं किया। इसका अन्तःकरण शुद्ध है, यह निष्पाप है, मैं तुम्हें आज्ञा देता हूँ, तुम किसी प्रकारकी शङ्का न करके इसको ग्रहण करो।'

अग्निदेवके वचन सुनकर मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीराम बहुत प्रसन्न हुए, उनके नेत्र हर्षसे भर आये और उन्होंने कहा—

'हे अग्निदेव! इस प्रकार सीताकी शुद्धि आवश्यक थी, मैं यों ही ग्रहण कर लेता तो लोग कहते कि दशरथपुत्र राम मूर्ख और कामी है। (कुछ लोग सीताके शीलपर भी संदेह करते, जिससे उसका गौरव घटता, आज इस अग्निपरीक्षासे सीताकी और मेरा दोनोंका मुख उज्ज्वल हो गया है।) मैं जानता हूँ कि जनकनन्दिनी सीता अनन्यहृदया और सर्वदा मेरे इच्छानुसार चलनेवाली है। जैसे समुद्र अपनी मर्यादाका त्याग नहीं कर सकता, उसी प्रकार यह भी अपने तेजसे मर्यादामें रहनेवाली है। दुष्टात्मा रावण प्रदीप्त अग्निकी ज्वालाके समान अप्राप्त इस सीताका स्पर्श नहीं कर सकता था। सूर्यकान्ति-सदृश सीता मुझसे अभिन्न है। जैसे आत्मवान् पुरुष कीर्तिका त्याग नहीं कर सकता, उसी प्रकार मैं भी तीनों लोकोंमें विशुद्ध इस सीताका वास्तवमें कभी त्याग नहीं कर सकता।'

इतना कहकर भगवान् श्रीराम प्रिया सती सीताको ग्रहणकर आनन्दमें निमग्न हो गये। इस प्रसङ्गसे यह सीखना चाहिये कि स्त्री किसी भी हालतमें पतिपर नाराज न हो और उसे संतोष करानेके लिये न्याययुक्त उचित चेष्टा करे।

सीता अपने स्वामी और देवरके साथ अयोध्या लौट आती है।

गृहस्थ-धर्म

बड़ी-बूढ़ी स्त्रियों और सभी सासुओंके चरणोंमें प्रणाम करती है। सब ओर सुख छा जाता है। अब सीता अपनी सासुओंकी सेवामें लगती है और उनकी ऐसी सेवा करती है कि सबको मुग्ध हो जाना पड़ता है। सीताजी गृहस्थका सारा काम सुचारुरूपसे करती हैं जिससे सभी संतुष्ट हैं। इससे यह शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये कि विदेशसे लौटते ही सास और सभी बड़ी-बूढ़ी स्त्रियोंको प्रणाम करना और सास आदिकी सच्चे मनसे सेवा करनी चाहिये एवं गृहस्थका सारा कार्य सुचारुरूपसे करना चाहिये।

समान व्यवहार

श्रीसीताजी भरत, लक्ष्मण और शत्रुघ्न—इन देवरोंके साथ पुत्रवत् बर्ताव करती थीं और खानपान आदिमें किसी प्रकारका भी भेद नहीं रखती थीं। स्वामी श्रीरामके लिये जैसा भोजन बनता था ठीक वैसा ही सीताजी अपने देवरोंके लिये बनाती थीं। देखनेमें यह बात छोटी-सी मालूम होती है, किंतु इसी बर्तावमें दोष आ जानेके कारण केवल खानेकी वस्तुओंमें भेद रखनेसे आज भारतमें हजारों सम्मिलित कुटुम्बोंकी बुरी दशा हो रही है। सीताजीके इस बर्तावसे स्त्रियोंको खानपानमें समान व्यवहार रखनेकी शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये।

सीता-परित्याग

एक समय भगवान् राम गुप्तचरोंके द्वारा सीताके सम्बन्धमें लोकापवाद सुनकर बहुत ही शोक करते हुए लक्ष्मणसे कहने लगे कि 'भाई! मैं जानता हूँ कि सीता पवित्र और यशस्विनी है, लङ्कामें उसने तेरे सामने जलती

हुई अग्निमें प्रवेश करके अपनी परीक्षा दी थी और सर्वलोकसाक्षी अग्निदेवने स्वयं प्रकट होकर समस्त देवता और ऋषियोंके सामने सीताके पापरहित होनेकी घोषणा की थी तथापि इस लोकापवादके कारण मैंने सीताके त्यागका निश्चय कर लिया है। इसलिये तू कल प्रातःकाल ही सुमन्त सारथिके रथमें बैठाकर सीताको गङ्गाके उस पार तमसा-नदीके तीरपर महात्मा वाल्मीकिके आश्रमके पास निर्जन वनमें छोड़कर चला आ। तुझे मेरे चरणोंकी और जीवनकी शपथ है, इस सम्बन्धमें तू मुझसे कुछ भी न कहना। सीतासे भी अभी कुछ न कहना।' लक्ष्मणने दुःखभरे हृदयसे मौन होकर आज्ञा स्वीकार की और प्रातःकाल ही सुमन्तसे कहकर रथ जुड़वा लिया।

सीताजीने एक बार मुनियोंके आश्रमोंमें जानेके लिये श्रीरामसे प्रार्थना की थी, अतएव लक्ष्मणके द्वारा वन जानेकी बात सुनकर सीताजीने यही समझा कि स्वामीने ऋषियोंके आश्रमोंमें जानेकी आज्ञा दी है और वह ऋषिपत्नियोंको बाँटनेके लिये बहुमूल्य गहने, कपड़े और विविध प्रकारकी वस्तुएँ लेकर वनके लिये विदा हो गयी। मार्गमें अशकुन होते देखकर सीताने लक्ष्मणसे पूछा—'भाई! अपने नगर और घरमें सब प्रसन्न तो हैं न?' लक्ष्मणने कहा—'सब कुशल है।' यहाँतक तो लक्ष्मणने सहन किया, परन्तु गङ्गाके तीरपर पहुँचते ही मर्मवेदनासे लक्ष्मणका हृदय भर आया और वह दीनकी भाँति फूट-फूटकर रोने लगा। संयमशील धर्मज्ञ लक्ष्मणको रोते देखकर सीता कहने लगी—'भाई! तुम रोते क्यों हो? हमलोग गङ्गा-तीर ऋषियोंके आश्रमोंके समीप आ गये हैं,

यहाँ तो हर्ष होना चाहिये, तुम उलटा खेद कर रहे हो। तुम तो रात-दिन श्रीरामचन्द्रजीके पास ही रहते हो. क्या दो रात्रिके वियोगमें ही शोक करने लगे? हे पुरुषश्रेष्ठ! मुझको भी राम प्राणाधिक प्रिय हैं, पर मैं तो शोक नहीं करती, इस लड़कपनको छोड़ो और गङ्गाके उस पार चलकर मुझे तपस्वियोंके दर्शन कराओ। महात्माओंको भिन्न-भिन्न वस्तुएँ बाँटकर और यथायोग्य उनकी पूजाकर एक ही रात रह हमलोग वापस लौट आवेंगे। मेरा मन भी कमलनेत्र, सिंहसदृश वक्षःस्थलवाले, आनन्ददाताओंमें श्रेष्ठ श्रीरामको देखनेके लिये उतावला हो रहा है।'

लक्ष्मणने इन वचनोंका कोई उत्तर नहीं दिया और सीताके साथ नौकापर सवार हो गङ्गाके उस पार पहुँचकर फिर उच्च स्वरसे रोना शुरू कर दिया। सीताजीके बारम्बार पूछने और आज्ञा देनेपर लक्ष्मणने सिर नीचा करके गद्गद वाणीसे लोकापवादका प्रसंग वर्णन करते हुए कहा—'सीते! तुम निर्दोष हो, किंतु श्रीरामने तुमको त्याग दिया है। अब तुम श्रीरामको हृदयमें धारण करके पातिव्रत्य-धर्मका पालन करती हुई वाल्मीकि मुनिके आश्रममें रहो।'

लक्ष्मणके इन दारुण वचनोंको सुनते ही सीता मूर्च्छित-सी होकर गिर पड़ी। थोड़ी देर बाद होश आनेपर रोकर विलाप करने लगी और बोली—'हे लक्ष्मण! विधाताने मेरे शरीरको दुःख भोगनेके लिये रचा है। मालूम नहीं, मैंने कितनी जोड़ियोंको बिछुड़ाया था, जिससे आज मैं शुद्ध आचरणवाली सती होनेपर भी धर्मात्मा प्रिय पति रामके द्वारा त्यागी जाती हूँ। हे लक्ष्मण!

पूर्वकालमें जब मैं वनमें थी तब तो स्वामीकी सेवाका सौभाग्य मिलनेके कारण वनके दुःखोंमें भी सुख मानती थी, परन्तु हे सौम्य! अब प्रियतमके वियोगमें मैं आश्रममें कैसे रह सकूँगी? जन्म-दुःखिनी मैं अपना दुखड़ा किसको सुनाऊँगी? हे प्रभो! महात्मा, ऋषि, मुनि जब मुझे यह पूछेंगे कि तुझको श्रीरघुनाथजीने क्यों त्याग दिया, क्या तुमने कोई बुरा कर्म किया था? तो मैं क्या जबाब दूँगी। हे सौमित्रे! मैं आज ही इस भागीरथीमें डूबकर अपना प्राण दे देती, परन्तु मेरे अन्दर श्रीरामका वंश-बीज है, यदि मैं डूब मरूँ तो मेरे स्वामीका वंश नाश हो जायगा। इसलिये मैं मर भी नहीं सकती। हे लक्ष्मण! तुमको राजाज्ञा है तो तुम मुझ अभागिनीको यहीं छोड़कर चले जाओ, परन्तु मेरी कुछ बातें सुनते जाओ।'

'मेरी ओरसे मेरी सारी सासुओंका हाथ जोड़कर चरणवन्दन करना और फिर महाराजको मेरा प्रणाम कहकर कुशल पूछना। हे लक्ष्मण! सबके सामने सिर नवाकर मेरा प्रणाम कहना। और धर्ममें सदा सावधान रहनेवाले महाराजसे मेरी ओरसे यह निवेदन करना—

जानासि च यथा शुद्धा सीता तत्त्वेन राघव।
भक्त्या च परया युक्ता हिता च तव नित्यशः॥
अहं त्यक्ता च ते वीर अयशोभीरुणा जने।
यच्च ते वचनीयं स्यादपवादः समुत्थितः॥
मया च परिहर्त्तव्यं त्वं हि मे परमा गतिः।
वक्तव्यश्चैव नृपतिर्धर्मेण सुसमाहितः॥

यथा भ्रातृषु वर्तेथास्तथा पौरेषु नित्यदा।
परमो ह्येष धर्मस्ते तस्मात्कीर्तिरनुत्तमा॥
यत्तु पौरजने राजन् धर्मेण समवाप्नुयात्।
अहं तु नानुशोचामि स्वशरीरं नरर्षभ॥
यथापवादः पौराणां तथैव रघुनन्दन।
पतिर्हि देवता नार्याः पतिर्बन्धुः पतिर्गुरुः॥
प्राणैरपि प्रियं तस्माद्भर्तुः कार्यं विशेषतः।
(वा० रा० ७।४८।१२—१८)

'हे राघव! आप जिस प्रकार मुझको तत्त्वसे शुद्ध समझते हैं, उसी प्रकार नित्य अपनेमें भक्तिवाली और अनुरक्त चित्तवाली भी समझियेगा! हे वीर! मैं जानती हूँ कि आपने लोकापवादको दूर करने और अपने कुलकी कीर्ति कायम रखनेके लिये ही मुझको त्याग दिया है, परंतु मेरे तो आप ही परमगति हैं। हे महाराज! आप जिस प्रकार अपने भाइयोंके साथ बर्ताव करते हैं, प्रजाके साथ भी वही बर्ताव कीजियेगा। हे राघव! यही आपका परम धर्म है और इसीसे उत्तम कीर्ति मिलती है। हे स्वामिन्! प्रजापर धर्मयुक्त शासन करनेसे ही पुण्य प्राप्त होता है। अतएव ऐसा कोई बर्ताव न कीजियेगा, जिससे प्रजामें अपवाद हो। हे रघुनन्दन! मुझे अपने शरीरके लिये तनिक भी शोक नहीं है; क्योंकि स्त्रीके लिये पति ही परम देवता है, पति ही परम बन्धु है और पति ही परम गुरु है। नित्य प्राणाधिक प्रिय पतिका प्रिय कार्य करना और उसीमें प्रसन्न रहना, स्त्रीका यह स्वाभाविक धर्म ही है।' क्या ही मार्मिक शब्द हैं! धन्य सती सीता, धन्य धर्मप्रेम

और प्रजावत्सलता ! धन्य भारतका सती-धर्म !! धन्य भारतीय देवियोंका अपूर्व त्याग !!!

सीताजी कहने लगीं—'हे लक्ष्मण ! मेरा यह संदेश महाराजसे कह देना । भाई ! एक बात और है, मैं इस समय गर्भवती हूँ, तुम मेरी ओर देखकर इस बातका निश्चय करते जाओ । कहीं संसारमें लोग यह अपवाद न करें कि सीता वनमें जाकर संतान प्रसव करती है।'

सीताके इन वचनोंको सुनकर दीनचित्त लक्ष्मण व्याकुल हो उठे और सिर झुकाकर सीताके पैरोंमें गिर फुफकार मारकर जोर-जोरसे रोने लगे । फिर उठकर सीताजीकी प्रदक्षिणा की और दो घड़ीतक ध्यान करनेके बाद बोले—'माता ! हे पापरहिता सीते ! तुम क्या कह रही हो ? मैंने आजतक तुम्हारे चरणोंका ही दर्शन किया है, कभी स्वरूप नहीं देखा । आज भगवान् रामके परोक्ष मैं तुम्हारी ओर कैसे ताक सकता हूँ ?' तदनन्तर प्रणाम करके वह रोते हुए नावपर सवार होकर लौट गये और इधर सीता—दुःख-भारसे पीड़ित आदर्श पतिव्रता सती सीता—अरण्यमें गला फाड़कर रोने लगी। सीताजीके रुदनको सुनकर वाल्मीकिजी उसे अपने आश्रममें ले गये।

इस प्रसङ्गसे जो कुछ सीखा जा सकता है वही भारतीय देवियोंका परम धर्म है । सीताजीके उपर्युक्त शब्दोंका नित्य पाठ करना चाहिये और उनके रहस्यको अपने जीवनमें उतारना चाहिये । लक्ष्मणके बर्तावसे भी हमलोगोंको यह शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये कि पदमें माताके समान होनेपर भी पुरुष किसी भी स्त्रीके अङ्ग न देखे । इसी प्रकार स्त्रियाँ भी अपने अङ्ग किसीको न दिखावें । वाल्मीकिजीके

आश्रममें सीता ऋषिकी आज्ञासे अन्तःपुरमें ऋषिपत्नीके पास रही, इससे यह सीखना चाहिये कि यदि कभी दूसरोंके घर रहनेका अवसर आवे तो स्त्रियोंको अन्तःपुरमें रहना चाहिये। और इसी प्रकार किसी दूसरी स्त्रीको अपने यहाँ रखना हो तो स्त्रियोंके साथ अन्तःपुरमें ही रखना चाहिये।

पाताल-प्रवेश

जो स्त्री अपने धर्मका प्राणपणसे पालन करती है, अन्तमें उसका परिणाम अच्छा ही होता है। जब भगवान् श्रीरामचन्द्र अश्वमेध-यज्ञ करते हैं, और लव-कुशके द्वारा रामायणका गान सुनकर मुग्ध हो जाते हैं, तब लव-कुशकी पहचान होती है और श्रीरामकी आज्ञासे सीता वहाँ बुलायी जाती है। सीता श्रीरामका ध्यान करती हुई सिर नीचा किये हाथ जोड़कर वाल्मीकि ऋषिके पीछे-पीछे रोती हुई आ रही है। वाल्मीकि मुनि सभामें आकर जो कुछ कहते हैं, उससे सारा लोकापवाद मिट जाता है और सारा देश सीतारामके जय-जयकारसे ध्वनित हो उठता है। वाल्मीकिने सीताके निष्पाप होनेकी बात कहते हुए यहाँतक कह डाला कि 'मैंने हजारों वर्षोंतक तप किया है; मैं उस तपकी शपथ खाकर कहता हूँ कि यदि सीता दुष्ट आचरणवाली हो तो मेरे तपके सारे फल नष्ट हो जायँ। मैं अपनी दिव्यदृष्टि और ज्ञानदृष्टिद्वारा विश्वास दिलाता हूँ कि सीता परम शुद्धा है।' वाल्मीकिकी प्रतिज्ञाको सुनकर और सीताको सभामें आयी हुई देखकर भगवान् श्रीराम गद्गद हो गये और कहने लगे कि हे महाभाग! मैं जानता हूँ कि जानकी शुद्धा है, लव-कुश मेरे ही पुत्र हैं, मैं राजधर्म-पालनके लिये

ही प्रिया सीताका त्याग करनेको बाध्य हुआ था। अतएव आप मुझे क्षमा करें।'

उस सभामें ब्रह्मा, आदित्य, वसु, रुद्र, विश्वेदेव, वायु, साध्य, महर्षि, नाग, सुपर्ण और सिद्ध आदि बैठे हुए हैं। उन सबके सामने राम फिर यह कहते हैं कि 'इस जगत्‌में वैदेही शुद्ध है और इसपर मेरा पूर्ण प्रेम है'—

शुद्धायां जगतो मध्ये वैदेह्यां प्रीतिरस्तु मे ॥

(वा० रा० ७। ९७।५)

इतनेमें काषायवस्त्र धारण किये हुए सती सीता नीची गर्दन कर श्रीरामका ध्यान करती हुई भूमिकी ओर देखने लगी और बोली—

यथाहं राघवादन्यं मनसापि न चिन्तये।
तथा मे माधवी देवी विवरं दातुमर्हति ॥
मनसा कर्मणा वाचा यथा रामं समर्चये।
तथा मे माधवी देवी विवरं दातुमर्हति ॥
यथैतत्सत्यमुक्तं मे वेद्मि रामात्परं न च।
तथा मे माधवी देवी विवरं दातुमर्हति ॥

(वा० रा० ७। ९७। १४-१६)

'यदि मैंने रामको छोड़कर किसी दूसरेका कभी मनसे भी चिन्तन न किया हो तो हे माधवी देवी! तू मुझे अपनेमें ले ले' हे पृथ्वी माता! मुझे मार्ग दे। यदि मैंने मन, कर्म और वाणीसे केवल रामका ही पूजन किया हो तो हे माधवी देवी! मुझे अपनेमें ले ले, हे पृथ्वी माता! मुझे मार्ग दे। यदि मैं रामके सिवा और किसीको भी न जानती

होऊँ यानी केवल रामको ही भजनेवाली हूँ यह सत्य हो तो 'हे माधवी देवी ! मुझे अपनेमें स्थान दे और हे पृथ्वी माता ! मुझे मार्ग दे ।'

इन तीन शपथोंके करते ही अकस्मात् धरती फट गयी, उसमेंसे एक उत्तम और दिव्य सिंहासन निकला, दिव्य सिंहासनको दिव्य देह और दिव्य वस्त्राभूषणधारी नागोंने अपने मस्तकपर उठा रक्खा था और उसपर पृथ्वी देवी बैठी हुई थीं । पृथ्वी देवीने सीताका दोनों हाथोंसे आलिङ्गन किया और 'हे पुत्री ! तेरा कल्याण हो' कहकर उसे गोदमें बैठा लिया । इतनेमें सबके देखते-देखते सिंहासन रसातलमें प्रवेश कर गया । सती सीताके जय-जयकारसे त्रिभुवन भर गया ।

यहाँ यह प्रश्न होता है कि 'भगवान् श्रीराम बड़े दयालु और न्यायकारी थे, इन्होंने निर्दोष जानकर भी सीताका त्याग क्यों किया ?' इसमें प्रधानतः निम्नलिखित पाँच कारण हैं, इन कारणोंपर ध्यान देनेसे सिद्ध हो जायगा कि रामका यह कार्य सर्वथा उचित था ।

सीता-परित्याग-के हेतु

१—रामके समीप इस प्रकारकी बात आयी थी—

अस्माकमपि दारेषु सहनीयं भविष्यति ।
यथा हि कुरुते राजा प्रजा तमनुवर्तते ॥

(वा० रा० ७ । ४३ । १९)

—कि रामने रावणके घरमें रहकर आयी हुई सीताको घरमें रख लिया, इसलिये अब यदि हमारी स्त्रियाँ भी दूसरोंके यहाँ रह आवेंगी तो हम भी इस बातको सह लेंगे, क्योंकि राजा जो

कुछ करता है, प्रजा उसीका अनुसरण करती है।' प्रजाकी इस भावनासे भगवान्‌ने यह सोचा कि सीताका निर्दोष होना मेरी बुद्धिमें है। साधारण लोग इस बातको नहीं जानते। वे तो इससे यही शिक्षा लेंगे कि परपुरुषके घर बिना बाधा स्त्री रह सकती है, ऐसा होनेसे स्त्री-धर्म बिल्कुल बिगड़ जायगा, प्रजामें वर्णसंकरताकी वृद्धि होगी, अतएव प्रजाके धर्मकी रक्षाके लिये प्राणाधिका सीताका त्याग कर देना चाहिये। सीताके त्यागमें रामको बड़ा दुःख था, उनका हृदय विदीर्ण हो रहा था। उनके हृदयकी दशाका पूरा अनुभव तो कोई कर ही नहीं सकता, किंतु वाल्मीकि-रामायण और उत्तररामचरितको पढ़नेसे किंचित् दिग्दर्शन हो सकता है। श्रीरामने यहाँ प्रजाधर्मकी रक्षाके लिये व्यक्तिधर्मका बलिदान कर दिया। प्रजारञ्जनके यज्ञानलमें आत्मस्वरूपा सीताकी आहुति दे डाली! इससे उनके प्रजाप्रेमका पता लगता है। सीता राम हैं और राम सीता हैं, शक्ति और शक्तिमान् मिलकर ही जगत्‌का नियन्त्रण करते हैं, अतएव सीताके त्यागमें कोई आपत्ति नहीं। इस लोकसंग्रहके हेतुसे भी सीताका त्याग उचित है।

२—चाहे थोड़ी ही संख्यामें हो सीताका झूठा अपवाद करनेवाले लोग थे। यह अपवाद त्यागके बिना मिट नहीं सकता था और यदि सीता वाल्मीकिके आश्रममें रहकर उनके द्वारा प्रतिज्ञाके साथ शुद्ध न कही जाती और पृथ्वीमें न समाती तो शायद यह अपवाद मिटता भी नहीं, सम्भव है और बढ़ जाता और सीताका नाम आज जिस भावसे लिया जाता है शायद वैसे न लिया जाता। इस हेतुसे भी सीताका त्याग उचित है।

३—सीता श्रीरामकी परम भक्ता थी, उनकी आश्रिता थी, उनकी परम प्यारी अर्द्धाङ्गिनी थी, ऐसी परम पुनीता सतीको निष्ठुरताके साथ त्यागनेका दोष भगवान् श्रीरामने अपने ऊपर इसीलिये ले लिया कि इससे सीताके गौरवकी वृद्धि हुई, सीताका झूठा कलंक भी मिट गया और सीता जगत्पूज्या बन गयी। भगवान् अपने भक्तोंका गौरव बढ़ानेके लिये अपने ऊपर दोष ले लिया करते हैं और यही यहाँपर भी हुआ।

४—अवतारका लील-कार्य प्रायः समाप्त हो चुका था, देवतागण सीताजीको इस बातका संकेत कर गये थे। अध्यात्मरामायणमें लिखा है कि 'दस हजार वर्षतक मायामनुष्यरूपधारी भगवान् विधिपूर्वक राज्य करते रहे और सब लोग उनके चरणकमलोंको पूजते रहे। भगवान् श्रीराम राजर्षि परम पवित्र एकपत्नीव्रती थे और लोकसंग्रहके लिये गृहस्थके सब धर्मोंका यथाविधि पालन करते थे। पतिप्राणा सीताजी प्रेम, अनुकूल आचरण, नम्रता, इन्द्रियोंका दमन, लज्जा और प्रतिकूल आचरणमें भय आदि गुणोंके द्वारा भगवान्का भाव समझकर उनके मनको प्रसन्न करती थीं। एक समय श्रीराम पुष्प-वाटिकामें बैठे हुए थे और सीताजी उनके कोमल चरणोंको दबा रही थीं। सीताजीने एकान्त देखकर भगवान्से कहा कि 'हे देवदेव! आप जगत्के स्वामी, परमात्मा, सनातन, सच्चिदानन्दघन और आदि-मध्यान्तरहित तथा सबके कारण हैं। हे देव! उस दिन इन्द्रादि देवताओंने मेरे पास आकर स्तुति करते हुए यह कहा कि 'हे जगन्माता! तुम भगवान्की चित्-शक्ति हो, तुम पहले वैकुण्ठ पधारनेकी कृपा

करो तो भगवान् राम भी वैकुण्ठ पधारकर हमलोगोंको सनाथ करेंगे।' देवताओंने जो कुछ कहा था सो मैंने निवेदन कर दिया है। मैं कोई आज्ञा नहीं करती, आप जैसा उचित समझें वैसा करें। क्षणभर सोचकर भगवान्ने कहा कि—

देवि जानामि सकलं तत्रोपायं वदामि ते।
कल्पयित्वा मिषं देवि लोकवादं त्वदाश्रयम्॥
त्यजामि त्वां वने लोकवादाद्भीत इवापरः।
भविष्यतः कुमारौ द्वौ वाल्मीकेराश्रमान्तिके॥
इदानीं दृश्यते गर्भः पुनरागत्य मेऽन्तिकम्।
लोकानां प्रत्ययार्थं त्वं कृत्वा शपथमादरात्॥
भूमेर्विवरमात्रेण वैकुण्ठं यास्यसि द्रुतम्।
पश्चादहं गमिष्यामि एष एव सुनिश्चयः॥

(अ० रा० ७।४।४१-४४)

'हे देवि! मैं सब कुछ जानता हूँ और तुमको एक उपाय बतलाता हूँ। हे सीते! मैं तुम्हारे लोकापवादका बहाना रखकर साधारण मनुष्यकी तरह लोकापवादके भयसे तुमको वनमें त्याग दूँगा। वहाँ वाल्मीकिके आश्रममें तुम्हारे दो पुत्र होंगे, क्योंकि इस समय तुम्हारे गर्भ है। तदनन्तर तुम मेरे पास आ लोगोंको विश्वास दिलानेके लिये बड़े आदरसे—शपथ खा पृथ्वीके विवरमें प्रवेश कर तुरंत वैकुण्ठको चली जाओगी और पीछेसे मैं भी आ जाऊँगा। यही निश्चय है।' यह भी सीताके त्यागका एक कारण है।

५—पूर्वकालमें एक समय युद्धमें देवताओंसे हारकर भागे हुए दैत्य भृगुजीकी स्त्रीके आश्रयमें चले गये और ऋषि-पत्नीसे अभय

प्राप्तकर निर्भय हो वहाँ रहने लगे थे। 'दैत्योंको भृगुपत्नीने आश्रय दिया' इस बातसे कुपित होकर भगवान् विष्णुने उसका चक्रसे सिर काट डाला था। पत्नीको इस प्रकार मारे जाते देखकर भृगु ऋषिने क्रोधमें हतज्ञान होकर भगवान्‌को शाप दिया था कि 'हे जनार्दन! आपने कुपित होकर मेरी अवध्य पत्नीको मार डाला, इसलिये आपको मनुष्यलोकमें जन्म लेना होगा और दीर्घकालतक पत्नी-वियोग सहना पड़ेगा।' भगवान्‌ने लोकहितके लिये इस शापको स्वीकार किया और उसी शापको सत्य करनेके लिये अपनी अभिन्न शक्ति सीताको लीलासे ही वनमें भेज दिया।

इत्यादि अनेक कारणोंसे सीताका निर्वासन रामके लिये उचित ही था। असली बात तो यह है कि भगवान् राम और सीता साक्षात् नारायण और शक्ति हैं। एक ही महान् तत्त्वके दो रूप हैं। उनकी लीला वे ही जानें, हमलोगोंको आलोचना करनेका कोई अधिकार नहीं। हमें तो चाहिये कि उनकी दिव्य लीलाओंसे लाभ उठावें और अपने मनुष्य-जीवनको पवित्र करें।

मानव-लीलामें श्रीसीताजी इस बातको प्रमाणित कर गयीं कि विना दोष भी यदि स्वामी स्त्रीको त्याग दे तो स्त्रीका कर्तव्य है कि इस विपत्तिमें दुःखमय जीवन बिताकर भी अपने पातिव्रत्यधर्मकी रक्षा करे, परिणाम उसका कल्याण ही होगा।

उपसंहार

सत्य और न्याय अन्तमें अवश्य ही शुभ फल देंगे, सीताने अपने जीवनमें कठोर परीक्षाएँ देकर स्त्रीमात्रके लिये यह मर्यादा स्थापित कर दी कि जो स्त्री

आपत्तिकालमें सीताकी भाँति धर्मका पालन करेगी, उसकी कीर्ति संसारमें सदाके लिये प्रकाशित हो जायगी। सीतामें पतिभक्ति, सीताका भरत, लक्ष्मण और शत्रुघ्नके साथ निर्दोष वात्सल्य-प्रेम, सासुओंके प्रति सेवाभाव, सेवकोंके साथ प्रेमका बर्ताव, नैहर और ससुरालमें सबके साथ आदर्श प्रीति और सबका सम्मान करनेकी चेष्टा, ऋषियोंकी सेवा, लव-कुश-जैसे वीर पुत्रोंका मातृत्व, उनको शिक्षा देनेकी पटुता, साहस, धैर्य, तप, वीरत्व और आदर्श धर्मपरायणता आदि सभी गुण पूर्ण विकसित और सर्वथा अनुकरणीय हैं। हमारी जो माताएँ और बहिनें प्रमाद, मोह और आसक्तिको त्यागकर सीताके चरित्रका अनुकरण करेंगी उनके अपने कल्याणमें तो शङ्का ही क्या है, वे अपने पति और पुत्रोंको भी तार सकती हैं। अधिक क्या, जिसपर उनकी दया हो जायगी उसका भी कल्याण होना सम्भव है। ऐसी सती-शिरोमणि पतिव्रता स्त्री दर्शन और पूजनके योग्य है। मनुष्योंके द्वारा ही नहीं वल्कि देवताओंके द्वारा भी वह पूजनीय है और अपने चरित्रसे त्रिलोकीको पवित्र करनेवाली है।

यद्यपि श्रीसीताजी साक्षात् भगवती और परमात्माकी शक्ति थीं तथापि उन्होंने अपने मनुष्य-जीवनमें लोकशिक्षाके लिये जो चरित्र किया है वे सब ऐसे हैं कि जिनका अनुकरण सभी स्त्रियाँ कर सकती हैं। संसारकी मर्यादाके लिये ही सीता-रामका अवतार था। अतएव उनके चरित्र और उपदेश अलौकिक न होकर ऐसे व्यावहारिक थे कि जिनको काममें लाकर हमलोग लाभ उठा सकते हैं। जो स्त्री या पुरुष यह कहकर कर्तव्यसे छूटना चाहते हैं कि

'श्रीसीता-राम साक्षात् शक्ति और ईश्वर थे, हम उनके चरित्रोंका अनुकरण नहीं कर सकते !' वे कायर और अभक्त हैं। वे श्रीरामको ईश्वरका अवतार केवल कथनभरके लिये ही मानते हैं। सच्चे भक्तोंको तो श्रीराम-सीताके चरित्रका यथार्थ अनुकरण ही करना चाहिये।

तेईस प्रश्न

एक सज्जनके प्रश्न हैं—(प्रश्नोंकी भाषा कुछ सुधार दी गयी है, भाव वही हैं। लेख बड़ा होनेसे बचनेके लिये उत्तर संक्षेपमें ही दिया गया है।)

प्र०—जीव कितनी जातिके होते हैं और जीवोंके कितने भेद हैं?

उ०—आत्मरूपसे जीव एक ही है। परंतु शरीरोंके सम्बन्धभेदसे उसकी अनन्त जातियाँ हैं। शास्त्रोंमें स्वेदज, अण्डज, उद्भिज्ज और जरायुजभेदसे चौरासी लाख जातियाँ मानी गयी हैं।

प्र०—जीवके कर्ता-हर्ता भगवान् हैं या नहीं?

उ०—शरीरके कर्ता-हर्ता तो ईश्वर हैं। जीव आत्मरूपसे अनादि है, उसका कोई कर्ता नहीं।

प्र०—जीव और कर्म एक ही वस्तु है या भिन्न-भिन्न?

उ०—जीव और कर्म भिन्न-भिन्न वस्तु है। जीव चेतन और नित्य है। कर्म जड़ और अनित्य है।

प्र०—जीवके कर्म साथ हैं या नहीं ?

उ०—जीवके कर्म अनादि हैं और जबतक उसको सम्यक् ज्ञान नहीं हो जाता, तबतक साथ रहते हैं ।

प्र०—जीवके कर्म जन्मसे साथ हैं या अनादि हैं ?

उ०—इस प्रश्नका उत्तर चौथे उत्तरमें दिया जा चुका है । विशेष देखना हो तो 'तत्त्व-चिन्तामणि भाग १' में प्रकाशित 'मनुष्य कर्म करनेमें स्वतन्त्र है या परतन्त्र ?' 'कर्मका रहस्य' शीर्षक लेख देखने चाहिये ।

प्र०—पुण्य और धर्म एक ही वस्तु है या दो ?

उ०—पुण्य और धर्म भिन्न-भिन्न है । पुण्य उस सुकृतको कहते हैं जो धर्मका एक प्रधान अङ्ग है और धर्म कर्तव्य-पालनको कहते हैं । धर्मके सम्बन्धमें विशेष जानना हो तो गीताप्रेससे प्रकाशित 'धर्म क्या है ?' नाम्नी पुस्तिका देखनी चाहिये ।

प्र०—पाप और अधर्म एक ही वस्तु है या दो ?

उ०—पाप और अधर्म भिन्न-भिन्न है । दुष्कृत यानी निषिद्ध कर्मको पाप कहते हैं जो अधर्मका एक प्रधान अङ्ग है और कर्तव्य-विरुद्ध कर्म करने अथवा कर्तव्यके परित्याग करनेको अधर्म कहते हैं ।

प्र०—धर्म हिंसामें है या अहिंसामें ?

उ०—धर्म अहिंसामें है, परंतु ऐसी क्रिया जो देखनेमें हिंसाके सदृश प्रतीत होती है, पर जो निःस्वार्थभावसे परिणाममें

(जिसके प्रति हिंसा-सी दीखती है) उस व्यक्तिके हितके लिये अथवा लोक-हितके लिये की जाती है, वह वास्तवमें हिंसा नहीं है ।

प्र०—दया कितने प्रकारकी होती है तथा कौन-सी दयाके पालनसे पुण्य होता है ?

उ०—मेरी समझसे दया मुख्यतः एक ही प्रकारकी होती है । दुखी जीवोंका किसी प्रकारसे भी हित हो, ऐसे विशुद्ध भावका नाम दया है ।

प्र०—किन लक्षणोंवाले ब्राह्मणको दान देनेसे पुण्य होता है ?

उ०—शास्त्रोंके ज्ञाता और गीताकथित ब्राह्मणके स्वाभाविक लक्षणोंसे युक्त ब्राह्मण सब प्रकारसे दानके पात्र हैं । गीतामें ब्राह्मणके लक्षण यह बतलाये हैं—

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च ।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥
(१८ । ४२)

'अन्तःकरणका निग्रह, इन्द्रियोंका दमन, बाहर-भीतरकी शुद्धि, धर्मके लिये कष्टसहनरूप तप, क्षमा, मन-इन्द्रियाँ और शरीरकी सरलता, आस्तिक बुद्धि, शास्त्र-ज्ञान और परमात्मतत्त्वका अनुभव—ये ब्राह्मणके स्वाभाविक कर्म हैं ।'

प्र०—सुपात्र साधुके लक्षण क्या हैं ? और उनके कैसे कर्म होते हैं ?

उ०—साधुके लक्षण और कर्म ऐसे होने चाहिये—

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम् ।

आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहङ्कार एव च ।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥
मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥
अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥

(गीता १३ । ७ –११)

'श्रेष्ठताके अभिमानका अभाव, दम्भाचरणका अभाव, प्राणिमात्रको किसी प्रकार भी न सताना, क्षमाभाव, मन-वाणीकी सरलता, श्रद्धा-भक्तिसहित गुरुकी सेवा, बाहर-भीतरकी शुद्धि, अन्तःकरणकी स्थिरता, मन और इन्द्रियोंसहित शरीरका निग्रह, इस लोक और परलोकके सम्पूर्ण भोगोंमें आसक्तिका अभाव, अहंकारका अभाव, जन्म-मृत्यु-जरा-रोग आदिमें बारंबार दुःख-दोषोंका विचार करना, प्रिय-अप्रियकी प्राप्तिमें सदा ही चित्तका सम रहना अर्थात् मनके अनुकूल तथा प्रतिकूलकी प्राप्तिमें हर्ष-शोकादि विकारोंका न होना। परमेश्वरमें एकीभावसे स्थितिरूप ध्यानयोगके द्वारा अव्यभिचारिणी भक्ति,* एकान्त और शुद्ध देशमें रहनेका स्वभाव, विषयासक्त मनुष्योंके समुदायमें प्रेम न होना, अध्यात्मज्ञानमें नित्य स्थिति और तत्त्वज्ञानके अर्थरूप परमात्माको सर्वत्र देखना—ये ज्ञानके (साधन) हैं, जो इससे

* केवल एक सर्वशक्तिमान् परमेश्वरको ही अपना स्वामी मानते हुए स्वार्थ और अभिमानका त्याग करके श्रद्धा और भावसहित परम प्रेमसे भगवान्‌का निरन्तर चिन्तन करना अव्यभिचारिणी भक्ति है ।

विपरीत है, वही अज्ञान है; ऐसा कहा गया है। इनके अतिरिक्त भगवान्ने अपने प्यारे भक्तोंके निम्नलिखित लक्षण और कर्म बतलाये हैं—

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहङ्कारः समदुःखसुखः क्षमी॥
सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥
यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः॥
अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥
यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः॥
समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः॥
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः॥
ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः॥

(गीता १२। १३—२०)

'(जो पुरुष) सब भूतोंमें द्वेषभावसे रहित, स्वार्थरहित सबका प्रेमी, हेतुरहित दयालु, ममतासे रहित, अहंकारादिसे रहित, सुख-दुःखोंकी प्राप्तिमें सम और क्षमावान् अर्थात् अपराध करनेवालेको भी अभय देनेवाला है, जो ध्यानयोगमें युक्त हुआ निरन्तर लाभ-हानिमें

संतुष्ट है तथा मन और इन्द्रियोंसहित शरीरको वशमें किये हुए मुझ (भगवान्) में दृढ़ निश्चयवाला है, वह मुझमें अर्पण किये हुए मन और बुद्धिवाला मेरा भक्त मुझको प्रिय है। जिससे कोई भी जीव उद्वेगको प्राप्त नहीं होता और जो स्वयं भी किसी जीवसे उद्वेगको प्राप्त नहीं होता तथा जो हर्ष, ईर्ष्या, भय और उद्वेगसे रहित है, वह भक्त मुझको प्रिय है। जो पुरुष आकाङ्क्षासे रहित, बाहर-भीतरसे शुद्ध और चतुर है अर्थात् जिस कामके लिये आया था उसको पूरा कर चुका है एवं जो पक्षपातसे रहित और दुःखोंसे छूटा हुआ है वह सर्व आरम्भोंका त्यागी अर्थात् मन, वाणी, शरीर-द्वारा प्रारब्धसे होनेवाले सम्पूर्ण स्वाभाविक कर्मोंमें कर्तापनके अभिमानका त्यागी मेरा भक्त मुझको प्रिय है। जो न कभी हर्षित होता है, न द्वेष करता है, न शोक करता है, न कामना करता है तथा जो शुभ और अशुभ सम्पूर्ण कर्मोंके फलका त्यागी है, वह भक्तियुक्त पुरुष मुझको प्रिय है। जो शत्रु-मित्र और मान-अपमानमें सम है तथा जो सर्दी-गर्मी और सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंमें सम है वह सब संसारमें आसक्तिसे रहित है, जो निन्दा-स्तुतिको समान समझनेवाला और मननशील है, जो जिस-किसी प्रकारसे भी शरीरका निर्वाह होनेमें सदा ही संतुष्ट है, अपने रहनेके स्थानमें ममतासे रहित है, वह स्थिर-बुद्धिवाला भक्तिमान् पुरुष मुझको प्रिय है। जो मेरे परायण हुए श्रद्धायुक्त पुरुष इस उपर्युक्त धर्ममय अमृतको निष्कामभावसे सेवन करते हैं, वे भक्त मुझको अतिशय प्रिय हैं।

ऐसे भगवान्के प्यारे पुरुष ही वास्तवमें सर्वथा सुपात्र साधु हैं।

प्र०—भगवान् किसे कहते हैं ? भगवान्‌के क्या लक्षण हैं ?

उ०—भगवान् वास्तवमें अनिर्वचनीय हैं, जिसको भगवान्‌के स्वरूपका तत्त्वसे ज्ञान है, वही उनको जानता है, परंतु वह भी वाणीसे उनका वर्णन नहीं कर सकता। भगवान्‌के सम्बन्धमें विस्तारसे जानना हो तो गीताप्रेससे प्रकाशित 'भगवान् क्या हैं ?' नामक पुस्तकको ध्यानपूर्वक पढ़ना चाहिये।

प्र०—सुपात्र मनुष्यके क्या लक्षण हैं ?

उ०—सुपात्र मनुष्य वही है, जिसमें दैवी सम्पदाके गुण विकसित हों। दैवी-सम्पत्तिके गुणोंके विषयमें भगवान्‌ने कहा है—

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत॥

(गीता १६। १-३)

'हे अर्जुन! सर्वथा भयका अभाव, अन्तःकरणकी अच्छी प्रकारसे स्वच्छता, तत्त्वज्ञानके लिये ध्यानयोगमें निरन्तर दृढ़ स्थिति, सात्त्विक दान, इन्द्रियोंका दमन, भगवत्पूजा और अग्निहोत्रादि उत्तम कर्मोंका आचरण, वेद-शास्त्रोंके पठन-पाठनपूर्वक भगवत्‌के नाम और गुणोंका कीर्तन, स्वधर्म-पालनके लिये कष्ट-सहन, शरीर और इन्द्रियोंसहित अन्तःकरणकी सरलता, मन, वाणी और शरीरसे किसी प्रकार

भी किसीको कष्ट नहीं देना, सबसे यथार्थ और प्रियभाषण, अपना अपकार करनेवालेपर भी क्रोध न होना, कर्मोंमें कर्त्तापनके अभिमान-का त्याग, अन्तःकरणकी उपरामता अर्थात् चित्तकी चञ्चलताका अभाव, किसीकी भी निन्दा आदि न करना, सब भूतप्राणियोंमें हेतुरहित दया, इन्द्रियोंका विषयोंके साथ संयोग होनेपर भी आसक्तिका न होना, कोमलता, लोक और शास्त्रसे विरुद्ध आचरण करनेमें लज्जा, व्यर्थ चेष्टाओंका अभाव, तेज, क्षमा, धैर्य, बाहर-भीतरकी शुद्धि, किसीमें भी शत्रुभावका न होना और अपनेमें पूज्यताके अभिमानका अभाव दैवी-सम्पदाको प्राप्त हुए पुरुषके ये (२६) लक्षण हैं।'

प्र०—मुक्ति-धर्म और सांसारिक धर्म एक है या दो? मनुष्यको कौन-से धर्मका पालन करना चाहिये, जिससे मुक्तिकी प्राप्ति हो?

उ०—क्रियाके स्वरूपसे अलग-अलग है। सांसारिक धर्म भी निष्कामभावसे किया जाय तो वह भी मुक्तिदायक हो सकता है। मुक्ति-धर्म तो मुक्तिदायक है ही। वर्णभेदके अनुसार सांसारिक धर्मका स्वरूप और निष्कामभावसे भगवत्-पूजाके रूपमें किये जानेपर परमसिद्धिरूप परमात्माकी प्राप्तिका विवेचन गीता १८वें अध्यायके श्लोक ४१ से ४६ तक और मुक्ति-धर्म यानी ज्ञाननिष्ठाका स्वरूप १८वें अध्यायके श्लोक ४९ से ५५ तक देखना चाहिये।

प्र०—स्वर्ग और देवताओंका भवन एक ही है या दो?

उ०—एक ही है, देवताओंके भिन्न-भिन्न लोकोंको ही स्वर्ग कहते हैं।

*

प्र०—किन-किन देवताओंका स्मरण करना चाहिये, जिससे जीवका निस्तार हो ?

उ०—परम दयालु, परम सुहृद्, परम प्रेमी, परम उदार, विज्ञानानन्दमय, नित्य, चेतन, अनन्त, शान्त, सर्वशक्तिमान्, सृष्टिकर्ता परमात्मदेव एक ही है। उसीको लोग ब्रह्म, विष्णु, शिव, ब्रह्मा, सूर्य, शक्ति, गणेश, अरिहन्त, बुद्ध, अल्लाह, जिहोवा, गाड आदि अनेक नामोंसे पुकारते हैं। इस भावनासे ऐसे परमात्माके किसी भी नाम-रूपका स्मरण-पूजन करनेसे जीवका निस्तार हो सकता है।

प्र०—जीव कौन-कौन-सी गतिमें जाते हैं ?

उ०—नीच कर्म करनेवाले तामसी पापी जीव नरकोंमें जाते हैं। नारकीय गतिके दो भेद हैं—स्थानविशेष और योनिविशेष। रौरव, महारौरव, कुम्भीपाक आदि नरकोंमें यमराजके द्वारा जो यातना मिलती है, वह स्थानविशेषकी गति है। और देव, पितर, मनुष्यके अतिरिक्त पशु, पक्षी, कीट, पतङ्ग आदिमें जन्म लेना योनिविशेषकी गति मानी जाती है। राजसी कर्म करनेवाले मनुष्य-योनिको प्राप्त होते हैं और सात्त्विक पुरुष ऊँची गति—देव-योनिमें जाते हैं। गीतामें भगवान् कहते हैं—

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः॥

(१४।१८)

'सत्त्वगुणमें स्थित हुए पुरुष स्वर्गादि उच्च लोकोंको जाते हैं, रजोगुणमें स्थित राजस पुरुष मध्यमें अर्थात् मनुष्यलोकमें ही रहते हैं एवं तमोगुणके कार्यरूप निद्रा, प्रमाद और आलस्यादिमें स्थित हुए तामस मनुष्य अधोगतिको अर्थात् कीट, पशु आदि नीच योनियोंको प्राप्त होते हैं।'

प्र०—स्वर्गमें गया हुआ जीव वापस आता है या नहीं? क्या कोई वापस आया है?

उ०—मुक्त होनेपर जीव वापस नहीं आते। स्वर्गमें गये हुए जीव वापस आते हैं। गीतामें कहा है—'तीनों वेदोंमें विधान किये हुए सकाम कर्म करनेवाले, सोमरसका पान करनेवाले, स्वर्ग-प्राप्तिके प्रतिबन्धक देवऋणरूप पापसे मुक्त हुए पुरुष मुझको यज्ञोंद्वारा पूजकर स्वर्गकी प्राप्ति चाहते हैं, वे पुरुष अपने पुण्योंके फलस्वरूप इन्द्रलोकको प्राप्त होकर स्वर्गमें दिव्य देवताओंके भोगोंको भोगते हैं और वे उस विशाल स्वर्गलोकको भोगकर पुण्य क्षीण होनेपर मृत्युलोकको प्राप्त होते हैं। इस प्रकार स्वर्गके साधनरूप तीनों वेदोंमें कहे हुए सकाम कर्मके शरण हुए भोगोंकी कामनावाले पुरुष बारंबार जाने-आनेमें ही लगे रहते हैं।' (९।२०-२१) इससे वापस आना सिद्ध है। प्राचीन-कालमें महाराजा त्रिशङ्कु, ययाति, नहुष आदि अनेक वापस आये हैं।

प्र०—ब्रह्मलोकमें गया हुआ जीव फिर इस संसारमें जन्म ले सकता है या नहीं?

उ०—निष्काम साधक जो अर्चिमार्गसे ब्रह्मलोकमें जाते हैं, वापस नहीं आते। वे क्रममुक्तिके द्वारा परमात्माके परमधाममें पहुँच जाते हैं। परंतु धूममार्गसे जानेवाले सकामी वापस आते हैं (गीता अध्याय ८ श्लोक २४ से २६ देखना चाहिये)। छान्दोग्य और बृहदारण्यक उपनिषद्में भी इसका विस्तारसे वर्णन है। विशेषरूपसे यह विषय समझना हो तो 'जीवसम्बन्धी प्रश्नोत्तर' शीर्षक लेख इसी पुस्तकमें आगे देखना चाहिये।

प्र०—मान लीजिये, किसी बीमार आदमीका रोग दो कबूतरोंका खून व्यवहार करनेसे दूर होता हो, इसमें कबूतर मारकर खून लगाना बतलानेवाले और मारकर खून लगानेवाले, इन दोनोंमेंसे किसको पुण्य हुआ और किसको पाप?

उ०—बीमारी आदिके लिये किसीके भी जीवकी हिंसा करनेवाले, बतलानेवाले और हिंसासे मिली हुई वस्तु काममें लानेवाले तीनों ही आसक्ति और स्वार्थ होनेके कारण पापके भागी होते हैं।

प्र०—एक अविवाहित मनुष्य पर-स्त्रीके पास जाता है, उसको पर-स्त्रीसे छुड़ाकर कोई उसका विवाह करा दे तो विवाह कराने और करनेवालेमेंसे कौन-सा पापका भागी हुआ और कौन-सा पुण्यका?

उ०—विवाहके योग्य पुरुषका शास्त्रानुकूल विवाह हो और विवाहके पश्चात् स्त्री-पुरुष न्याययुक्त गृहस्थाश्रमका पालन करें तो विवाह करने-करानेवाले दोनों ही पुण्यके भागी होते हैं।

प्र०—गति कितने प्रकारकी होती है ?

उ०—गति अर्थात् मुक्ति दो प्रकारकी होती है। शरीर रहते भी सम्यक् ज्ञान प्राप्त होनेपर जीवन्मुक्ति हो सकती है, जीता हुआ ही वह पुरुष मुक्त हो जाता है। इसीलिये उसको जीवन्मुक्त कहते हैं और उसके शरीरका कार्य भी प्रारब्धानुसार चलता रहता है। ऐसे जीवन्मुक्तकी स्थिति बतलाते हुए भगवान् कहते हैं—'हे अर्जुन ! जो पुरुष सत्त्वगुणके कार्यरूप प्रकाशको, जो रजोगुणके कार्यरूप प्रवृत्तिको तथा तमोगुणके कार्यरूप मोहको भी न तो प्रवृत्त होनेपर बुरा समझता है और न निवृत्त होनेपर उनकी आकाङ्क्षा ही करता है। जो साक्षीके सदृश स्थित हुआ गुणोंके द्वारा विचलित नहीं किया जा सकता और गुण ही गुणोंमें बर्तते हैं, ऐसा समझता हुआ सच्चिदानन्दघन परमात्मामें एकीभावसे स्थित रहता है, उस स्थितिसे कभी चलायमान नहीं होता और जो निरन्तर आत्मभावमें स्थित हुआ दुःख-सुखको समान समझनेवाला है तथा मिट्टी, पत्थर और सुवर्णमें समान भाववाला और धैर्यवान् है तथा जो प्रिय-अप्रियको बराबर समझता है, अपनी निन्दा-स्तुतिमें भी समान भाववाला है, मान-अपमानमें सम है, मित्र और वैरीके पक्षमें भी सम है, वह सम्पूर्ण आरम्भोंमें कर्त्तापनके अभिमानसे रहित हुआ पुरुष गुणातीत कहा जाता है।' (गीता १४। २२–२५) यह गुणातीत ही जीवन्मुक्त है। दूसरी विदेहमुक्ति मरणके अनन्तर होती है। अत्यन्त ऊँची स्थितिमें मरनेवालेकी यही गति होती है। गीतामें कहा है—

'स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥'

(२।७२)

'अन्तकालमें भी इस निष्ठामें स्थित होकर ब्रह्मानन्दको प्राप्त हो जाता है।'

प्र०—दान देनेवाले और दान लेनेवाले— इन दोनोंमें किसको पुण्य होता है और किसको पाप होता है।

उ०—आसक्ति और स्वार्थको त्यागकर सत्पात्रमें जो दान दिया-लिया जाता है, उसमें देने और लेनेवाले दोनोंको ही परम धर्म-लाभ होता है। स्वार्थबुद्धिसे लेनेवाले सुपात्रका पुण्य क्षय होता है और कुपात्रको नरककी प्राप्ति होती है। इसी प्रकार स्वार्थबुद्धिसे सुपात्रके प्रति दान देनेवालेको पुण्य और कुपात्रके प्रति देनेवालेको पाप होता है।

शङ्का-समाधान

प्र०—उद्देश्यहीनता एवं निष्काम कर्ममें क्या अन्तर है?

उ०—उद्देश्यहीन कर्म एवं निष्काम कर्म दो पृथक् वस्तु हैं। उद्देश्यहीन कर्म व्यर्थ होनेके कारण प्रमादस्वरूप, तमोगुणके कार्य एवं आत्माको हानि पहुँचानेवाले हैं। शास्त्रोंमें इनका निषेध किया गया है। पर निष्काम कर्म अन्तःकरणको पवित्र करनेवाले, परमात्माकी प्राप्तिमें सहायक एवं कर्मबन्धनसे छुड़ानेवाले हैं। निष्काम कर्म उद्देश्यहीन नहीं, पर फलेच्छारहित

अवश्य होते हैं। जिस प्रकार एक नौकर स्वामीकी आज्ञा-पालनको कर्तव्य जानकर, स्वामीको प्रसन्न करनेके लिये कर्म करता है, उसका उद्देश्य केवल मालिकको प्रसन्न करना और उसकी आज्ञा पालन करना है। इसके अतिरिक्त वह कर्मके किसी फलसे कोई सम्बन्ध नहीं रखता। फलका भागी तो मालिक ही होता है। इसी प्रकार परम पिता परमेश्वरकी आज्ञा पालन करते हुए, कर्मफलकी इच्छाको त्याग करके केवल भगवत्प्रीत्यर्थ कर्तव्यपालनस्वरूप किये हुए कर्म निष्काम कर्म होते हैं, इनमें आसक्ति और ममताको स्थान नहीं रहता।

प्र०—गन्तव्य स्थानके निश्चय बिना राह चलना कैसे सम्भव है? क्योंकि प्राय: देखा जाता है कि कोई भी कार्य लक्ष्य स्थिर किये बिना नहीं होते।

उ०—उत्तम उद्देश्य यानी परमात्माकी प्रसन्नताका लक्ष्य रखकर कर्म करने चाहिये। उद्देश्य रखना पाप नहीं। इच्छा, कामना, आसक्ति और ममता ही पापका मूल है।

प्र०—यदि कोई ईश्वरसे किसी वस्तुकी याचना न करके केवल ईश्वरभक्ति और ईश्वरप्रेमकी ही याचना करता है तो क्या इसको कामना नहीं कहेंगे? क्या यह माँग निष्काम कहलायेगी? धन-धान्यके याचक कौड़ीके याचक हैं और भक्त अमूल्य रत्नके याचक हैं। भक्तोंके लिये भक्ति सुख है और धन चाहनेवालेके लिये धन सुख है। हुए तो दोनों याचक ही, फिर भक्तोंमें निष्कामता कहाँ रही?

३०—जो प्रेम केवल प्रेमके लिये ही होता है वही विशुद्ध प्रेम है, उसके समान संसारमें और कोई पदार्थ नहीं है। इसी प्रेमका लक्ष्य कर जो स्वार्थरहित हो परमेश्वरसे प्रेम करता है, मुक्ति तो बिना चाहे ही उसके चरणोंमें लोटती है। इस प्रेमकी कामना निर्मल पवित्र कामना है, इस उद्देश्यसे किये जानेवाले कर्म सकाम नहीं होते। क्योंकि ईश्वरमें प्रेम होना किसी भी कर्मका फल नहीं है, यह तो कर्मोंके फलत्यागका फल है; निष्कामकर्मी कर्मोंके फलका त्याग करता है, पर वह त्यागके फलका त्याग नहीं करता। श्रीभरत और श्रीहनुमान् आदिने ईश्वरमें प्रेम होनेकी याचना की थी। अवश्य ही यह याचना थी, पर कर्मोंके फलकी याचना नहीं थी; इसीसे उनकी निष्कामतामें कोई दोष नहीं आया, वे सकाम नहीं समझे गये। क्योंकि सकाम कर्मोंका फल तो पुत्र-धनादि या स्वर्गादिकी प्राप्ति है, जो संसारमें फँसानेवाले हैं; ईश्वर-प्रेम या ईश्वर-प्राप्ति संसारसे उद्धार करनेवाले हैं।

'हाँ, त्यागके फलका त्याग और भी श्रेष्ठ है; पर वह साधककी समझमें आना कठिन है, उसे तो सिद्ध पुरुष ही समझ सकते हैं। ऐसा त्याग ईश्वर और ईश्वर-प्राप्त भक्त ही कर सकते हैं। तुलसीदासजीने कहा भी है—

हेतु रहित जग जुग उपकारी। तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी॥

अतः प्रेमका भिखारी बननेमें कोई आपत्ति नहीं, प्रेमका भिखारी तो हम भगवान्‌को भी कह सकते हैं। कोई मनुष्य किसीसे किस

बातकी इच्छा न रखकर हेतुरहित प्रेम करे तो वह प्रशंसाका पात्र है, फिर उस परम प्यारे परमेश्वरसे प्रेम करना तो बहुत ही प्रशंसनीय है। इस प्रेमके त्यागकी बात भगवान्‌ने कहीं नहीं कही, इसे तो धारण करनेयोग्य ही बतलाया गया है।

प्र०—गीतामें 'जहि शत्रुम्' इत्यादि वचनोंमें भगवान् इच्छाको शत्रुवत् बतलाते हैं, पर 'धर्माविरुद्धो भूतेषु' इत्यादिमें धर्मानुकूल इच्छाको विधेय भी कहते हैं एवं बिना इच्छाके कार्य हो नहीं सकते, क्योंकि विद्याध्ययनकी इच्छाके बिना पढ़ा नहीं जाता, भूखके बिना खाया नहीं जाता, तो फिर धार्मिक कार्योंकी भी इच्छा करनी चाहिये या नहीं? यदि करनी चाहिये तो 'यक्ष्ये दास्यामि' इसको गीतामें अनुचित क्यों बतलाते हैं? क्या दान करना धर्म नहीं है? यदि सकाम कर्म मुक्तिदायक नहीं है तो 'धर्माविरुद्ध' यह क्यों कहा गया?

उ०—उद्देश्यपूर्तिके लिये की हुई इच्छा और फलप्राप्तिकी इच्छामें बहुत अन्तर है। उद्देश्यपूर्तिकी इच्छा फलेच्छा नहीं है। निष्काम कर्मोंमें फलकी इच्छाका त्याग है, कर्म करनेकी इच्छाका त्याग नहीं, अतः धार्मिक कर्म करनेकी इच्छा करनेमें कोई दोष नहीं, पर उन कर्मोंके फलकी इच्छा नहीं करनी चाहिये। भगवान्‌ने श्रीगीतामें कहा है—

एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम्॥

(१८।६)

'हे पार्थ ! यह यज्ञ, दान और तपरूप कर्म तथा और भी सम्पूर्ण श्रेष्ठ कर्म, आसक्तिको और फलोंको त्यागकर अवश्य करने चाहिये, ऐसा मेरा निश्चय किया हुआ उत्तम मत्त है।'

स्वार्थरहित उत्तम कर्म करनेकी इच्छा निर्मल पवित्र इच्छा है, यह कर्मोंको सकाम नहीं बनाती। इसको सकाम मानकर कर्म न करना तो भ्रममें पड़ना है, फिर उत्तम कर्म होंगे ही कैसे ? 'जहि शत्रुम्' इस श्लोकमें भगवान्‌ने जिस इच्छाका निषेध किया है, वह संशय और रागद्वेषमूलक इच्छा है, जिसका परिणाम पाप है। इस श्लोकके पूर्वका श्लोक 'अथ केन' (३ । ३६) जिसमें अर्जुनने शङ्का की है, देखनेसे ही इस बातका साफ पता चल जाता है। यह निन्दनीय इच्छा है, पर 'धर्माविरुद्धो' इस श्लोकके अनुसार जो धर्मानुकूल कामना है, उसकी भगवान्‌ने प्रशंसा ही की है। भगवान्‌में प्रेम करनेकी इच्छा या भगवान्‌में प्रेम होनेके लिये कर्म करनेकी इच्छा विशुद्ध इच्छा है, एवं भगवत्-प्राप्तिमें हेतु होनेके कारण उसको भगवान्‌ने अपना स्वरूप ही बतलाया है। स्वार्थरहित धर्मपालनकी इच्छा विधेय है और उसके फलकी इच्छा त्याज्य है। अतः विवेक-पूर्वक विचार करनेसे गीताका कथन कहीं असंगत प्रतीत नहीं होता। केवल श्लोकोंके अर्थभेदको न समझनेके कारण ही विरोध-सा प्रतीत होता है, समझ लेनेपर विरोध नहीं रहता।

'यक्ष्ये दास्यामि' इस श्लोकमें यज्ञ-दान आदिके करनेकी इच्छा-को निन्दनीय नहीं बतलाया गया है। अभिमान और अहंकारपूर्वक दम्भसे यज्ञ-दानादि करने केभाव प्रकाशित करनेवाले आसुरी प्रकृतिके

मनुष्योंकी निन्दा की गयी है । यज्ञ-दान अवश्य करने चाहिये, पर उनका विधिपूर्वक करना कर्तव्य है; केवल दिखौवा दम्भपूर्वक किये हुए यज्ञ-दानादि कर्म धर्म नहीं हैं । अतः इस श्लोकमें आसुरी भाववाले मनुष्योंकी निन्दा की गयी है, यज्ञ-दानादिकी नहीं ।

सकाम कर्म धर्मानुकूल होनेपर भी मुक्तिदायक नहीं—यह ठीक है, परंतु कामनारूप दोष निकाल देनेपर वे मुक्तिदायक हो जाते हैं । ऐसा ही करनेके लिये भगवान्‌ने कहा है । एवं धर्म-पालनकी इच्छा भगवान्‌का स्वरूप ही है । अतः 'धर्माविरुद्धो'—इस श्लोकमें कोई दोष नहीं आता ।

प्र०—प्रायः देखा जाता है कि मन जिस ओर जाता है इन्द्रियाँ भी उसी ओर जाती हैं, मनके बिना कर्मेन्द्रियाँ कोई काम नहीं कर सकतीं, यदि किया भी जाता है तो ठीक नहीं होता । यदि मन ही ईश्वरमें लगा रहा तो इन्द्रियाँ सांसारिक काम कैसे कर सकेंगी ? फिर 'तनसे काम, मनसे राम' 'मच्चित्ता मद्गतप्राणाः' के साथ 'युध्यस्व' कैसे होगा ?

उ०—यद्यपि आरम्भमें 'तनसे काम, मनसे राम' होना बहुत ही कठिन है, क्योंकि यह स्वाभाविक बात है कि इन्द्रियाँ जिस ओर जाती हैं, मन भी दौड़कर उसी तरफ चला जाता है, पर विशेष अभ्यास करनेसे इस स्वभावका परिवर्तन हो सकता है—यह आदत बदली जा सकती है । जिस प्रकार नटी अपने पैरोंके तलुओंमें सींग बाँधकर बाँसपर चढ़ जाती है और गाती-बजाती हुई रस्सीको हिलाते हुए उसी रस्सीपरसे दूसरे बाँसपर

चली जाती है, उसके प्रायः सब इन्द्रियोंसे ही अलग-अलग काम होते हुए भी मन पैरोंमें रहता है, यह उसकी साधनाका फल है। इसी प्रकार अभ्यास करनेसे मनुष्यका मन भी परमेश्वरमें रह सकता है एवं इन्द्रियोंके कार्योंमें बाधा उपस्थित नहीं होती। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्॥
(८।७)

'हे अर्जुन! तू सब समय निरन्तर मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर, इस प्रकार मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिसे युक्त हुआ निःसंदेह मुझको ही प्राप्त होगा।'

यदि ऐसा सम्भव न होता तो भगवान् इसका निर्देश ही कैसे करते? भगवान् तो यहाँ मन-बुद्धितक अर्पण करके युद्ध करनेको कह रहे हैं। यदि युद्ध करते हुए भी भगवान्‌में मन-बुद्धि लगाये जा सकते हैं तो दूसरे कामोंको करते हुए भगवान्‌में मन-बुद्धि लगानेमें कठिनता ही क्या है?

मनकी मुख्य वृत्तिको ईश्वरमें लगाकर गौणवृत्तिसे अन्य कार्योंका करना तो साधारण बात है, सहजसाध्य है। क्योंकि मनुष्योंमें प्रायः देखा जाता है कि वे मन दूसरी जगह रहते हुए, पुस्तक पढ़ते रहते एवं सुनकर लिखते रहते हैं। अतः इन्द्रियोंका कार्य मन दूसरी जगह रहते हुए भी हो सकता है। ईश्वरका तत्त्व जान लेनेपर तो ईश्वरमें नित्य-निरन्तर चित्त रहते हुए सम्पूर्ण इन्द्रियोंका कार्य

सुचारुरूपसे होनेमें कोई आपत्ति ही नहीं आती। जिस प्रकार सुवर्णके अनेक आभूषणोंको अनेक प्रकारसे देखते हुए भी सुनारकी सुवर्णबुद्धि नित्य बनी रहती है, वैसे ही परमेश्वरको जाननेवाले पुरुषकी सर्वत्र परमेश्वरबुद्धि निरन्तर बनी रहती है। गीतामें कहा है-

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते॥
(६।३१)

'इस प्रकार जो पुरुष एकीभावमें स्थित हुआ सम्पूर्ण भूतोंमें आत्मरूपसे स्थित मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेवको भजता है, वह योगी सब प्रकारसे बर्तता हुआ भी मुझमें बर्तता है, क्योंकि उसके अनुभवमें मेरे सिवा अन्य कुछ है ही नहीं।'

प्र०-क्या प्रारब्धके प्रकोपसे कर्म-स्वातन्त्र्यमें बाधा नहीं पड़ती? जीवसे 'जैसी हो भवितव्यता वैसी उपजै बुद्धि' इसके अनुसार जबरदस्ती काम करवाकर सजा क्यों दी जाती है? इसमें उसका क्या दोष है?

क्या गोस्वामीजीके—

'जैसी हो भवितव्यता वैसी उपजै बुद्धि'

एवं—

सो परत्र दुख पावइ सिर धुनि धुनि पछिताइ।
कालहि कर्महि ईस्वरहि मिथ्या दोस लगाइ॥

क्या इन दोनोंमें आपसमें विरोध नहीं पड़ता?

उ०—प्रारब्धके प्रकोपसे कर्मस्वातन्त्र्यमें विशेष बाधा नहीं पड़ती, क्योंकि सुख-दुःख आदिकी प्राप्तिमें हेतुभूत स्त्री-पुत्रादिकी प्राप्ति और नाशमें ही प्रारब्धकी प्रधानता है। नवीन पुण्य-पापके करनेमें प्रारब्धकी प्रधानता नहीं समझी जाती।

'जैसी हो भवितव्यता वैसी उपजै बुद्धि', 'मतिरुत्पद्यते तादृग् यादृशी भवितव्यता', 'करतलगतमपि नश्यति यस्य भवितव्यता नास्ति'—ये कथन प्रारब्धकृत सुख-दुःखादिके भोग करानेके विषयहीमें कहे गये हैं। नवीन कर्मोंसे इनका कोई सम्बन्ध नहीं है। नवीन कर्म करनेमें तो राग-द्वेषादि ही हेतु हैं और उनका चेष्टा करनेसे नाश हो सकता है। अतः नवीन कर्मोंमें मनुष्यकी स्वतन्त्रता है और इसीलिये यह उनके फलका भागी समझा जाता है। ईश्वर या प्रारब्धकी इसमें कोई जबरदस्ती नहीं है।

तुलसीदासजीके दोनों दोहे युक्तिसंगत एवं न्याययुक्त हैं। इन दोनोंका आपसमें कोई सम्बन्ध नहीं है। 'जैसी हो भवितव्यता वैसी उपजै बुद्धि' यह प्रारब्धभोगके विषयमें एवं 'सो परत्र दुख पावइ' कर्तव्यपालनके विषयमें है। जो मनुष्य कर्तव्यपालन नहीं करता उसको अवश्य ही कष्ट उठाना पड़ता है। अतः इनमें कोई विरोध नहीं है।

प्र०—यदि ईश्वर सर्वद्रष्टा, सर्वान्तर्यामी, सर्वशक्तिमान् है तो फिर अन्धेको गिरनेसे क्यों नहीं बचाता, निर्बलकी रक्षा क्यों नहीं करता, मूर्खको विष खानेसे क्यों नहीं रोकता ? यदि वह न्यायपरायण और शरणागतवत्सल है तो निर्बल, अन्धे, मूर्ख

जीवकी प्रबल शत्रुओंसे रक्षा क्यों नहीं करता ? क्या दयावान्के लिये विना पूछे रास्ता बतलाना मना है ? क्यों वह जीवोंके दुःख-दृश्योंको देखता रहता है ?

उ०—ईश्वर सर्वद्रष्टा, सर्वान्तर्यामी, न्यायकर्ता और सर्वशक्तिमान् है, इसमें कोई संदेह नहीं है। वह अन्धेको बचानेके लिये, निर्बलकी रक्षाके लिये, मूर्खको विष खानेसे रोकनेके लिये महात्माओं एवं शास्त्रोंद्वारा बराबर चेष्टा करता है। हृदयमें स्थित रहकर बराबर सचेत करता रहता है। इसपर भी यदि मनुष्य शास्त्र और महात्माओंकी आज्ञाका उल्लङ्घन करके हृदयस्थित ईश्वरकी दी हुई सत्-परामर्शको न मानकर जबर-दस्ती विष भोजन करे, गड्ढेमें पड़े एवं निषिद्ध कर्मोंका आचरण करे तो उसको उन नियमोंके भङ्ग करनेसे बलपूर्वक रोकनेका नियम ईश्वरके न्यायालयमें नहीं है।

जीव मोहवश अन्धा एवं निर्बल-सा हो रहा है। इसीलिये काम-क्रोधादि प्रबल शत्रु इसे सताते हैं, फिर भी यह अभागा उस ईश्वरकी दयाकी ओर खयाल नहीं करता। जो ईश्वर बार-बार इसको सचेत करता एवं इन शत्रुओंसे बचनेके लिये बराबर सत्परामर्श देता रहता है, उस सर्वज्ञसे इस जीवकी परिस्थिति छिपी नहीं है। वह सर्वशक्तिमान् तथा न्यायकर्ता भी है। जीवोंको बचानेके लिये न्यायानुकूल सहायता भी देता है, पद-पदमें सावधान करता रहता है, पर अज्ञताके कारण जीव न समझे तो इसमें उस ईश्वरका क्या दोष ? यदि सूर्यके प्रकाशमें नेत्रोंके दोषके कारण उल्लूको अन्धकार मालूम हो तो सूर्यका क्या दोष ?

परमेश्वर विना पूछे मार्ग बतलानेवाला एवं हेतुरहित प्रेम करनेवाला है। वह तो शास्त्र एवं महात्माओंद्वारा सत्परामर्श और सत्-शिक्षा देता है, जीवोंको दुःख देकर तमाशा देखना उस दयालुके स्वभावसे बाहरकी बात है। ये जीव अज्ञानवश अपने-आप भूलसे दुःख पाते हैं। वह दयालु परमेश्वर तो इन दुखी जीवोंको पूर्णतया सहायता करनेके लिये सब प्रकारसे तैयार है। पर पापी जीव अश्रद्धा और अज्ञानके कारण उस परमेश्वरसे लाभ नहीं उठाते। जिस प्रकार दीपकके पास पतङ्गोंको देखकर दयालु पुरुष उन पतंगोंको बचानेकी अनेक चेष्टा करते हैं, पर इस रहस्यको वे पतंग नहीं समझ सकते, जबरन जल ही मरते हैं। उसी प्रकार ईश्वरके बार-बार बचानेपर भी ये अभागे जीव संसारके इन अनित्य तुच्छ विषयजन्य सुखकी लोभनीय चमकमें चौंधियाकर उस अतुलनीय आनन्ददाताकी दयाको भूल जाते हैं एवं इसीमें फँस मरते हैं।

प्र०—भगवान् जिनके लिये 'योगक्षेमं वहाम्यहम्' (९ । २२), 'ददामि बुद्धियोगं तम्' (१० । १०), 'नचिरात् मृत्युसंसार-सागराद् उद्धर्ता' (१२ । ७), गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्' (९ । १८), 'अभयं सर्वभूतेभ्यो ददामि, (वा० रा० ६ । १८ । ३३) आदि कहते हैं, उनके सदृश भगवान्‌का कृपापात्र मनुष्य कैसे बने ? क्या मनमें काम-क्रोधादि विकारोंको भरे रखनेवाले मनुष्य भी ईश्वरके कृपापात्र माने जायँ ? एवं ईश्वरके मित्र रहते हुए भी क्या राग-द्वेषादि चोर-डाकू जीवोंकी फजीहत करते हैं ?

उ०—ऐसा कृपापात्र बननेका उपाय भगवान्‌ने इन श्लोकोंके
श्लोकोंमें ही बतलाया है। जैसे—

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥
(गीता १०।

'वे निरन्तर मेरेमें मन लगानेवाले और मेरेमें ही प्राण
अर्पण करनेवाले भक्तजन, सदा ही मेरी भक्तिकी चर्चाके
आपसमें मेरे प्रभावको जनाते हुए तथा गुण और प्रभावसहित
कथन करते हुए ही संतुष्ट होते हैं और मुझ वासुदेवमें ही नि
रमण करते हैं।'

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते॥
(गीता १२।६

'जो मेरे परायण हुए भक्तजन, सम्पूर्ण कामोंको मेरेमें अर्प
करके मुझ सगुणरूप परमेश्वरको ही तैलधाराके सदृश अन
ध्यानयोगसे निरन्तर चिन्तन करते हुए भजते हैं।'

इन उपायोंका साधन करना चाहिये। इनका साधन करने
मनुष्य भगवान्‌की पूर्ण दयाका पात्र बन जाता है। उसको भगव
अपना वास्तविक तत्त्व जना देते हैं। तुलसीदासजीका यह कहन
बहुत ही ठीक है—

सोइ जानइ जेहि देहु जनाई।

जिसके मनमें काम-क्रोधादि विकार भरे हुए हैं, वह भी ईश्वर

दयाका समानभावसे अवश्य पात्र है, पर अज्ञानवश वह भगवत्-दयाका लाभ नहीं उठा सकता। जिस प्रकार अज्ञानी पुरुषको गङ्गाके किनारे रहते हुए भी विना ज्ञानके उससे लाभ नहीं होता, दरिद्र मनुष्यको घरमें पारस रहते हुए भी उसको पत्थर समझनेके कारण लाभ नहीं मिलता। इसी प्रकार ईश्वरका तत्त्व न जाननेके कारण अज्ञानी उससे लाभ नहीं उठा सकता; क्योंकि ईश्वरके विषयमें जो जितना जानता है वह उतना ही लाभ उठा सकता है।

यद्यपि ईश्वर सबका प्रेमी, सुहृद् और रक्षक है, पर जो ईश्वरको प्रेमी और मित्र समझता है, परमेश्वर उसीकी सब प्रकार रक्षा करता है। जो उसको ऐसा नहीं समझता, उसकी रक्षाका भार ईश्वरपर न होनेके कारण उसे ये काम-क्रोधादि डाकू लूटते रहते हैं, क्योंकि जो ईश्वरको नहीं मानता या उससे सहायता नहीं चाहता, ईश्वर उसकी सहायता करनेके लिये बाध्य नहीं है। ईश्वर न्यायप्रिय है एवं न्यायपरायणताको रखते हुए ही दयालु है।

प्र०—वह कौन-सा उपाय है जिसमें ईश्वर प्राणसे भी बढ़कर प्यारा लगे?

उ०—'ईश्वर क्या है?' इस बातका रहस्य जान लेनेपर अर्थात् ईश्वरको यथार्थरूपसे जान लेनेपर ईश्वर प्राणोंसे भी बढ़कर प्यारा लग सकता है।

प्र०—तुलसीदासजीने कहा है कि 'ईश्वरका कृपापात्र उसीको समझना चाहिये जिसके मनोविकार दूर हो गये हों एवं

जिसके प्रभु, साक्षी, गति, सुहृद् हों।' मैं तो ईश्वरको अपना हितैषी तभी समझूँ, जब वे मेरी राग-द्वेषादिसे रक्षा करें।

उ०— ईश्वर समान भावसे सबका प्रभु, सुहृद्, साक्षी होते हुए भी जो उसको वैसा समझ लेता है, उसीके लिये ये गुण फलीभूत होते हैं। जिस क्षण आप ईश्वरको परम हितैषी, प्राणोंसे बढ़कर प्यारा समझ लेंगे, उसी क्षण आपके मनोविकार राग-द्वेषादि डाकू समूल नाश हो जायँगे। उसी समय आप ईश्वरकी विशेष दयाके पात्र समझे जायँगे। इसी भावको सामने रखकर तुलसीदासजीने कहा है—उसीको ईश्वरका कृपापात्र समझना चाहिये, जिसके मनोविकार दूर हो गये हों।

प्र०—विविध साधनमार्गोंमें अर्थात् ज्ञान, योग, धर्माचरण, भक्ति आदि सभी साधनोंमें प्रेमयोगको श्रेष्ठ बतलाया गया है; क्योंकि गीताके 'बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते' (७। १०) इस कथनके अनुसार दूसरे साधन दीर्घकालके बाद परम पद देते हैं। जो सिद्धि प्रेमोपासक नामदेवजीको तीन-चार दिनमें ही प्राप्त हो गयी, वही ज्ञानियोंको बहुत जन्मोंके बाद मिलती है। क्या यह ठीक है?

उ०—ज्ञान, योग, धर्माचरण, भक्ति आदि सभी साधनोंमें प्रधान प्रेमयोग है। यानी प्रेमसे—अनन्य भक्तिसे भगवान् बहुत शीघ्र प्रत्यक्ष दर्शन देते हैं और वे तत्त्वसे जाने भी जाते हैं। गीतामें कहा है—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥
(११ । ५४)

'हे श्रेष्ठ तपवाले अर्जुन ! अनन्यभक्ति करके तो, इस प्रकार चतुर्भुज रूपवाला मैं प्रत्यक्ष देखनेके लिये और तत्त्वसे जाननेके लिये तथा प्रवेश करनेके लिये अर्थात् एकीभावसे प्राप्त होनेके लिये भी शक्य हूँ ।'

इसमें कोई संदेह नहीं, पर आपने जो अन्य साधनोंको बहुत कालके बाद मोक्षफल देनेवाले बतलाते हुए 'बहूनां जन्मनामन्ते' इस गीताके श्लोकका उदाहरण दिया सो ठीक नहीं है; क्योंकि यह ज्ञान और भक्तिके साधनके फलका भेद नहीं बतलाता, परंतु भक्तिके फलका ही वर्णन करता है । चार प्रकारके भक्तोंमेंसे ज्ञानी भक्तको श्रेष्ठ और दुर्लभ बतलानेके लिये यह श्लोक कहा गया है । अतः इसका अभिप्राय यों समझना चाहिये कि बहुत जन्मोंके बादके अन्तिम जन्ममें मनुष्य भगवान् वासुदेवको सर्वरूप समझकर प्राप्त करता है ।

प्र०—आत्महत्या किसे कहते हैं ? क्या ऋषि शरभंग कुमारिल भट्ट आदिकी मृत्यु आत्महत्या नहीं कहलायेगी ? क्या ईश्वरके लिये विवश होकर प्राणत्याग करना आत्महत्या नहीं कहलायेगी ?

उ०—आत्महत्या दो प्रकारकी होती है—एक न्यायविरुद्ध काम, क्रोध, लोभ आदिके वशमें होकर प्रयत्न करके हठपूर्वक देहसे प्राणोंका वियोग करना, एवं दूसरी मनुष्यजन्म पाकर आत्माके उद्धारके लिये प्रयत्न न करनेके कारण पुनः संसारके जन्म-मरणरूप चक्रमें पड़ जाना ।

ऋषि शरभंगका चितामें प्रवेश, कुमारिल भट्टका तुषमें जलना आत्महत्या नहीं कहलाती, क्योंकि इनका कार्य न्यायोचित था।

ईश्वरके लिये विवश होकर प्राणत्याग करनेवालेकी भी मृत्यु 'आत्महत्या' नहीं कहलायेगी, पर शास्त्रोंमें ऐसे हठको ईश्वर-प्राप्तिका साधन नहीं बतलाया है।

ईश्वर और संसार

एक सज्जन निम्नलिखित प्रश्न करते हैं—

प्र०—वेद, पुराण, शास्त्र तथा अन्यान्य मतोंके ग्रन्थोंके देखनेसे प्रायः यही पता लगता है कि कर्मके अनुसार ही जीवात्मा एक योनिसे दूसरी योनिमें जन्म लेता है। यदि ऐसा ही है तो आरम्भमें जब संसार बना और प्रकृतिके भिन्न-भिन्न साँचों (देहों) में शुद्ध, निर्मल, कर्मशून्य आत्माका प्रवेश हुआ, उस समय आत्माको कौन-सा कर्म लागू हुआ? यदि आत्माका आना-जाना स्वाभाविक है तो भक्तिकी क्या आवश्यकता है?

उ०—गुणों और कर्मोंके अनुसार ही जीवात्मा सदासे चौरासी लाख योनियोंमें जन्म लेता फिरता है। मनुष्य, कीट, पतंग आदि प्रकृतिरचित योनियाँ सृष्टिके आदिमें प्रकट होती हैं और सृष्टिके अन्तमें उसी प्रकृतिमें वैसे ही लय हो जाती हैं, जैसे नाना प्रकारके आभूषण स्वर्णसे उत्पन्न होकर अन्तमें स्वर्णमें ही लय हो जाते हैं। कारणरूप प्रकृति अनादि है। जिसको जीवात्मा

या व्यष्टिचेतन कहते हैं, उसका इस प्रकृतिके साथ अनादि-कालसे सम्बन्ध चला आ रहा है। अवश्य ही यह सम्बन्ध अनादि होनेपर भी प्रयत्न करनेसे छूट सकता है। इस सम्बन्ध-विच्छेदको ही मुक्ति कहते हैं और इस मुक्तिके लिये ही भक्ति, कर्म और ज्ञानादि साधन बतलाये गये हैं।

आत्माका आना-जाना ऐसा स्वाभाविक नहीं है, जिसके रुकनेका कोई उपाय ही न हो। यदि यह कहा जाय कि 'जीवात्माका आना-जाना जब सदासे ही स्वभावसिद्ध है तो फिर वह सदा ही रहना भी चाहिये; क्योंकि जो वस्तु अनादि होती है, वह सदा ही रहती है।' परंतु यह कथन ठीक नहीं, क्योंकि जीवात्माका आना-जाना अज्ञानजनित है। अज्ञान या भूल ही एक ऐसी वस्तु है, जो अनादि होनेपर भी यथार्थ ज्ञान होनेके साथ ही नष्ट हो जाती है। यह बात सभी विषयोंमें प्रसिद्ध है। एक मनुष्यको जब किसी नये विषयका ज्ञान होता है तो उस विषयमें उसका पूर्वका अज्ञान नष्ट हो जाता है, परन्तु वह अज्ञान यथार्थ ज्ञान न होनेतक तो अनादि ही था, उसके आरम्भकी कोई भी तिथि नहीं थी। जब भौतिक ज्ञानसे भी भौतिक अज्ञान नष्ट हो जाता है, तब परमार्थविषयक यथार्थ ज्ञान होनेपर अनादिकालसे रहनेवाले अज्ञानके नष्ट हो जानेमें आश्चर्य ही क्या है? प्रत्युत इसमें एक विशेषता है कि परमात्मा नित्य होनेके कारण तद्विषयक ज्ञान भी नित्य है। इसी ज्ञानके लिये भक्ति आदि साधन करने चाहिये।

प्र०—आरम्भमें जब संसार बना और इसमें मनुष्य, पशु, पक्षी, वृक्ष आदिके साँचे (शरीर) बने, वे कैसे बने? क्या तत्त्वोंके परस्पर

संयोगसे आप-ही-आप सब कुछ बन गया ? यदि ऐसा ही माना जाय तो इस समय भी प्रकृति, तत्त्व और आत्मा तो वही हैं, किंतु आप-से-आप कोई साँचा नहीं बनता। यदि यह माना जाय कि स्वयं शुद्ध-बुद्ध परमात्माने स्थूल शरीर धारणकर अपने हाथोंसे प्रत्येक साँचे (शरीर) को गढ़ा है, तो संतोंने परमात्माको निराकार क्यों बतलाया है ? स्त्री-पुरुषके संयोग बिना स्थूल शरीर बनना भी सम्भव नहीं। यदि किसी प्रकार बन भी जाय तो वह एकदेशीय व्यक्ति सर्वव्यापी नहीं हो सकता।

उ०—प्रकृतिकी शुरुआतका बनाया हुआ कोई भी संसार नहीं माना जा जकता। शुरुआत माननेसे यह सिद्ध हो जायगा कि पहले संसार नहीं था, परन्तु ऐसी बात नहीं है। उत्पत्ति-विनाश-स्वरूप प्रवाहमय संसार सदासे ही है, ऐसा माना गया है। यदि यह मान लें कि शुरू-शुरूमें तो किसी भी कालमें संसार बना ही होगा तो इससे शास्त्र-कथित संसारका अनादित्व मिथ्या हो जायगा। केवल शास्त्रोंकी ही बात नहीं, तर्कसे भी यह सिद्ध नहीं हो सकता। पूर्वमें यदि एक ही शुद्ध वस्तु थी, संसारका कोई बीज नहीं था तो वह किस कारणसे, कैसे और क्यों बनता ? अवश्य ही यह सत्य है कि सर्वशक्तिमान् ईश्वर अनहोनी बात भी कर सकता है, परंतु बिना ही कारण जीवोंके कोई भी कर्म न रहनेपर भी भिन्न-भिन्न स्थितियुक्त संसारको ईश्वर क्यों रचता ? यदि बिना ही कारण ईश्वरने यह भेदपूर्ण सृष्टि रची तो इससे ईश्वरमें वैषम्य और नैर्घृण्यका दोष आता है, जो ईश्वरमें कदापि सम्भव नहीं !

यदि यह कहा जाय कि ईश्वर-सकाशके बिना ही केवल प्रकृतिसे ही संसारकी रचना हो गयी तो प्रथम तो प्रकृतिके जड़ होनेसे ऐसा सम्भव नहीं, दूसरे जब पहले प्रकृति शुद्ध थी तो पीछे-से किसी कालमें स्वभावसे उसमें नाना प्रकारकी विकृति, बिना ही बीज और बिना ही हेतुके कैसे उत्पन्न हो गयी? यदि प्रकृतिका स्वभाव ही ऐसा है तो वह पहले भी वैसा ही होना चाहिये और यदि पहले भी ऐसा ही था तो विकृति-प्रकृति यानी संसार अनादि ठहर ही जाता है। अतएव 'पहले प्रकृति शुद्ध थी, स्वभावसे या ईश्वरकी इच्छासे अकारण ही संसारकी उत्पत्ति हो गयी' यह बात शास्त्र और तर्कसे सिद्ध नहीं होती। इससे यही समझना चाहिये कि परमात्मा, जीव, प्रकृति और प्रकृतिका कार्य चराचर योनियोंसहित संसार-कर्म और इनका परस्पर सम्बन्ध—ये अनादि हैं। इनमें प्रकृतिका कार्यरूप संसार और कर्म तो उत्पत्ति-विनाशके प्रवाहरूपमें अनादि हैं। इनका स्थायी एक-सा स्वरूप नहीं रहता। इसलिये प्रकृतिके कार्यरूप संसार और कर्मको आदि-अन्तवाले, क्षणभंगुर, अनित्य और नाशवान् बतलाया है। प्रकृति और प्रकृतिका जीवके साथ सम्बन्ध अनादि है, परन्तु सान्त है। इस विषयका विशेष वर्णन 'तत्त्व-चिन्तामणि भाग १' लेख-संख्या ३ में 'भ्रम अनादि और सान्त है' शीर्षक लेखमें देखना चाहिये।

बहुत सूक्ष्म विचार और शास्त्रोंके सिद्धान्तोंका मनन करनेसे प्रकृति भी अनादि और सान्त ही ठहरती है। वेदान्त-शास्त्र प्रकृति-को परमेश्वरके एक अंशमें अध्यारोपित मानता है। वेदान्तके

सिद्धान्तसे ज्ञान होनेपर अनादि प्रकृतिका भी अभाव हो जाता है। सांख्य और योगशास्त्र, जो अत्यन्त तर्कयुक्त दर्शन हैं और जो प्रकृति-पुरुषको अनादि और नित्य माननेवाले हैं, वे भी प्रकृति-पुरुषके संयोगको तो अनादि और सान्त मानते हैं। इनके संयोगके अभावको ही दुःखोंका अभाव मानते हैं और उसीको मुक्ति कहते हैं और यह भी मानते हैं कि जो जीव मुक्त या कृतकृत्य हो जाता है उसके लिये प्रकृतिका विनाश हो गया। प्रकृति उन्हींके लिये रहती है जिनको ज्ञान नहीं है।

कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात्।

(योग० २। २२)

इन दर्शनोंने यह भी माना है कि प्रकृति और पुरुषको पृथक्-पृथक् उपलब्धि संयोगके हेतुसे होती है। इस संयोगका हेतु अज्ञान है। ज्ञान होनेपर तो उस आत्माकी 'कैवल' अवस्था बतलायी गयी है, यदि सबकी मुक्ति हो जाय तो इनके सिद्धान्तसे भी प्रकृतिका अभाव सम्भव है; क्योंकि मुक्त ज्ञानीकी दृष्टिमें प्रकृतिका नाश हो जाता है। अज्ञानके कारण अज्ञानीकी दृष्टिमें प्रकृति रहती है। परन्तु अज्ञानीकी दृष्टिका कोई मूल्य नहीं। ज्ञानीकी दृष्टि ही वास्तवमें सत्य है। अतएव सबको ज्ञान हो जानेपर किसी भी दृष्टिसे प्रकृतिका रहना सिद्ध नहीं हो सकता। इन सब सूक्ष्म विचारोंसे यही सिद्ध होता है कि प्रकृति और जीवोंके कर्म भी अज्ञानकी भाँति अनादि और सान्त ही हैं। ऐसी परम वस्तु तो एक आत्मा ही है जो अनादि, नित्य और सत् है।

न्याय और वैशेषिकके सिद्धान्तसे अनेक पदार्थोंको सत्य माना जाता है, परंतु उनकी सत्ता और सिद्धि तो थोड़े-से विचारसे ही उड़ जाती है। जैसे वर्षासे बालूकी भीत बह जाती है या जैसे स्वप्नमें देखे हुए अनेक पदार्थोंकी सत्ता जागनेके बाद भिन्न-भिन्न नहीं रहकर एक द्रष्टा ही रह जाती है, ऐसे ही विचार करनेपर भिन्न-भिन्न सत्ताओंका अभाव होकर एक आत्मसत्ता ही शेष रह जाती है। दूसरी सत्ताको स्थान दिया जाय तो स्वभाव या जिसे प्रकृति कहते हैं, उसको जगह मिल जाती है, परन्तु वह ज्ञान न होनेतक ही रहती है। जिसको स्वप्न आता है, उस पुरुषके अतिरिक्त अन्य किसी भी वस्तुकी सिद्धि नहीं हो सकती। स्वप्नसे जागनेके बाद स्वप्नके आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वीकी जो सत्ता ठहरती है, वही सत्ता इस संसारसे जागनेके बाद स्थूल आकाशादि-की ठहरती है, अतएव यह सोचना चाहिये कि स्वप्नके आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वीके परमाणुओंकी पृथक्-पृथक् सत्ता किस मूल भित्तिपर स्थित है ?

यह तो सिद्ध हो गया कि साँचे या शरीर उत्पत्ति-विनाशरूप-से अनादि हैं। अब यह प्रश्न रह जाता है कि सृष्टिके आदिमें सर्वप्रथम ये कैसे बने ? अपने-आप बने या निराकार परमेश्वरने साकाररूपसे प्रकट होकर इनको बनाया अथवा निराकाररूपके द्वारा ही वे साकार साँचे ढल गये ? यदि निराकार ईश्वर साकार बना तो वह एकदेशी होनेपर सर्वव्यापी कैसे रहा ?

यह प्रश्न ऐसा नहीं है जिसपर बहुत सोचनेकी आवश्यकता

हो । शान्तिपूर्वक विचार करनेपर इसका समाधान तो अनाय[illegible] ही हो सकता है । महासर्गके आदिमें परमेश्वररूप पिता और प्रकृतिरूप माताके संयोगसे सब जीवोंके गुण-कर्मानुसार शरीर उत्पन्न होते हैं । गीतामें भगवान् कहते हैं—

> मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम् ।
> संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥
> सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः संभवन्ति याः ।
> तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥
>
> (१४ । ३-४)

'हे अर्जुन ! मेरी महत् ब्रह्मरूप प्रकृति अर्थात् त्रिगुणमयी माया सम्पूर्ण भूतोंकी योनि है, अर्थात् गर्भाधानका स्थान है और मैं उस योनिमें चेतनरूप बीजको स्थापन करता हूँ, इस जड़-चेतनके संयोगसे सब भूतोंकी उत्पत्ति होती है तथा हे अर्जुन ! नाना प्रकारकी सब योनियोंमें जितनी मूर्तियाँ अर्थात् शरीर उत्पन्न होते हैं, उन सबकी त्रिगुणमयी माया तो गर्भको धारण करनेवाली माता है और मैं बीजको स्थापन करनेवाला पिता हूँ ।'

यदि यह पूछा जाय कि दोनों पदार्थ आरम्भमें निराकार थे फिर इन दोनोंके सम्बन्धसे स्थूल देहोंकी उत्पत्ति कैसे हो गयी ! इसका उत्तर यह है कि जैसे आकाशमें सूर्यकी किरणोंमें निराकार-रूपसे जल स्थित है, वही अव्यक्त सूक्ष्म जल वायुके संघर्षसे धूमरूपको प्राप्त हो फिर बादलके रूपमें परिणत होकर स्पष्ट रूपसे व्यक्त हुए जलके रूपमें होकर अन्तमें बर्फका पिण्ड बन जाता

है, वैसे ही इस सृष्टिके आदिमें प्रकृतिमें लयरूपसे स्थित संसार भी प्रकृति और परमेश्वरके संघर्षणसे बर्फ-पिण्डकी भाँति मूर्तरूपमें प्रकट हो जाता है। यह तो मानना ही होगा कि आकाशमें बर्फके पिण्ड स्थित नहीं हैं, होते तो वहाँ ठहर ही नहीं सकते। आकाशकी निराकारता भी स्पष्ट देखनेमें आती है, पर देखते-ही-देखते निर्मल आकाशमें मेघोंकी उत्पत्ति हो जाती है। विज्ञान और विचारसे यह सिद्ध है कि सूर्यकी किरणोंमें स्थित निराकार परमाणुरूप जल ही मेघ और स्थूलके जलके रूपमें परिणत होता है। इसी प्रकार आकाशमें निराकाररूपसे रहनेवाली अग्नि कभी-कभी बादलोंके अंदर बिजलीके रूपमें चमकती हुई दीखती है। कभी कहीं गिरती है तो उस स्थानको जलाकर तहस-नहस कर डालती है। जब अग्नि और जल आदि स्थूल पदार्थ भी निराकारसे साकार बन जाते हैं तब निराकार ईश्वर और प्रकृतिके संयोगसे निराकार संसारका साकाररूपमें आना कौन बड़ी बात है?

यह भी समझनेकी बात है कि जो साकार वस्तु जिससे उत्पन्न होती है वह लय भी उसीमें होती है। वायुके द्वारा निर्मल निराकार आकाशमें बिजली उत्पन्न होती है और फिर उसी आकाशमें शान्त हो जाती है। तेजके संघर्षणसे जलकी उत्पत्ति होती है, शीतसे उसका पिण्ड बन जाता है। फिर वही जल तेजसे तपाये जानेपर द्रव होकर भाफके रूपमें परिणत होता हुआ अन्तमें आकाशमें जाकर रम जाता है। इसी प्रकार जीवोंके शरीर भी सृष्टिके आदिमें गुण-कर्मानुसार प्रकृतिसे उत्पन्न होते हैं और अन्तमें फिर उसीमें लीन हो जाते हैं। यह आदि-अन्तका प्रवाह अनादि है।

प्रकृतिका रूप किसी समय सक्रिय होता है और किसी समय अक्रिय, यह उसका स्वभाव है। जिस समय सत्त्व, रज, तम तीनों गुण साम्यावस्थामें स्थित रहते हैं, तब यह गुणमयी प्रकृति अक्रिय रूपमें रहती है और जब तीनों गुण विषमावस्थाको प्राप्त हो जाते हैं, तब प्रकृतिका रूप सक्रिय बन जाता है। सक्रिय प्रकृति ईश्वरके सम्बन्धसे गर्भस्थ जीवोंको मूर्तरूपमें प्रकट करती है। भगवान् कहते हैं—

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते॥

(गीता ९।१०)

'हे अर्जुन! मुझ अधिष्ठाताके सकाशसे यह मेरी माया चराचरसहित समस्त जगत्को रचती है और इसी उपर्युक्त हेतुसे यह संसार आवागमनरूप चक्रमें घूमता है।'

परमेश्वर निराकार रहते हुए भी साकाररूप धारणकर किस प्रकार सर्वव्यापी रहता है; इस बातको समझनेके लिये अग्निका उदाहरण सामने रखना चाहिये। एक निराकार अग्नि सर्वत्र व्याप्त है, वही हमारे शरीरके अंदर भी है जो खाये हुए अन्नको पचा देती है। अग्नि न हो तो अन्न पचे नहीं और यदि वह व्यक्त हो तो शरीरको भस्म कर दे। इससे सिद्ध होता है कि हमारे अन्दर अव्यक्त अग्नि है। यही सर्वत्र व्याप्त निराकार अव्यक्त अग्नि ईंधन और संघर्षणसे साकार बन जाती है। जिस समय अग्निका साकाररूप नहीं होता, उस समय भी वह काठ आदिमें निराकाररूपसे रहती है। न रहती तो संघर्षणसे प्रकट कैसे होती? फिर वही अग्नि

जब शान्त कर दी जाती है तब फिर निराकाररूपमें परिणत हो जाती है। जिस समय वह ज्वालाके रूपमें एक स्थानमें प्रकट होती है, उस समय कोई भी यह नहीं कह सकता कि जब अग्नि यहाँ प्रकट हो गयी तो अन्यान्य स्थानोंमें नहीं है। यह निश्चित बात है कि एक या अनेक जगह एक ही साथ प्रकट होनेपर भी निराकार अग्नि व्यापकरूपसे सभी जगह वर्तमान रहती है। इसी प्रकार परमात्मा भी मायाके सम्बन्धसे एक या अनेक जगह साकाररूपसे प्रकट होकर भी उसी कालमें निराकार व्यापकरूपसे सर्वव्यापी रहता है। उसकी सर्वव्यापकता और पूर्णतामें कभी कोई कमी नहीं हो सकती। अग्निका उदाहरण भी केवल समझानेके लिये ही दिया गया है। वास्तवमें परमात्माकी सर्वव्यापकताके साथ अग्निकी सर्वव्यापकताकी तुलना नहीं हो सकती।

प्र०—ईश्वरने प्रकृति और संसारको बनाया, इसमें उसका क्या प्रयोजन था?

उ०—प्रकृतिको ईश्वरने नहीं बनाया, प्रकृति तो उसी वस्तुका नाम है जो सदासे स्वाभाविक ही हो। अवश्य ही चराचर जगत्को भगवान्‌ने बनाया है। इसमें उन न्यायकारी, सर्वव्यापी, दयामय परमात्माकी अहैतुकी दया ही समझनी चाहिये। जिन जीवोंके पूर्वमें जैसे गुण और कर्म थे, उन सब चराचर जीवोंको भगवान् उन्हींके गुण-कर्मानुसार देहसहित उत्पन्न करते हैं। स्वार्थ-आसक्ति और हेतुरहित न्यायकर्ता होनेके कारण जीवोंके गुण-कर्मानुसार रचयिता होनेपर भी

भगवान् अकर्ता ही माने जाते हैं। परंतु जीवोंका दुःख दूर करनेको वे अपनी मर्यादाके अनुसार सदा-सर्वदा उनके लिये दयायुक्त विधान ही किया करते हैं। यहाँतक कि समय-समयपर अपनी प्रकृतिको वश करके सगुण साकाररूपमें प्रकट होकर जीवोंके कल्याणार्थ प्रयत्न करते हैं। ऐसे अहैतुक दयालु और परम सुहृद् परमात्माका भजन करना ही जीवमात्रका कर्तव्य है।

जीव-सम्बन्धी प्रश्नोत्तर

एक सज्जनका प्रश्न है कि 'इस देहमें जीव कहाँसे, कैसे और क्यों आता है, क्या-क्या वस्तुएँ साथ लाता है, गर्भसे बाहर कैसे निकलता है और प्राण निकलनेपर कहाँ, कैसे और क्यों जाता है, तथा क्या-क्या वस्तुएँ साथ ले जाता है?' प्रश्नकर्ताने शास्त्रप्रमाण और युक्तियोंसहित उत्तर लिखनेका अनुरोध किया है।

प्रश्न वास्तवमें बड़ा गहन है, इसका वास्तविक उत्तर तो सर्वज्ञ योगी महात्मागण ही दे सकते हैं, मेरा तो इस विषयपर कुछ लिखना एक विनोदके सदृश है। मैं किसीको यह माननेके लिये आग्रह नहीं करता कि इस प्रश्नपर मैं जो कुछ लिख रहा हूँ सो सर्वथा निर्भ्रान्त और यथार्थ है; क्योंकि ऐसा कहनेका मैं कोई अधिकार नहीं रखता। अवश्य ही शास्त्र, संत-महात्माओंके प्रसादसे मैंने अपनी साधारण बुद्धिके अनुसार जो कुछ समझा है, उसमें मुझे तत्त्वतः कोई शङ्का नहीं है।

इस विषयमें मनस्वियोंमें बड़ा मतभेद है, जो लोग जीवकी सत्ता केवल मृत्युतक ही समझते हैं और पुनर्जन्म आदि बिल्कुल नहीं मानते, उनकी तो कोई बात ही नहीं है; परन्तु पुनर्जन्म माननेवालोंमें भी मतभेदकी कमी नहीं है, इस अवस्थामें अमुक मत ही सर्वथा सत्य है, यह कहनेका मैं अपना कोई अधिकार नहीं समझता तथापि अपने विचारोंको नम्रताके साथ पाठकोंके सम्मुख इसीलिये रखता हूँ कि वे इस विषयका मनन अवश्य करें।

वेदान्तके मतसे तो संसार मायाका कार्य होनेसे वास्तवमें गमनागमनका कोई प्रश्न ही नहीं रह जाता, परन्तु यह सिद्धान्त समझानेकी वस्तु नहीं है, यह तो वास्तविक स्थिति है, इस स्थितिमें स्थित पुरुष ही इसका यथार्थ रहस्य जानते हैं। जिस यथार्थतामें एक शुद्ध सत्-चित्-आनन्दघन ब्रह्मके सिवा अन्यका सर्वथा अभाव है उसमें तो कुछ भी कहना-सुनना सम्भव नहीं होता, जहाँ व्यवहार है, वहाँ सृष्टि, जीव, जीवके कर्म, कर्मानुसार गमनागमन और भोग आदि सभी सत्य हैं। अतएव यही समझकर यहाँ इस विषयपर कुछ विचार किया जाता है।

जीव अपनी पूर्वकी योनिसे योनिके अनुसार साधनोंद्वारा प्रारब्ध कर्मका फल भोगनेके लिये पूर्वकृत शुभाशुभ कर्मराशिके अनन्त संस्कारोंको साथ लेकर सूक्ष्म शरीरसहित परवश नयी योनिमें आता है। गर्भसे पैदा होनेवाला जीव अपनी योनिका गर्भकाल पूरा होनेपर प्रसूतिरूप अपान-वायुकी प्रेरणासे बाहर निकलता है और मृत्युके समय प्राण निकलनेपर सूक्ष्म शरीर और शुभाशुभ कर्मराशिके संस्कारोंसहित कर्मानुसार भिन्न-भिन्न साधनों

और मार्गोंद्वारा मरणकालकी कर्मजन्य वासनाके अनुसार परवशतासे भिन्न-भिन्न गतियोंको प्राप्त होता है । संक्षेपमें यही सिद्धान्त है। परन्तु इतने शब्दोंमें ही यह बात ठीक समझमें नहीं आती, शास्त्रोंके विविध प्रसङ्गोंमें भिन्न-भिन्न वर्णन पढ़कर भ्रम-सा हो जाता है, इसलिये कुछ विस्तारसे विवेचन किया जाता है—

तीन प्रकारकी गति

भगवान्‌ने श्रीगीताजीमें मनुष्यकी तीन गतियाँ बतलायी हैं— अधः, मध्य और ऊर्ध्व । तमोगुणसे नीची, रजोगुणसे बीचकी और सत्त्वगुणसे ऊँची गति प्राप्त होती है । भगवान्‌ने कहा है—

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः ।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ॥

(गीता १४ । १८)

'सत्त्वगुणमें स्थित हुए पुरुष स्वर्गादि उच्च लोकोंको जाते हैं, रजोगुणमें स्थित राजस पुरुष मध्यमें अर्थात् मनुष्यलोकमें ही रहते हैं एवं तमोगुणके कार्यरूप निद्रा, प्रमाद और आलस्यादिमें स्थित हुए तामस पुरुष, अधोगति अर्थात् कीट, पशु आदि नीच योनियोंको एवं नरकको प्राप्त होते हैं ।' यह स्मरण रखना चाहिये कि तीनों गुणोंमेंसे किसी एक या दोका सर्वथा नाश नहीं होता, सङ्ग और कर्मोंके अनुसार कोई-सा एक गुण बढ़कर शेष दोनों गुणोंको दबा लेता है । तमोगुणी पुरुषोंकी सङ्गति और तमोगुणी कार्योंसे तमोगुण बढ़कर रज और सत्त्वको दबाता है, रजोगुणी पुरुषकी सङ्गति और कार्योंसे रजोगुण बढ़कर तम और सत्त्वको

दबा लेता है तथा इसी प्रकार सत्त्वगुणी पुरुषको सङ्गति और कार्योंसे सत्त्वगुण बढ़कर रज और तमको दबा लेता है (गीता १४ । १०)। जिस समय जो गुण बढ़ा हुआ होता है, उसीमें मनुष्यकी स्थिति समझी जाती है और जिस स्थितिमें मृत्यु होती है, उसीके अनुसार उसकी गति होती है। यह नियम है कि अन्तकालमें मनुष्य जिस भावका स्मरण करता हुआ शरीरका त्याग करता है, उसी प्रकारके भावको वह प्राप्त होता है (गीता ८ । ६)। सत्त्वगुणमें स्थिति होनेसे अन्तकालमें शुभ भावना या वासना होती है। शुभ वासनामें—सत्त्वगुणकी वृद्धिमें मृत्यु होनेसे मनुष्य निर्मल ऊर्ध्वके लोकोंको जाता है।

यहाँ यह प्रश्न होता है कि यदि वासनाके अनुसार ही अच्छे-बुरे लोकोंकी प्राप्ति होती है तो कोई मनुष्य अशुभ वासना ही क्यों करेगा ? सभी कोई उत्तम लोकोंको पानेके लिये उत्तम वासना ही करेंगे ? इसका उत्तर यह है कि अन्तकालकी वासना या कामना अपने-आप नहीं होती, वह प्रायः उसके तात्कालिक कर्मोंके अनुसार ही हुआ करती है। आयुके शेषकालमें यानी अन्तकालके समय मनुष्य जैसे कर्मोंमें लिप्त रहता है, करीब-करीब उन्हींके अनुसार उसकी मरण-कालकी वासना होती है। मृत्युका कोई पता नहीं कब आ जाय, इससे मनुष्यको सदा-सर्वदा उत्तम कर्मोंमें ही लगे रहना चाहिये। सर्वदा शुभ कर्मोंमें लगे रहनेसे ही वासना शुद्ध रहेगी, सर्वथा शुद्ध वासनाका रहना ही सत्त्वगुणी स्थिति है; क्योंकि देहके सभी द्वारोंमें चेतनता और बोधशक्तिका उत्पन्न होना ही सत्त्वगुणकी वृद्धिका लक्षण है (गीता १४ । ११)।

और इस स्थितिमें होनेवाली मृत्यु ही ऊर्ध्वलोकोंकी प्राप्तिका कारण है।

जो लोग ऐसा समझते हैं कि अन्तकालमें सात्त्विक-वासना कर ली जायगी, अभीसे उसकी क्या आवश्यकता है? वे बड़ी भूल करते हैं। अन्तकालमें वही वासना होगी, जैसी पहलेसे होती रही होगी। जब साधक ध्यान करने बैठता है—कुछ समय स्वस्थ और एकान्त चित्तसे परमात्माका चिन्तन करना चाहता है, तब यह देखा जाता है कि पूर्वके अभ्यासके कारण उसे प्रायः उन्हीं कार्यों या भावोंकी स्फुरणा होती है, जिन कार्योंमें वह सदा लगा रहता है। वह साधक बार-बार मनको विषयोंसे हटानेका प्रयत्न करता है, उसे धिक्कारता है, बहुत पश्चात्ताप भी करता है तथापि पूर्वका अभ्यास उसकी वृत्तियोंको सदाके कार्योंकी ओर खींच ले जाता है। भगवान् भी कहते हैं—**'सदा तद्भावभावितः'** (गीता ८।६)। जब मनुष्य सावधान अवस्थामें भी मनकी भावनाको सहसा अपने इच्छानुसार नहीं बना सकता, तब जीवनभरके अभ्यासके विरुद्ध मृत्युकालमें हमारी वासना अनायास ही शुभ हो जायगी, यह समझना भ्रमके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है।

यदि ऐसा ही होता तो शनैः-शनैः उपरामताको प्राप्त करने और बुद्धिद्वारा मनको परमात्मामें लगानेकी आज्ञा भगवान् कैसे देते? (गीता ६।२५)। इससे यह सिद्ध होता है कि मनुष्यके कर्मोंके अनुसार ही उसकी भावना होती है, जैसी अन्तकालकी भावना होती है—जिस गुणमें उसकी स्थिति होती है, उसीके अनुसार परवश होकर जीवको कर्मफल भोगनेके लिये दूसरी योनिमें जाना पड़ता है।

ऊर्ध्वगतिके दो भेद—इस ऊर्ध्वगतिके दो भेद हैं। एक ऊर्ध्वगतिसे वापस लौटकर नहीं आना पड़ता और दूसरीसे लौटकर आना पड़ता है। इसीको गीतामें शुक्ल-कृष्ण-गति और उपनिषदोंमें देवयान-पितृयान कहा है। सकामभावसे वेदोक्त कर्म करनेवाले स्वर्ग-प्राप्तिके प्रतिबन्धक देवऋणरूप पापसे छूटे हुए पुण्यात्मा पुरुष धूम-मार्गसे पुण्यलोकोंको प्राप्त होकर वहाँ दिव्य देवताओंके विशाल भोग भोगकर, पुण्य क्षीण होते ही पुनः मृत्युलोकमें लौट आते हैं और निष्कामभावसे भगवद्भक्ति या ईश्वरार्पण-बुद्धिसे भेदज्ञानयुक्त श्रौत-स्मार्त कर्म करनेवाले परोक्षभावसे परमेश्वरको जाननेवाले योगिजन क्रमसे ब्रह्मको प्राप्त हो जाते हैं। भगवान् कहते हैं—

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥
धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते ॥
शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः ॥

(गीता ८। २४—२६)

'दो प्रकारके मार्गोंमेंसे जिस मार्गमें ज्योतिर्मय अग्नि-अभिमानी देवता, दिनका अभिमानी देवता, शुक्लपक्षका अभिमानी देवता और उत्तरायणके छः महीनोंका अभिमानी देवता है, उस मार्गमें मरकर गये हुए ब्रह्मवेत्ता अर्थात् परमेश्वरकी उपासनासे परमेश्वरको परोक्ष-भावसे जाननेवाले योगिजन उपर्युक्त देवताओंद्वारा क्रमसे ले गये हुए

ब्रह्मको प्राप्त होते हैं तथा जिस मार्गमें धूमाभिमानी देवता, रात्रि-अभिमानी देवता, कृष्णपक्षका अभिमानी देवता और दक्षिणायनके छः महीनोंका अभिमानी देवता है, उस मार्गमें मरकर गया हुआ सकाम कर्मयोगी उपर्युक्त देवताओंद्वारा क्रमसे ले गया हुआ चन्द्रमाकी ज्योतिको प्राप्त होकर स्वर्गमें अपने शुभ कर्मोंका फल भोगकर वापस आता है। जगत्‌के यह शुक्ल और कृष्णनामक दो मार्ग सनातन माने गये हैं, इनमें एक (शुक्ल-मार्ग) के द्वारा गया हुआ वापस न लौटनेवाली परम गतिको प्राप्त होता है और दूसरे (कृष्ण-मार्ग) द्वारा गया हुआ वापस आता है, अर्थात् जन्म-मृत्युको प्राप्त होता है।'

शुक्ल—अर्चि या देवयानमार्गसे गये हुए योगी नहीं लौटते और कृष्ण—धूम या पितृयानमार्गसे गये हुए योगियोंको लौटना पड़ता है। श्रुति कहती है—

'ते य एवमेतद्विदुः ये चामी अरण्ये श्रद्धा सत्यमुपासते तेऽर्चिरभिसम्भवन्ति, अर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षाद्यान्षण्मासानुदङ्ङादित्य एति मासेभ्यो देवलोकं देवलोकादादित्यमादित्याद्वैद्युतम्, तान् वैद्युतान् पुरुषोऽमानव एत्य ब्रह्मलोकान् गमयति ते तेषु ब्रह्मलोकेषु पराः परावतो वसन्ति तेषां न पुनरावृत्तिः ॥'

(बृह० ६ । २ । १५)

'जिनको ज्ञान होता है, जो अरण्यमें श्रद्धायुक्त होकर सत्यकी उपासना करते हैं, वे अर्चिरूप होते हैं, अर्चिसे दिनरूप होते हैं, दिनसे शुक्लपक्षरूप होते हैं, शुक्लपक्षसे उत्तरायणरूप होते हैं, उत्तरायणसे

देवलोकरूप होते हैं, देवलोकसे आदित्यरूप होते हैं, आदित्यसे विद्युद्रूप होते हैं, यहाँसे अमानव पुरुष उन्हें ब्रह्मलोकमें ले जाते हैं, वहाँ अनन्त वर्षोंतक वह रहते हैं, उनको वापस लौटना नहीं पड़ता।' यह देवयानमार्ग है। एवं—

'अथ ये यज्ञेन दानेन तपसा लोकाञ्जयन्ति ते धूममभिसम्भवन्ति धूमाद्रात्रिꣳ रात्रेरपक्षीयमाणपक्षमपक्षीयमाणपक्षाद्यान्षण्मासान् दक्षिणादित्य एति मासेभ्यः पितृलोकं पितृलोकाच्चन्द्रं ते चन्द्रं प्राप्यान्नं भवन्ति ताꣳ स्तत्र देवा यथा सोमꣳ राजानमाप्यायस्वापक्षीयस्वेत्येवमेनाꣳ स्तत्र भक्षयन्ति······' (बृह० ६। २। १६)

'जो सकामभावसे यज्ञ, दान तथा तपद्वारा लोकोंपर विजय प्राप्त करते हैं, वे धूमको प्राप्त होते हैं, धूमसे रात्रिरूप होते हैं, रात्रिसे कृष्णपक्षरूप होते हैं, कृष्णपक्षसे दक्षिणायनको प्राप्त होते हैं, दक्षिणायनसे पितृलोकको और वहाँसे चन्द्रलोकको प्राप्त होते हैं, चन्द्रलोक प्राप्त होनेपर वे अन्नरूप होते हैं····और देवता उनको भक्षण करते हैं।' यहाँ 'अन्न' होने और 'भक्षण' करनेसे यह मतलब है कि वे देवताओंकी खाद्य वस्तुमें प्रविष्ट होकर उनके द्वारा खाये जाते हैं, और फिर उनसे देवरूपमें उत्पन्न होते हैं। अथवा 'अन्न' शब्दसे उन जीवोंको देवताओंका आश्रयी समझना चाहिये। नौकरको भी अन्न कहते हैं, सेवा करनेवाले पशुओंको अन्न कहते हैं, 'पशवः अन्नम्' आदि वाक्योंसे यह सिद्ध है। वे देवताओंके नौकर होनेसे अपने सुखोंसे वञ्चित नहीं हो सकते।' यह पितृयानमार्ग है।

ये धूम, रात्रि और अर्चि, दिन आदि नामक भिन्न-भिन्न लोकोंके अभिमानी देवता हैं, जिनका रूप भी उन्हीं नामोंके अनुसार है। जीव इन देवताओंके समान रूपको प्राप्त कर क्रमशः आगे बढ़ता है। इनमेंसे अर्चिमार्गवाला प्रकाशमय लोकोंके मार्गसे प्रकाशपथके अभिमानी देवताओंद्वारा ले जाया जाकर क्रमशः विद्युत्-लोकतक पहुँचकर अमानव पुरुष (भगवत्-पार्षद) के द्वारा बड़े सम्मानके साथ भगवान्‌के सर्वोत्तम दिव्य परम धाममें पहुँच जाता है। इसीको ब्रह्मोपासक ब्रह्मलोकका शेष भाग—सर्वोच्च गति, श्रीकृष्णके उपासक दिव्य गोलोक, श्रीरामके उपासक दिव्य साकेतलोक, शैव शिवलोक, जैन मोक्षशिला, मुसलमान सातवाँ आसमान और ईसाई स्वर्ग कहते हैं। इसीको उपनिषदोंमें विष्णुका परम धाम कहा है। इस दिव्यधाममें पहुँचनेवाला महापुरुष सारे लोकों और मार्गोंको लाँघता हुआ एक प्रकाशमय दिव्य स्थानमें स्थित होता है, जहाँ उसे सभी सिद्धियाँ और सभी प्रकारकी शक्तियाँ प्राप्त हो जाती हैं। वह ब्रह्माकी आयुतक वहाँ दिव्यभावसे रहकर अन्तमें भगवान्‌में मिल जाता है। अथवा भगवदिच्छासे भगवान्‌के अवतारकी-ज्यों बन्धनमुक्त अवस्थामें ही लोक-हितार्थ संसारमें आ भी सकता है। ऐसे ही महात्माको कारक पुरुष कहते हैं।

धूममार्गके अभिमानी देवगण और इनके लोक भी प्रकाशमय हैं, परन्तु इनका प्रकाश अर्चिमार्गवालोंकी अपेक्षा दूसरा ही है तथा ये जीवको मायामय विषयभोग भोगनेवाले मार्गोंमें ले जाकर

ऐसे लोकमें पहुँचाते हैं, जहाँसे वापस लौटना पड़ता है, इसीसे यह अन्धकारके अभिमानी बतलाये गये हैं। इस मार्गमें भी जीव देवताओंकी तद्रूपताको प्राप्त करता हुआ चन्द्रमाकी रश्मियोंके रूपमें होकर उन देवताओंके द्वारा ले जाया हुआ अन्तमें चन्द्र-लोकको प्राप्त होता है और वहाँके भोग भोगनेपर पुण्यक्षय होते ही वापस लौट आता है।

वापस लौटनेका क्रम—स्वर्गादिसे वापस लौटनेका क्रम उपनिषदोंके अनुसार यह है—

'तस्मिन्यावत्सम्पातमुषित्वाथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते यथैतमाकाशमाकाशाद्वायुं वायुर्भूत्वा धूमो भवति, धूमो भूत्वाभ्रं भवति। अभ्रं भूत्वा मेघो भवति, मेघो भूत्वा प्रवर्षति, त इह व्रीहियवा ओषधिवनस्पतयस्तिलमाषा इति जायन्तेऽतो वै खलु दुर्निष्प्रपतरं यो यो ह्यन्नमत्ति यो रेतः सिञ्चति तद्भूय एव भवति।'

(छान्दो० ५। १०। ५-६)

कर्मभोगकी अवधितक देवभोगोंको भोगनेके बाद वहाँसे गिरते समय जीव पहले आकाशरूप होता है, आकाशसे वायु, वायुसे धूम, धूमसे अभ्र और अभ्रसे मेघ होते हैं, मेघसे जलरूपमें बरसते हैं और भूमि, पर्वत, नदी आदिमें गिरकर खेतोंमें वे व्रीहि, यव, ओषधि, वनस्पति, तिल आदि खाद्य पदार्थोंमें सम्बन्धित होकर पुरुषोंके द्वारा खाये जाते हैं। इस प्रकार पुरुषके शरीरमें पहुँचकर रस, रक्त, मांस, मेद, मज्जा, अस्थि आदि होते हुए अन्तमें वीर्यमें

सम्मिलित होकर शुक्र-सिञ्चनके साथ माताकी योनिमें प्रवेश कर जाते हैं, वहाँ गर्भकालकी अवधितक माताके खाये हुए अन्न-जलसे पालित होते हुए समय पूरा होनेपर अपानवायुकी प्रेरणासे मल-मूत्रकी तरह वेग पाकर स्थूलरूपमें बाहर निकल आते हैं। कोई-कोई ऐसा भी मानते हैं कि गर्भमें शरीर पूरा निर्माण हो जानेपर उसमें जीव आता है, परन्तु यह बात ठीक नहीं मालूम होती। बिना चैतन्यके गर्भमें बालकका बढ़ना सम्भव नहीं और यह कहना युक्ति तथा नियमके विरुद्ध है। वे लौटकर आनेवाले जीव कर्मानुसार मनुष्य या पशु आदि योनियोंको प्राप्त होते हैं। श्रुति कहती है—

'तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन्ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वाथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरञ्श्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा चाण्डालयोनिं वा।'

(छान्दो० ५। १०। ७)

'इनमें जिनका आचरण अच्छा होता है यानी जिनका पुण्य सञ्चय होता है वे शीघ्र ही किसी ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्यकी रमणीय योनिको प्राप्त होते हैं। ऐसे ही जिनके आचरण बुरे होते हैं अर्थात् जिनके पापका सञ्चय होता है वे किसी श्वान-शूकर या चाण्डालकी अधम योनिको प्राप्त होते हैं।'

यह ऊर्ध्वगतिके भेद और एकसे वापस न आने और दूसरीसे लौटकर आनेका क्रम बतलाया गया।

मध्यगति—स्वाभाविक या मनुष्यलोकको प्राप्त होनेवाले जीवोंकी

रजोगुणकी वृद्धिमें मृत्यु होनेपर उनका प्राण-वायु सूक्ष्म-शरीर-सहित समष्टि-लौकिक वायुमें मिल जाता है। व्यष्टि-प्राण-वायुको समष्टि-प्राण-वायु अपनेमें मिलाकर इस लोकमें जिस योनिमें जीवको जाना चाहिये, उसीके खाद्य पदार्थमें उसे पहुँचा देता है। यह वायुदेवता ही इसके योनि-परिवर्तनका प्रधान साधक होता है, जो सर्वशक्तिमान् ईश्वरकी आज्ञा और उसके निर्भ्रान्त विधानके अनुसार जीवको उसके कर्मानुसार भिन्न-भिन्न मनुष्योंके खाद्य पदार्थोंद्वारा उनके पक्वाशयमें पहुँचाकर उपर्युक्त प्रकारसे वीर्यरूपमें परिणत कर-कर मनुष्यरूपमें उत्पन्न कराता है।

अधोगति—अध:गतिको प्राप्त होनेवाले वे जीव हैं, जो अनेक प्रकारके पापोंद्वारा अपना समस्त जीवन कलंकित किये हुए होते हैं, उनके अन्तकालकी वासना कर्मानुसार तमोमयी ही होती है, इससे वे नीच गतिको प्राप्त होते हैं।

जो लोग अहंकार, बल, घमंड, काम और क्रोधादिके परायण रहते हैं, पर-निन्दा करते हैं, अपने तथा पराये सभीके शरीरमें स्थित अन्तर्यामी परमात्मासे द्वेष करते हैं, ऐसे द्वेषी, पापाचारी, क्रूरकर्मी नराधम मनुष्य सृष्टिके नियन्त्रणकर्ता भगवान्के विधानसे बारंबार आसुरी योनियोंमें उत्पन्न होते हैं और आगे चलकर वे उनसे भी अति नीच गतिको प्राप्त होते हैं।

(गीता १६। १८-२०)

इस नीच गतिमें प्रधान हेतु काम, क्रोध और लोभ हैं, इन्हीं तीनोंसे आसुरी सम्पत्तिका संग्रह होता है। भगवान्ने इसीलिये इनका त्याग करनेकी आज्ञा दी है—

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥
(गीता १६। २१)

'काम, क्रोध तथा लोभ—यह तीन प्रकारके नरकके द्वार अर्थात् सब अनर्थोंके मूल और नरककी प्राप्तिमें हेतु हैं, यह आत्माका नाश करनेवाले यानी उसे अधोगतिमें ले जानेवाले हैं, इससे इन तीनोंको त्याग देना चाहिये।'

नीच गतिके दो भेद—जो लोग आत्म-पतनके कारणभूत काम, क्रोध, लोभरूपी इस त्रिविध नरक-द्वारमें निवास करते हुए आसुरी, राक्षसी और मोहिनी सम्पत्तिकी पूँजी एकत्र करते हैं, गीताके उपर्युक्त सिद्धान्तोंके अनुसार उनकी गतिके प्रधानतः दो भेद हैं—(१) बारंबार तिर्यक् आदि आसुरी योनियोंमें जन्म लेना और (२) उनसे भी अधम भूत, प्रेत, पिशाचादि गतियोंको या कुम्भीपाक, अवीचि, असिपत्र आदि नरकोंको प्राप्त होकर वहाँकी रोमाञ्चकारी दारुण यन्त्रणाओंको भोगना।

इनमें जो तिर्यगादि योनियोंमें जाते हैं, वे जीव मृत्युके पश्चात् सूक्ष्म शरीरसे समष्टि-वायुके साथ मिलकर जरायुज योनियोंके खाद्य पदार्थोंमें मिलकर वीर्यद्वारा शरीरमें प्रवेश करके गर्भकी अवधि बीतने पर उत्पन्न हो जाते हैं। इसी प्रकार अण्डज प्राणियोंकी भी उत्पत्ति होती है। उद्भिज्ज, स्वेदज जीवोंकी उत्पत्तियोंमें भी वायुदेवता ही कारण होते हैं, जीवोंके प्राणवायुको समष्टि-वायुदेवता अपने रूपमें भरकर जल-पसीने आदिद्वारा स्वेदज प्राणियोंको और पृथ्वी-जल

आदिके साथ उनको सम्बन्धितकर बीजमें प्रविष्ट करवाकर पृथ्वीसे उत्पन्न होनेवाले वृक्षादि जड-योनियोंमें उत्पन्न कराते हैं।

यह वायुदेवता ही यमराजके दूतके स्वरूपमें उस पापीको दीखते हैं, जो नारकी या प्रेतादि योनियोंमें जानेवाला होता है। इसीकी चर्चा गरुडपुराण तथा अन्यान्य पुराणोंमें जहाँ पापीकी गतिका वर्णन है, वहाँ की गयी है। यह समस्त कार्य सबके स्वामी और नियन्ता ईश्वरकी शक्तिसे ऐसा नियमित होता है कि जिसमें कहीं किसी भूलको गुंजाइश नहीं होती। इसी परमात्मशक्तिकी ओरसे नियुक्त देवताओंद्वारा परवश होकर जीव अधम, मध्यम और उत्तम गतियोंमें जाता-आता है। यह नियन्त्रण न होता तो, न तो कोई जीव, कम-से-कम व्यवस्थापकके अभावमें पापोंका फल भोगनेके लिये कहीं जाता और न भोग ही सकता। अवश्य ही सुख भोगनेके लिये जीव लोकान्तरमें जाना चाहता, पर वह भी ले जानेवालेके अभावमें मार्गसे अनभिज्ञ रहनेके कारण नहीं जा पाता।

जीव साथ क्या लाता, ले जाता है—अब प्रधानतः यही बतलाना रहा कि जीव अपने साथ किन-किन वस्तुओंको ले जाता है और किनको लाता है? जिस समय यह जीव जाग्रत्-अवस्थामें रहता है, उस समय इसकी स्थिति स्थूल-शरीरमें रहती है। तब इसका सम्बन्ध पाँच प्राणोंसहित चौबीस तत्त्वोंसे रहता है। (आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वीका सूक्ष्म भावरूप) पाँच महाभूत, अहंकार, बुद्धि, मन, त्रिगुणमयी मूल प्रकृति, कान, त्वचा, आँख, जीभ, नाक—यह पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ; वाणी, हाथ, पैर, उपस्थ और गुदा—

यह पाँच कर्मेन्द्रियाँ एवं शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—यह इन्द्रियोंके पाँच विषय (गीता १३ । ५)। यही चौबीस तत्त्व हैं। इन तत्त्वोंका निरूपण करनेवाले आचार्योंने प्राणोंको इसीलिये अलग नहीं बतलाया कि प्राण वायुका ही भेद है, जो पञ्च महाभूतोंके अंदर आ चुका है । योग, सांख्य, वेदान्त आदि शास्त्रोंके अनुसार प्रधानतः तत्त्व चौबीस ही माने गये हैं । प्राणवायुके अलग माननेकी आवश्यकता भी नहीं है । भेद बतलानेके लिये ही प्राण, अपान, समान, व्यान, उदान नामक वायुके पाँच रूप माने गये हैं ।

स्वप्नावस्थामें जीवकी स्थिति सूक्ष्म शरीरमें रहती है, सूक्ष्म शरीरमें सतरह तत्त्व माने गये हैं—पाँच प्राण, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, उनके कारणरूप पाँच सूक्ष्म तन्मात्राएँ तथा मन और बुद्धि । यह सतरह तत्त्व हैं । कोई-कोई आचार्य पाँच सूक्ष्म तन्मात्राओंकी जगह पाँच कर्मेन्द्रियाँ लेते हैं । पञ्चतन्मात्रा लेनेवाले कर्मेन्द्रियोंको ज्ञानेन्द्रियोंके अन्तर्गत मानते हैं और पाँच कर्मेन्द्रियाँ माननेवाले पञ्च तन्मात्राओंको उनके कार्यरूप ज्ञानेन्द्रियोंके अन्तर्गत मान लेते हैं । किसी तरह भी माने अधिकांश मनस्वियोंने तत्त्व सतरह ही बतलाये हैं, कहीं इनका ही कुछ विस्तार और कहीं कुछ संकोच कर दिया गया है ।

इस सूक्ष्म-शरीरके अन्तर्गत तीन कोश माने गये हैं—प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय । (सब पाँच कोश हैं, जिनमें स्थूल देह तो अन्नमय कोश है । यह पाञ्चभौतिक शरीर पाँच भूतोंका भण्डार है, इसके अंदरके सूक्ष्म शरीरमें) पहला प्राणमय कोश है, जिसमें पञ्च प्राण हैं । उसके अंदर मनोमय कोश है, इसमें मन और इन्द्रियाँ हैं,

उसके अन्दर विज्ञानमय (बुद्धिरूपी) कोश है, इसमें बुद्धि और पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ हैं, यही सतरह तत्त्व हैं । स्वप्नमें इस सूक्ष्मरूपका अभिमानी जीव ही पूर्वकालमें देखे-सुने पदार्थोंको अपने अन्दर सूक्ष्मरूपसे देखता है ।

जब इसकी स्थिति कारण-शरीरमें होती है, तब अव्याकृत माया प्रकृतिरूप एक तत्त्वसे इसका सम्बन्ध रहता है । इस समय सभी तत्त्व उस कारणरूप प्रकृतिमें लय हो जाते हैं । इसीसे उस जीवको किसी बातका ज्ञान नहीं रहता । इसी गाढ़ निद्रावस्थाको सुषुप्ति कहते हैं । मायासहित ब्रह्ममें लय होनेके कारण उस समय जीवका सम्बन्ध सुखसे होता है । अतएव इसीको आनन्दमय कोश कहते हैं । इसीसे इस अवस्थासे जागनेपर यह कहता है कि 'मैं बहुत सुखसे सोया' उसे और किसी बातका ज्ञान नहीं रहता, यही अज्ञान है, इस अज्ञानका नाम ही माया — प्रकृति है । सुखसे सोया, इससे सिद्ध होता है कि उसे आनन्दका अनुभव था । सुखरूपमें नित्य स्थित होनेपर भी वह प्रकृति यानी अज्ञानमें रहनेके कारण वापस आता है । घटमें जल भरकर उसका मुख अच्छी तरह बन्द करके उसे अनन्त जलके समुद्रमें छोड़ दिया गया और फिर वापस निकाला, तब वह घड़ेके अन्दरका जल ज्यों-का-त्यों रहा, घड़ा न होता तो वह जल समुद्रके अनन्त जलमें मिलकर एक हो जाता । इसी प्रकार अज्ञानमें रहनेके कारण सुखरूप ब्रह्ममें स्थित होनेपर भी जीवको ज्यों-का-त्यों लौट आना पड़ता है । अस्तु !

चौबीस तत्त्वोंके स्थूल शरीरोंसे निकलकर जब यह जीव

बाहर जाता है, तब स्थूल देह तो यहीं रह जाता है। प्राणमय कोशवाला सतरह तत्त्वोंका सूक्ष्म-शरीर इसमेंसे निकलकर अन्य शरीरमें जाता है। भगवान्‌ने कहा है—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति॥
शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात्॥

(गीता १५। ७-८)

'इस देहमें यह जीवात्मा मेरा ही सनातन अंश है और वही इन त्रिगुणमयी मायामें स्थित पाँचों इन्द्रियोंको आकर्षण करता है; जैसे गन्धके स्थानसे वायु गन्धको ग्रहण करके ले जाता है, वैसे ही देहादिका स्वामी जीवात्मा भी जिस पहले शरीरको त्यागता है, उससे मनसहित इन इन्द्रियोंको ग्रहण करके फिर जिस शरीरको प्राप्त होता है, उसमें जाता है।'

प्राणवायु ही उसका शरीर है, उसके साथ प्रधानतासे पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और छठा मन (अन्तःकरण) जाता है, इसीका विस्तार सतरह तत्त्व है। यही सतरह तत्त्वोंका शरीर शुभाशुभ कर्मोंके संस्कारके सहित जीवके साथ जाता है।

यहाँ यह एक शङ्का बाकी रह जाती है कि श्रीमद्भगवद्गीताके द्वितीय अध्यायके २२वें श्लोकमें कहा है—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।

तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥

'जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रोंको त्यागकर दूसरे नवीन वस्त्रोंको ग्रहण करता है, वैसे ही जीवात्मा पुराने शरीरोंको त्यागकर दूसरे नये शरीरोंको प्राप्त करता है।' इसका यदि यह अर्थ समझा जाय कि इस शरीरसे वियोग होते ही जीव उसी क्षण दूसरे शरीरमें प्रवेश कर जाता है तो इससे दूसरा शरीर पहलेसे तैयार होना चाहिये और जब दूसरा तैयार ही है, तब कहीं आने-जाने, स्वर्ग-नरकादि भोगनेकी बात कैसे सिद्ध होगी तथा गीता स्वयं तीन गतियाँ निर्देश कर आना-जाना स्वीकार करती है, इसमें परस्पर विरोध आता है, इसका क्या समाधान है ?

इसका समाधान यह है कि यह शङ्का ही ठीक नहीं है। क्योंकि भगवान्‌ने इस मन्त्रमें यह नहीं कहा कि मरते ही जीवको दूसरी 'स्थूल' देह 'उसी समय तुरंत ही' मिल जाती है। एक मनुष्य कई जगह घूमकर घर आता है और घर आकर वह अपनी यात्राका बयान करता हुआ कहता है 'मैं बंबईसे कलकत्ते पहुँचा, वहाँसे कानपुर और कानपुरसे दिल्ली चला आया।' इस कथनसे क्या यह अर्थ निकलता है कि वह बंबई छोड़ते ही कलकत्तामें प्रवेश कर गया या कानपुरसे दिल्ली उसी दम आ गया ? रास्तेका वर्णन स्पष्ट न होनेपर भी इसके अंदर है ही। इसी प्रकार जीवका भी देह-परिवर्तनके लिये लोकान्तरोंमें जाना समझना चाहिये। रही नयी देह मिलनेकी बात, सो देह तो अवश्य मिलती है, परंतु वह स्थूल नहीं होती है। समष्टि-वायुके साथ सूक्ष्म शरीर मिलकर एक वायुमय देह बन जाती है; जो

ऊर्ध्वगामियोंका प्रकाशमय तैजस, नरकगामियोंका तमोमय प्रेत-पिशाच आदिका होता है, यह सूक्ष्म होनेसे हमलोगोंकी स्थूल दृष्टिसे दीखता नहीं। इसलिये यह शङ्का निरर्थक है। सूक्ष्म देहका आना-जाना कर्मबन्धन न छूटनेतक चला ही करता है।

प्रलयमें भी सूक्ष्म शरीर रहता है—प्रलयकालमें भी जीवोंके यह सतरह तत्त्वोंके शरीर ब्रह्माके समष्टि सूक्ष्म शरीरमें अपने-अपने संचित कर्म-संस्कारोंसहित विश्राम करते हैं और सृष्टिके आदिमें उसीके द्वारा पुनः इनकी रचना हो जाती है (गीता ८। १८)। महाप्रलयमें ब्रह्मासहित समष्टि-व्यष्टि सम्पूर्ण सूक्ष्म शरीर ब्रह्माके शान्त होनेपर शान्त हो जाते हैं, उस समय एक मूल प्रकृति रहती है, जिसको अव्याकृत माया कहते हैं। उसी महाकारणमें जीवोंके समस्त कारण-शरीर अभुक्त कर्म-संस्कारोंसहित अविकसितरूपसे विश्राम पाते हैं। सृष्टिके आदिमें सृष्टिके आदिपुरुषद्वारा ये सब पुनः रचे जाते हैं (गीता १४ । ३-४)। अर्थात् परमात्मारूप अधिष्ठाताके सकाशसे प्रकृति ही चराचरसहित इस जगत्को रचती है, इसी तरह यह संसार आवागमनरूप चक्रमें घूमता रहता है (गीता ९ । १०)। महाप्रलयमें पुरुष और उसकी शक्तिरूपा प्रकृति यह दो ही वस्तुएँ रह जाती हैं, उस समय अज्ञानसे आच्छादित जीवोंका ही प्रकृतिसहित पुरुषमें लय हुआ रहता है, इसीसे सृष्टिके आदिमें उनका पुनरुत्थान होता है।

आवागमनसे छूटनेका उपाय

जबतक परमात्माकी निष्काम भक्ति, कर्मयोग और ज्ञानयोग

आदि साधनोंद्वारा यथार्थ ज्ञान उत्पन्न होकर उसकी अग्निसे अनन्त कर्मराशि सम्पूर्णतः भस्म नहीं हो जाती, तबतक फल भोगनेके लिये जीवको परवश होकर शुभाशुभ कर्मोंके संस्कार मूल-प्रकृति और अन्तःकरण तथा इन्द्रियोंको साथ लिये लगातार बारंबार जाना-आना पड़ता है। जाने और आनेमें ये ही वस्तुएँ साथ जाती-आती हैं। जीवके पूर्वजन्मकृत शुभाशुभ कर्म ही इसके गर्भमें आनेके हेतु हैं और अनेक जन्मार्जित संचित कर्मोंके अंशविशेषसे निर्मित प्रारब्धका भोग करना ही इसके जन्मका कारण है। कर्म या तो भोगसे नाश होते हैं या प्रायश्चित्तसे या निष्काम कर्म-उपासनादि साधनोंसे नष्ट होते हैं।* इनका सर्वतोभावसे नाश तो परमात्माकी प्राप्तिसे ही होता है। जो निष्कामभावसे सदा-सर्वदा परमात्माका स्मरण करते हुए—मन-बुद्धि परमात्माको अर्पण करके समस्त कार्य परमात्माके लिये ही करते हैं, उनकी अन्त समयकी वासना परमात्मविषयक ही होती है और उसीके अनुसार उन्हें परमात्माकी प्राप्ति होती है। इसलिये भगवान् कहते हैं—

तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्॥

(गीता ८।७)

'हे अर्जुन! तू सब समय निरन्तर मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर, इस प्रकार मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिसे युक्त हुआ तू निस्सन्देह मुझको ही प्राप्त होगा।'

* प्रथम भागमें 'कर्मका रहस्य' नामक लेख देखना चाहिये।

इस स्थितिमें तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति होनेके कारण अज्ञानसहित पुरुषके सभी कर्म नाश हो जाते हैं, इनसे उसका आवागमन सदाके लिये मिट जाता है, यही मुक्ति है, इसीका नाम परम पदकी प्राप्ति है, यही जीवका चरम लक्ष्य है। इस मुक्तिके दो भेद हैं—एक सद्योमुक्ति और दूसरी क्रममुक्ति। इनमें क्रममुक्तिका वर्णन तो देवयानमार्गके प्रकरणमें ऊपर आ चुका है। सद्योमुक्ति भी दो प्रकारकी है—जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति।

तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति हो जानेपर जीवन्मुक्त पुरुष लोकदृष्टिमें जीता हुआ और कर्म करता हुआ-सा प्रतीत होता है, परंतु वास्तवमें उसका कर्मसे सम्बन्ध नहीं होता। यदि कोई कहे कि सम्बन्ध बिना उससे कर्म कैसे होते हैं? इसका उत्तर यह है कि वास्तवमें वह तो किसी कर्मका कर्ता है नहीं, पूर्वकृत शुभाशुभ कर्मोंसे बने हुए प्रारब्धका जो शेष भाग अवशिष्ट है, उसके भोगके लिये उसीके वेगसे, कुलालके न रहनेपर भी कुलालचक्रकी भाँति कर्ताके अभावमें भी परमेश्वरकी सत्ता-स्फूर्तिसे पूर्व-स्वभावानुसार कर्म होते रहते हैं, परंतु वे कर्तृत्व-अभिमानसे शून्य कर्म किसी पुण्य-पापके उत्पादक न होनेके कारण वास्तवमें कर्म ही नहीं समझे जाते (गीता १८। १७)।

अन्तकालमें तत्त्वज्ञानके द्वारा तीनों शरीरोंका अत्यन्त अभाव होनेसे जब शुद्ध सच्चिदानन्दघनमें तद्रूपताको प्राप्त हो जाता है (गीता ५। १७) तब उसे विदेहमुक्ति कहते हैं। जिस मायासे कहीं भी नहीं आने-जानेवाले निर्मल निर्गुण सच्चिदानन्दरूप आत्मामें

भ्रमवश आने-जानेकी भावना होती है, भगवान्‌की भक्तिके द्वारा उस मायासे छूटकर इस परम पदकी प्राप्तिके लिये ही हम सबको प्रयत्न करना चाहिये ।

जीवात्मा

एक सज्जनने पूछा है—जीव क्या है, जीवका आना-जाना कैसे होता है और यदि जीव और आत्मा एक है तथा आत्मा असङ्ग और अचल है तो फिर उसका आना-जाना कैसे सम्भव है ?

अपनी सामान्य बुद्धिके अनुसार इन प्रश्नोंका उत्तर देनेकी चेष्टा की जाती है ।

जो समष्टि-चेतन परब्रह्म परमात्माका शुद्ध अंश है, उसे आत्मा कहते हैं । माया और मायाके कार्योंके साथ सम्बन्धित हो जानेपर इसी आत्माकी जीव-संज्ञा समझी जाती है । प्रकृति और प्रकृतिके सतरह कार्योंके साथ रहनेसे ही आत्मा जीव कहलाता है, सतरह कार्योंमें पाँच प्राण, दस इन्द्रियाँ और दो मन-बुद्धि समझने चाहिये । परमात्माका जो सर्वथा विशुद्ध अंश है, उसमें तो आने-जानेकी कल्पना ही नहीं की जा सकती, वह तो आकाशकी भाँति निर्लेप और समभावसे सर्वदा सर्वत्र स्थित है। शरीरोंके साथ सम्बन्ध होनेसे उसका आना जाना-सा प्रतीत होता है । स्थूल शरीरके संसारमें उत्पन्न और नाश होनेको आत्मापर आरोपित करके लोग आत्माके आने-जानेकी कल्पना करते हैं, यह जैसे आत्मामें औपचारिक है, वैसे ही स्थूल शरीरके नाश होनेपर सूक्ष्मका

आवागमन भी—जिसको लोग मृत्यु कहते हैं—वास्तवमें औपचारिक ही है। आत्मा अचल होनेके कारण स्थूल या सूक्ष्म—किसी भी शरीरकी स्थितिमें उसका गमनागमन उसी प्रकार नहीं होता जिस प्रकार किसी घटके लाने, ले जानेसे घटाकाशका नहीं हुआ करता। यद्यपि आकाशका दृष्टान्त आत्माके लिये सब देशोंमें सर्वथा नहीं घटता, परंतु दूसरे किसी दृष्टान्तके अभावमें समझानेके लिये इसीका उल्लेख किया जाता है।

इस सिद्धान्तसे कोई यह कहे कि जब आत्माका गमनागमन वास्तवमें होता ही नहीं, उपचारसे प्रतीत होता है, तो फिर आवागमनसे छूटनेके लिये क्यों चेष्टा की जाती है और क्यों शास्त्रकार तथा संत-महात्मा ऐसा उपदेश करते हैं एवं इसके औपचारिक गमनागमनमें सुख-दुःख भी किसको होते हैं? इसका उत्तर यह है कि शुद्ध आत्मामें वास्तवमें गमनागमनकी क्रिया न होनेपर भी सुख-दुःख जीवात्माको ही होते हैं और इसीलिये उनसे मुक्त होनेको कहा जाता है, गमनागमनके वास्तविक स्वरूपको तत्त्वसे न जाननेके कारण शरीरके साथ सम्बन्धवाला जीवात्मा सुख-दुखका भोक्ता माना गया है—

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु॥

(गीता १३।२१)

'प्रकृति (भगवान्‌की त्रिगुणमयी माया) में स्थित हुआ ही पुरुष प्रकृतिसे उत्पन्न हुए त्रिगुणात्मक सब पदार्थोंको भोगता है

और इन गुणोंका सङ्ग ही इस जीवात्माके अच्छी-बुरी योनियोंमें जन्म लेनेमें कारण है ।' यह बात ध्यानमें रखनेकी है कि न तो सुख-दुःख प्रकृति और उसके कार्योंसे मुक्त होनेपर शुद्ध आत्माको हो सकते हैं और न जड होनेके कारण अन्तःकरणको ही । यह उसी अवस्थामें होते हैं जब यह पुरुष—जीवात्मा प्रकृतिमें स्थित होता है ।

कुछ लोगोंका कहना है कि सुख-दुःख आदि अन्तःकरणके धर्म हैं, ये उसमें रहते आये हैं और रहेंगे ही, परंतु यह बात ठीक नहीं है । ये अन्तःकरणके धर्म नहीं, विकार हैं और साधनसे न्यूनाधिक हो सकते हैं तथा इनका नाश भी हो सकता है । विकारोंको ही कोई धर्मके नामसे पुकारे तो कोई आपत्ति नहीं है, परंतु यह नहीं समझना चाहिये कि सुख-दुःख, हर्ष-शोक आदिका भोक्ता अन्तःकरण है । मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार आदि जड होनेके कारण कर्त्ता-भोक्ता नहीं हो सकते । ये मायाके विकार हैं और अन्तःकरण इनके रहनेका आधारस्थल है । अतएव मायाके सम्बन्धवाला पुरुष ही भोक्ता है ।

इन सुख-दुःखोंकी निवृत्ति तबतक नहीं हो सकती, जबतक कि इस चेतन आत्माका शरीरोंके साथ अज्ञानजन्य सम्बन्ध छूट नहीं जाता । प्रकृतिसे सम्बन्ध छूटकर स्व-स्थ अर्थात् स्व-स्वरूपमें स्थित होनेपर ही आत्मा कृतकृत्य और मुक्त हो सकता है । महर्षि पतञ्जलिने भी योगदर्शनमें यही बात कही है ।

अब यह विचार करना है कि प्रकृतिके साथ आत्माका संयोग होनेमें हेतु क्या है ? वह हेतु अविद्या है—

तस्य हेतुरविद्या'। (२ । २४)

इस अविद्याके नाशसे प्रकृतिसे छूटकर आत्माकी स्व-स्वरूपमें स्थिति होती है, तभी वह सुख-दुःखसे मुक्त होता है। अविद्याका नाश तत्त्वज्ञानसे होता है। ईश्वर, माया और मायाके कार्यका यथार्थ ज्ञान ही संक्षेपमें तत्त्वज्ञान है। भगवान् कहते हैं—

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः॥
क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम॥
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम्॥

(गीता १३ । १-२, ३४)

'हे अर्जुन ! यह शरीर क्षेत्र है, ऐसा कहा जाता है और इसको जो जानता है उसको क्षेत्रज्ञ, ऐसा उनके तत्त्वको जाननेवाले ज्ञानीजन कहते हैं। हे अर्जुन ! तू सब क्षेत्रोंमें क्षेत्रज्ञ अर्थात् जीवात्मा भी मुझको ही जान; क्षेत्र-क्षेत्रज्ञका अर्थात् विकारसहित प्रकृतिका और पुरुषका जो तत्त्वसे जानना है वह ज्ञान है, ऐसा मेरा मत है। इस प्रकार क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके भेदको तथा विकारसहित प्रकृतिसे छूटनेके उपायको जो पुरुष ज्ञाननेत्रोंद्वारा तत्त्वसे जानते हैं, वे महात्माजन परब्रह्म परमात्माको प्राप्त होते हैं।'

उपर्युक्त विवेचनसे यह समझा जा सकता है कि प्रकृति और उसके कार्योंमें सम्बन्धित आत्मा ही जीवात्मा है और इसी सम्बन्धके कारण इसका आना-जाना-सा प्रतीत होता है। जीव किस प्रकारसे भिन्न-भिन्न योनियोंमें कर्मोंके वश जाता-आता है, यह भिन्न विषय है और इसका विस्तृत वर्णन प्रथम भागके 'कर्मका रहस्य' नामक लेखमें आ चुका है, इसलिये इसको यहाँ नहीं लिखा। ऊपर यह कहा जा चुका है कि तत्त्वज्ञानसे ही मायाका सम्बन्ध छूटता है और उस तत्त्वज्ञानका स्वरूप भी बतलाया जा चुका है। अब यह जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि इस तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति कैसे हो। श्रीमद्भगवद्गीतामें इसकी प्राप्तिके प्रधानतया तीन उपाय बतलाये गये हैं—ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग। ज्ञानयोगकी व्याख्या श्रीमद्भगवद्गीता अध्याय १८ श्लोक ४९ से ५५ तक, कर्मयोगकी व्याख्या अध्याय २ श्लोक ३९ से ५३ तक और भक्तियोगकी व्याख्या अध्याय १२ श्लोक २ से २० तक की गयी है। इन व्याख्याओंको ध्यानपूर्वक पढ़ना चाहिये। समष्टिचेतन परब्रह्म परमेश्वरकी उपासना और उसके स्वरूपके तात्त्विक विवेककी आवश्यकता तो तीनोंमें ही है। अवश्य ही प्रकारमें भेद है। ज्ञानके सिद्धान्तसे अभेदोपासना एवं कर्म तथा भक्तियोगसे प्रधानतया भेदरूपसे उपासना की जाती है। इन दोनोंमें भक्तियोगमें भक्तिकी मुख्यता और कर्मकी गौणता है तथा कर्मयोगमें कर्मकी मुख्यता और भक्तिकी गौणता है।

जन्म-मरणके चक्करसे छुड़ानेवाले तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिके लिये

इन तीनों उपायोंमेंसे अपनी रुचि और अधिकारके अनुसार किसी एक उपायको ग्रहण करना मनुष्यमात्रके लिये परम कर्तव्य है।

तत्त्व-विचार

प्रत्येक मनुष्यको इन प्रश्नोंपर विचार करना चाहिये कि (१) प्रकृति क्या है? (२) पुरुष किसे कहते हैं? (३) संसार क्या है? (४) हम कौन हैं? (५) राग-द्वेष, काम-क्रोधादि जीवके अन्तःकरणमें रहते ही हैं या इनका समूल नाश भी हो सकता है? (६) संसारमें हमारा क्या कर्तव्य है? (७) परमात्मा, जीव, प्रकृति और संसार—ये अनादि हैं या आदिवाले हैं? इनका परस्पर क्या सम्बन्ध है और (८) बन्धन एवं मोक्ष क्या है? इन आठ प्रश्नोंपर गहरा विचार करनेसे ज्ञानकी वृद्धि होती है और उत्तरोत्तर ज्ञानके बढ़नेसे आत्मामें इनका यथार्थ बोध हो जाता है—जीवन कृतकृत्य हो जाता है। थोड़े शब्दोंमें यह कहना चाहिये कि मनुष्य-जीवनका परम उद्देश्य सिद्ध हो जाता है। यद्यपि इन प्रश्नोंका विषय बहुत ही गहन है और सभी प्रश्न अति महत्त्वके हैं, इनपर विवेचन करना साधारण बात नहीं है, वास्तवमें इनका तत्त्व महात्मा पुरुष ही जानते हैं तथापि मैं अपने विनोदके लिये साधारण बुद्धिके अनुसार इन प्रश्नोंपर अपने मनके विचार संक्षेपमें पाठकोंके सामने उपस्थित कर रहा हूँ और विनय करता हूँ कि आपलोग यदि उचित समझें तो इस विषयपर विचार करें।

(१) प्रकृति, (२) पुरुष और (३) संसार

प्रकृति और पुरुष दोनों अनादि हैं। भगवान् गीतामें कहते हैं—

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।
(१३।१९)

'हे अर्जुन! प्रकृति और पुरुष—इन दोनोंको तू अनादि जान।' इनमें पुरुष तो अनादि और अनन्त है तथा प्रकृति अनादि, सान्त है। पुरुष सर्वव्यापी, नित्य, चेतन एवं आनन्दरूप है और प्रकृति विकारवाली होनेके कारण जड, अनित्य और दुःखरूप है। यह समस्त जडवर्ग संसार प्रकृतिका ही विकार है। प्रकृति जब अक्रिय-रूप हो जाती है, तब प्रकृतिका विकाररूप यह जडवर्ग संसार प्रकृतिमें लय हो जाता है, इसीको महाप्रलय कहते हैं और जब यह प्रकृति पुरुषके सकाशसे क्रियावाली होती है तब सर्गके आदिमें इससे इस जडवर्ग संसारका विस्तार होता है। इसीलिये कार्य और करण*के विस्तारमें प्रकृतिको ही हेतु बतलाया गया है—

कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते।
(गीता १३।२०)

सबसे पहले प्रकृतिसे महत्तत्त्वकी उत्पत्ति होती है, इस महत्तत्त्वको ही समष्टि-बुद्धि कहते हैं। सम्पूर्ण जीवोंकी व्यष्टिबुद्धियाँ इस समष्टि-बुद्धिका ही विस्तार हैं। तदनन्तर इस महत्तत्त्वसे समष्टि-

---

* आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी तथा शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध—इनका नाम कार्य है। बुद्धि, अहंकार और मन तथा श्रोत्र, त्वचा, रसना, नेत्र और घ्राण एवं वाक्, हस्त, पाद, उपस्थ और गुदा—इन १३ का नाम करण है।

अहंकार उत्पन्न होता है, समष्टि-अहंकारसे संकल्पात्मक समष्टि-मनकी उत्पत्ति होती है और उसी अहंकारसे आकाश, आकाशसे वायु, वायुसे अग्नि, अग्निसे जल, जलसे पृथिवी, इस प्रकार क्रमसे पाँच सूक्ष्म महाभूतोंकी उत्पत्ति होती है, यही इस जडवर्ग संसारके कारण हैं। कोई-कोई महर्षि इनको सूक्ष्म तन्मात्राएँ और इन्द्रियोंके कारणभूत अर्थ भी कहते हैं। महर्षि पतञ्जलि इन सूक्ष्म तन्मात्राओंकी उत्पत्ति अहंकारसे बतलाते हैं और भगवान् कपिल महत्तत्त्वसे। वास्तवमें इनमें कोई विशेष अन्तर नहीं है, क्योंकि समष्टि-बुद्धि, समष्टि-अहंकार और समष्टि-मन—ये तीनों अन्तःकरणके ही अवस्था-भेदसे तीन भिन्न-भिन्न नाम हैं। तदनन्तर इन सूक्ष्म भूतोंसे या कारणरूप तन्मात्राओंसे पञ्च-ज्ञानेन्द्रिय, पञ्च-कर्मेन्द्रिय और इन्द्रियोंके पाँच विषयोंकी उत्पत्ति अथवा विस्तार होता है। या यों कहिये कि यह जडवर्ग संसार उन पञ्च सूक्ष्म भूतोंका ही विस्तार या कार्य है।

पुरुषके भी दो भेद हैं—परमात्मा और जीवात्मा। परमात्मा एक है, परन्तु जीव असंख्य हैं। परमात्माके दो स्वरूप हैं—एक गुणातीत, जिसे सच्चिदानन्द कहते हैं, जो सदा ही माया और मायाके कार्य संसारसे अतीत है एवं जो अनादि और अनन्त है। **'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'** (तै० २। १), **'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म'** (बृ० ३।९।२८), **'आनन्दो ब्रह्मेति'** (तै० ३। ६), **'रसो वै सः'** (तै० २। ७), **'एकमेवाद्वितीयम्'** (छा० ६। २। १) **'एषास्य परमा गतिरेषास्य परमा सम्पत्……एषोऽस्य परम आनन्दः'** (बृ० ४। ३। ३२) आदि विशेषणोंसे श्रुतियाँ जिसका वर्णन करती हैं। दूसरा सगुण ब्रह्म जो मायाविशिष्ट ईश्वर, महेश्वर,

सृष्टिकर्ता, परमेश्वर प्रभृति अनेक नामोंसे श्रुति-स्मृतियोंमें वर्णित है। वस्तुतः विज्ञानानन्दघन निराकार ब्रह्म और महेश्वर सगुण ब्रह्म सर्वथा अभिन्न हैं, दो नहीं हैं, परमात्माके जिस अंशमें सत्त्व-रज-तम त्रिगुणमय संसार है, श्रुति-स्मृतियोंने, उसको सगुण ब्रह्म और जहाँ त्रिगुणमयी प्रकृति और संसारका अत्यन्त अभाव है उसको गुणातीत विज्ञानानन्दघन नामसे वर्णन किया है। वास्तवमें 'परमात्मा' शब्दसे सगुण-निर्गुण दोनों मिलकर समग्र ब्रह्म ही समझना चाहिये। यों तो सगुण ब्रह्मके सम्बन्धमें भी दो भेदोंकी कल्पना की गयी है। एक निराकार सर्वव्यापी सृष्टिकर्ता ईश्वर और दूसरा साकार ब्रह्म—ब्रह्मका अवतार, जैसे भगवान् श्रीरामचन्द्र और भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र प्रभृति। यहाँ सर्वव्यापी निराकार सगुण-ब्रह्ममें और अपनी लीलासे साकार रूपमें प्रकट होनेवाले श्रीरामकृष्ण आदि अवताररूपी भगवान्में कोई अन्तर या भिन्नता नहीं है। कुछ लोग विना समझे-बूझे कह दिया करते हैं कि सर्वव्यापी निराकार ब्रह्म साकार नहीं हो सकते। इन लोगोंके सम्बन्धमें यह कहनेका तो मुझे अधिकार नहीं कि 'ऐसा कहना उनकी भूल है।' हाँ, इतना जरूर कहा जाता है कि इन्हें अपने इस सिद्धान्तपर फिरसे विचार जरूर करना चाहिये। जिस प्रकार व्यापक निराकार अव्यक्त अग्नि तथा किसी स्थानविशेषमें प्रज्वलित अव्यक्त अग्निमें वस्तुतः कोई भेद नहीं है, एक ही अग्निके दो रूप हैं, इसी प्रकार निराकार और साकार परमात्माको भी समझना चाहिये। साधनोंद्वारा सर्वव्यापी परमात्माका सब जगह व्याप्त रहते हुए ही प्रज्वलित अग्निकी भाँति प्रकट हो जाना शास्त्र-सम्मत और युक्तियुक्त ही है। भगवान्ने स्वयं श्रीमुखसे कहा है—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ॥

(गीता ४। ६)

'मैं अविनाशीस्वरूप अजन्मा होनेपर भी तथा सब भूत प्राणियोंका ईश्वर होनेपर भी अपनी प्रकृतिको अधीन करके योगमायासे प्रकट होता हूँ।' इसके अतिरिक्त केन-उपनिषद्में इन्द्र, अग्नि आदि देवोंके सामने ब्रह्मका यक्षरूपमें प्रकट होना प्रसिद्ध है। किसी-किसीका कहना है कि जब भगवान् इस प्रकार एक जगह प्रकट हो जाते हैं तब अन्य सब स्थानोंमें तो उनका अभाव हो जाना चाहिये। परंतु ऐसा कथन भगवान्के तत्त्वको न जाननेके कारण ही होता है। हम देखते हैं कि यह बात तो अग्निमें भी चरितार्थ नहीं होती। जब पत्थर या दियासलाईकी रगड़से अग्नि प्रकट होती है—निराकारसे साकाररूपमें परिणत होती है तब क्या अन्य सब स्थानोंमें उसका अस्तित्व मिट जाता है? फिर भगवान्की तो बात ही क्या है! भगवान् तो ऐसे सर्वव्यापी हैं कि अग्नि आदि पञ्चभूतोंकी कारणरूपा प्रकृति भी उनके किसी अंशमें उनके संकल्पके आधारपर स्थित है। ऐसे परमेश्वरके सम्बन्धमें इस प्रकारका कुतर्क करना अपनी बुद्धिका ही परिचय देना है।

अब जीवात्माकी बात रही। भलीभाँति विचारकर देखनेसे तो यही सिद्ध होता है कि जीवात्मा परमात्मासे भिन्न नहीं है, क्योंकि श्रुति-स्मृतियोंमें जीवात्माको परमात्माका अंश बतलाया है। भगवान् कहते हैं—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।

(गीता १५। ७)

'इस देहमें यह जीवात्मा मेरा ही सनातन अंश है।' गोसाईंजी भी 'ईश्वर अंस जीव अविनासी' कहकर इसी सिद्धान्तकी पुष्टि करते हैं। अंश अंशीसे उसी प्रकार भिन्न नहीं होता जिस प्रकार तरङ्गें समुद्रसे भिन्न दीखती हुई भी वस्तुतः उससे भिन्न नहीं हैं।

जीवके भी दो भेद हैं—एक बद्ध, दूसरा मुक्त। बद्ध वह है जो शरीरकी उत्पत्ति और विनाशमें अज्ञानके कारण आत्माका जन्मना-मरना मानता है और मुक्त उसे कहते हैं, जिसके अज्ञानका नाश हो गया हो और जो भावी आवागमनके चक्रसे सर्वथा छूट गया हो। वास्तवमें तो ऐसे पुरुषकी जीव-संज्ञा ही नहीं है। यह भेद तो केवल समझानेके लिये किया गया है। उसकी स्थिति तो अनिर्वचनीय ही होती है।

मुक्ति भी दो प्रकारकी है—एक निराकार सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें अभेदरूपसे मिल जाना और दूसरी साकार सगुण ब्रह्मके परमधाममें (जिसको सत्यलोकादि नामोंसे शास्त्रोंने निर्देश किया है) जाकर सगुण पुरुषोत्तम भगवान्‌की सन्निधिमें निवास करना। इस दूसरी प्रकारकी मुक्तिके भी चार भेद हैं—सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य। कोई-कोई महानुभाव सार्ष्टि नामक एक प्रकारकी मुक्ति और बताकर इसके पाँच भेद करते हैं परंतु 'सार्ष्टि' मुक्ति 'सारूप्य'के अन्तर्गत आ जाती है।

जबतक जीवको अज्ञान रहता है, तभीतक उसकी 'बद्ध' संज्ञा है। जब उसे परमात्माके तत्त्वका यथार्थ ज्ञान हो जाता है तब उसकी 'मुक्त' संज्ञा हो जाती है। परमात्माके चेतन अंशकी यह

जीव-संज्ञा अनादि और अन्तवाली है अर्थात् है तो अनादिकालसे परंतु मिट सकती है। जब यह जीव स्थूल शरीरमें आता है और जाग्रदवस्थामें रहता है, उस समय इसका चौबीस* तत्त्वोंवाले तीनों (स्थूल, सूक्ष्म, कारण) शरीर और पाँचों† कोशोंसे सम्बन्ध रहता है। जब प्रलय या स्वप्नावस्थाको प्राप्त होता है, तब इसका प्रकृतिसहित सतरह‡ तत्त्वोंके सूक्ष्म शरीरसे सम्बन्ध रहता है। जब यह ब्रह्माजीके शान्त होनेपर महाप्रलयमें या सुषुप्ति-अवस्थामें रहता है, तब इसका केवल प्रकृतिके साथ सम्बन्ध रहता है। इसीको कारण-शरीर कहते हैं जो मूल-प्रकृतिका एक अंश है। सर्गके अन्तमें गुण और कर्मोंके संस्कारोंका समुदाय कारणरूपा प्रकृतिमें लय हो जाता है और सर्गके आदिमें पुनः उसीसे प्रकट हो जाता है और उसी गुण-कर्म-समुदायके अनुसार ही परमेश्वर सम्पूर्ण भूत-प्राणियोंको संसारमें रचते हैं। भगवान्ने कहा है—

---

* चौबीस तत्त्व ये हैं—पञ्चमहाभूत, अहंकार, बुद्धि, मूलप्रकृति, दस इन्द्रियाँ, मन और पञ्चतन्मात्रा।

(गीता १३।५)

† पञ्चकोश ये हैं—अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय। स्थूलमें तीनों शरीर और पाँचों कोश हैं। सूक्ष्ममें दो शरीर तथा 'अन्नमय' को छोड़कर शेष चार कोश हैं, एवं कारण-शरीरमें सिर्फ आनन्दमय कोश है।

‡ मन, बुद्धि, दस इन्द्रियाँ तथा पञ्चतन्मात्रा—ये सतरह तत्त्व हैं। अहंकार बुद्धिके अन्तर्गत आ जाता है और प्रकृति सबमें व्यापक है ही। पञ्चप्राण, सूक्ष्म वायुके अन्तर्गत होनेसे उन्हें तन्मात्राओंके अन्तर्गत समझ लेना चाहिये।

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम् ।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ॥
(गीता ९ । ७)

'हे अर्जुन ! कल्पके अन्तमें सब भूत मेरी प्रकृतिको प्राप्त होते हैं अर्थात् प्रकृतिमें लय होते हैं और कल्पके आदिमें उनको मैं फिर रचता हूँ ।'

जीवमें जो चेतनता है वह परमात्माका अंश होनेसे वस्तुतः परमात्मस्वरूप ही है, अतः उस चेतनत्वको अनादि और अनन्त ही मानना चाहिये । परंतु जीवके साथ जो प्रकृतिका सम्बन्ध है वह अनादि और सान्त है; क्योंकि प्रकृति स्वयं ही अनादि एवं सान्त है ।

प्रकृतिके दो भेद हैं—एक विद्या और दूसरी अविद्या । विद्याके द्वारा परमात्मा संसारकी रचना करते हैं और अविद्याके द्वारा जीव मोहित हो रहे हैं । जब जीव अविद्याजनित रज और तमको लाँघकर केवल सत्त्वमें स्थित हो जाता है, तब उसके अन्तःकरणमें विद्या अर्थात् ज्ञानकी उत्पत्ति होती है । फिर उस ज्ञानके द्वारा अज्ञानका नाश होनेपर वह ज्ञान भी स्वयमेव शान्त हो जाता है । जैसे काठसे उत्पन्न अग्नि काठको जलाकर स्वयं भी शान्त हो जाती है, इसी प्रकार शुद्ध अन्तःकरणमें उत्पन्न ज्ञान, अज्ञानको मिटाकर स्वयं भी मिट जाता है । उस समय यह जीव विद्या और अविद्या उभयरूपा प्रकृतिसे सर्वथा मुक्त होकर सच्चिदानन्दघन परमात्माके स्वरूपको अभिन्नरूपसे प्राप्त हो जाता है । इसीको अभेदमुक्ति कहते हैं । फिर उसकी दृष्टिमें न ज्ञान है और न अज्ञान ही है । वह

सम्पूर्ण उपाधियोंसे रहित केवल शुद्ध चेतनस्वरूप है । उसके स्वरूपका वर्णन हो ही नहीं सकता; क्योंकि वह वाणीसे अतीत है । वर्णनकी बात तो अलग रही, उसकी स्थितिको मन-बुद्धिसे समझ लेना भी अत्यन्त दुर्गम है, क्योंकि वह मन-बुद्धिसे परे है, उसके सम्बन्धमें जो कुछ भी वर्णन, मनन या निश्चय किया जाता है, वस्तुतः वह इन सबसे अत्यन्त विलक्षण है । उसकी इस विलक्षणताको समझ लेना मनुष्यकी बुद्धिसे बाहरकी बात है। जिसको वह स्थिति प्राप्त है, वही इस बातको समझता है । वस्तुतः यह कहना भी केवल समझानेके लिये ही है ।

एक ही निराकार आकाश जिस प्रकार अनेक भिन्न-भिन्न घड़ोंके सम्बन्धसे उनमें भिन्न-भिन्न रूपसे प्रतीत होता है और जिस प्रकार एक ही जल विशेष सर्दीके कारण ओलोंके रूपमें परिणत होकर अनेक रूपमें भासता है इसी प्रकार एक ही चेतन, प्रकृतिके सम्बन्धसे अनेक भिन्न-भिन्न रूपोंमें प्रतीत हो रहा है । यद्यपि घटाकाश और महाकाशमें कोई भिन्नता नहीं तथापि उपाधिभेदसे वह आकाश विभिन्न नाना रूपोंमें दिखलायी पड़ता है । परन्तु जिस प्रकार घटाकाश महाकाशका अंश है, ठीक उसी प्रकार जीव परमात्माका अंश नहीं है, क्योंकि आकाश निराकार, निरवयव तो है; परन्तु जड होनेके कारण उसमें जैसे देशके विभागकी कल्पना की जा सकती है, विज्ञानानन्दघन परमात्मा देश और कालसे सर्वथा अतीत होनेके कारण उसमें आकाशकी भाँति अंशांशी-भावकी कल्पना नहीं की जा सकती । वास्तवमें परमात्माके अंशांशी-भावकी कल्पनाको बतलानेवाला संसारमें

कोई दूसरा उदाहरण है ही नहीं। दूसरा स्वप्नका उदाहरण भी दिया जाता है कि 'जैसे एक ही जीव स्वप्नावस्थामें मनःकल्पित सृष्टिको रचकर आप ही अपने अनेक रूपोंकी कल्पना कर सुख-दुःखको प्राप्त होता है, परन्तु स्वप्नकी सृष्टिमें प्रतीत होनेवाले वे अनेक पदार्थ उसीकी अपनी कल्पना होनेके कारण उससे भिन्न नहीं हैं, इसी प्रकार संसारके सारे जीव भी ईश्वरके ही अंश हैं।' पर यह उदाहरण भी समीचीन नहीं, क्योंकि जीव अज्ञानके कारण निद्राके वशीभूत हो स्वप्नमें कल्पित सृष्टिका अनुभव करता है, परन्तु सच्चिदानन्दघन परमात्मामें यह बात नहीं। परमात्माके यथार्थ अंशांशी-भावकी स्थिति तो परमात्माके तत्त्वका यथार्थ ज्ञान होनेसे ही समझमें आ सकती है। उदाहरणों और शास्त्रोंसे जो बातें जानी जाती हैं, वे तो केवल शाखाचन्द्र-न्यायसे तत्त्वका लक्ष्य करानेके लिये हैं! वास्तविक स्वरूप तो अत्यन्त ही विलक्षण है।

प्रकृति, प्रकृतिके विकार संसार और पुरुष अर्थात् जीवात्मा एवं परमात्माका वर्णन संक्षेपमें किया जा चुका। अब अगले प्रश्नोंपर विचार करना है।

(४) हम कौन हैं?

जीवात्मा ही इस मनुष्य-शरीरमें 'अहम्' अर्थात् हम शब्दका वाच्य है। वह वस्तुतः नित्य, चेतन और आनन्दरूप है तथा इस चौबीस तत्त्वोंवाले जड-दृश्य शरीरसे अत्यन्त विलक्षण है। शरीर अनित्य, क्षणभङ्गुर और नाशवान् है, अज्ञानसे इसकी स्थिति और ज्ञानसे ही इसका अन्त है। इसीलिये श्रीभगवान्‌ने सब शरीरोंको अन्तवाले बतलाया है।

'अन्तवन्त इमे देहाः'

(गीता २ । १८)

परन्तु मायाके कार्यरूप शरीरके साथ सम्बन्ध होनेके कारण, अविनाशी, अप्रमेय, नित्य-चेतन जीवात्मा सुख-दुःखका भोक्ता और नाना प्रकारकी योनियोंमें गमनागमन करनेवाला कहा गया है। यथा—

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान् ।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥

(गीता १३ । २१)

अर्थात् 'प्रकृतिमें स्थित हुआ ही पुरुष प्रकृति (त्रिगुणमयी माया) से उत्पन्न हुए त्रिगुणात्मक सब पदार्थोंको भोगता है और इन गुणोंका सङ्ग ही इस जीवात्माके अच्छी-बुरी योनियोंमें जन्म लेनेका कारण है।'

जबतक इसको परमात्माके तत्त्वकी उपलब्धि नहीं हो जाती तबतक अनन्तकोटि जन्मोंके बीत जानेपर भी आवागमनरूपी दुःखसे इसका छुटकारा नहीं होता। ज्ञानके द्वारा जिसके अज्ञानका सर्वथा नाश हो गया है, वह पुरुष इस देहके अन्दर जीता हुआ भी मुक्त है।

(५) राग-द्वेषादिका नाश हो जाता है

मुक्त पुरुषके हृदयमें राग-द्वेष, हर्ष-शोक और काम-क्रोध आदि विकारोंका अत्यन्त अभाव हो जाता है। किसी-किसीका कथन है कि ज्ञानके अनन्तर भी ज्ञानीके हृदयमें राग-द्वेष, हर्ष-शोक, काम-क्रोध और सुख-दुःखादि होते हैं एवं किसी-किसीने तो यहाँतक कह डाला है कि प्रारब्धके कारण ज्ञानीमें झूठ, कपट, चोरी और व्यभिचार आदि दुराचार भी रह सकते हैं, परंतु मेरी साधारण

समझके अनुसार इस प्रकार कहना मुनि-प्रणीत आर्ष ग्रन्थों एवं युक्तियोंके सर्वथा विरुद्ध है। श्रुति-स्मृति आदि प्रामाणिक प्राचीन ग्रन्थोंके प्रमाणसे विधि-वाक्योंद्वारा जीवन्मुक्तके अन्तःकरणमें अर्थात् ज्ञानोत्तरकालमें दुराचारोंका होना किसी महाशयको ज्ञात हो तो वे कृपापूर्वक अवश्य सूचना दें। हाँ, उनके विरुद्ध तो श्रुति-स्मृतियोंमें प्रचुर प्रमाण मिलते हैं, उनमेंसे कुछ यहाँ उद्धृत किये जाते हैं।

हर्षशोकौ जहाति।

(कठ० १।२।१२)

तरति शोकमात्मवित्।

(छा० ७।१।३)

तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः।

(ईश० ७)

'हर्ष-शोक त्याग देता है,' 'आत्मज्ञानी शोकसे तर जाता है', 'जब सर्वत्र आत्माकी एकताका निश्चय कर लेता है, तब शोक-मोह कुछ भी नहीं रह जाते।'

गीतामें कहा है—

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम्।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम्॥

(५।२६)

'काम-क्रोधसे रहित जीते हुए चित्तवाले, परब्रह्म परमात्माका साक्षात्कार किये हुए ज्ञानी पुरुषोंके लिये सब ओरसे शान्त परब्रह्म परमात्मा ही प्राप्त है।'

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति ।

(गीता १२ । १७)

'जो न कभी हर्षित होता है, न द्वेष करता है, न शोक करता है, न कामना करता है ।'

बल्कि काम-क्रोधादिको तो भगवान्‌ने साक्षात् नरकके द्वार और आत्माका नाशकतक बतलाये हैं और इनके अत्यन्त अभाव होनेपर ही आत्माके कल्याणके लिये साधन करनेसे मुक्ति बतलायी है।

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥
एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः ।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ॥

(गीता १६ । २१-२२)

अर्थात् 'काम, क्रोध तथा लोभ—ये तीन प्रकारके नरकके द्वार आत्माका नाश करनेवाले हैं, यानी अधोगतिमें ले जानेवाले हैं। इससे इन तीनोंको त्याग देना चाहिये; क्योंकि हे अर्जुन ! इन तीनों नरकके द्वारोंसे मुक्त हुआ पुरुष अपने कल्याणका आचरण करता है। इससे (वह) परमगतिको जाता है अर्थात् मुझको प्राप्त होता है।'

उपर्युक्त बाईसवें श्लोकमें 'विमुक्त' शब्द आया है जो काम, क्रोध, लोभके आत्यन्तिक अभावका द्योतक है यानी परमगति चाहनेवालेमें काम-क्रोधादिकी गन्ध भी नहीं होनी चाहिये। काम-क्रोधादिका कारण है आसक्ति। आसक्तिका नाम ही रस या राग है, इसीको संग भी कहते हैं। भगवान्‌ने स्पष्ट कहा है कि 'संग' से ही 'काम' की उत्पत्ति होती है और क्रोध कामसे उत्पन्न होता है।

सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥
(गीता २ । ६२)

'काम-क्रोधादिके कारणरूप इस आसक्तिका परमात्माके साक्षात्कारसे सर्वथा नाश हो जाता है ।'

रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥ (गीता २ । ५९)

अर्थात् 'इस पुरुषका राग भी परमात्माका साक्षात्कार होनेपर निवृत्त हो जाता है ।'

जब कारणका अत्यन्त अभाव हो जाता है, तब उसके कार्य काम-क्रोधादिका अस्तित्व मानना भारी भोलेपनके अतिरिक्त और क्या है ? जिस कामरूपी कारणका कार्य क्रोध है, उस कामको श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान्‌ने सम्पूर्ण अनर्थोंका कारण और साधकके लिये महान् शत्रु बतलाया है और उसे मारनेकी स्पष्ट आज्ञा दी है ।

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥
(गीता ३ । ३७)

अर्थात् 'रजोगुणसे उत्पन्न हुआ यह काम ही क्रोध है, यही महाअशन यानी अग्निके सदृश भोगोंसे न तृप्त होनेवाला और बड़ा पापी है । इस विषयमें इसको ही तू वैरी जान ।'

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥
एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना ।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥
(गीता ३ । ४२-४३)

इन्द्रियोंको परे अर्थात् श्रेष्ठ, बलवान् और सूक्ष्म कहते हैं। तथा इन्द्रियोंसे परे मन है एवं मनसे परे बुद्धि है और जो बुद्धिसे भी अत्यन्त परे है वह आत्मा है। इस प्रकार बुद्धिसे परे अर्थात् सूक्ष्म तथा सब प्रकार बलवान् और श्रेष्ठ अपने आत्माको जानकर तथा बुद्धिके द्वारा मनको वशमें करके हे महाबाहो! अपनी शक्तिको समझकर इस दुर्जय कामरूप शत्रुको मार।'

अस्मिता, राग, द्वेष और भय—इन चारोंका कारण अविद्या है। अविद्या ही जीवके सुख-दुःखमें हेतु है और उस अविद्याका अभाव होनेसे ही जीवकी मुक्ति होती है। अविद्यारूप कारणके अभावसे उसके चारों कार्योंका आप ही अभाव हो जाता है। योगदर्शनमें लिखा है—

'तस्य हेतुरविद्या,' 'तदभावात् संयोगाभावो हानं तद्दृशेः कैवल्यम्।' (२। २४-२५)

'उस संयोगका हेतु अविद्या है,' उस अविद्याके अभावसे संयोगका अभाव हो जाता है। उसका नाम हान है। वही द्रष्टाकी कैवल्य यानी मुक्त-अवस्था है।'

इस अवस्थामें सुख-दुःख, हर्ष-शोक, काम-क्रोध, भय आदि विकार रह ही कैसे सकते हैं।

कुछ लोग इन राग-द्वेष, सुख-दुःख, हर्ष-शोक आदिको अन्तःकरणका धर्म मानते हैं और शरीर रहते इनका सर्वथा नाश होना असम्भव बतलाते हैं; परन्तु यह मानना युक्तियुक्त नहीं है; बल्कि श्रुति-स्मृति, शास्त्र-प्रमाणोंसे तो शरीरके रहते हुए ही इनका अभाव

होना सिद्ध है । उपर्युक्त विवेचनमें यह बात दिखलायी जा चुकी है । अब यह दिखलाना है कि ये अन्तःकरणके स्वाभाविक धर्म नहीं, किंतु विकार हैं । क्षेत्रके वर्णन-प्रसङ्गमें भगवान् कहते हैं—

इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः ।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥
(गीता १३ । ६)

'इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, स्थूल देहका पिण्ड, चेतना और धृति—इस प्रकार यह क्षेत्र विकारोंके सहित संक्षेपमें कहा गया ।'

इससे इनका विकार होना सिद्ध है और इन विकारोंसे आत्यन्तिक मुक्तिका नाम ही मोक्ष है । शास्त्र-प्रमाणोंके अतिरिक्त युक्तिसे भी यही बात सिद्ध है । भला, यदि राग-द्वेष, हर्ष-शोक, सुख-दुःख आदि विकार ही न छूटे तो मुक्ति किस बन्धनसे हुई और ऐसी मुक्तिका मूल्य ही क्या है ? यदि सुख-दुःख, हर्ष-शोक, काम-क्रोधादि स्वाभाविक धर्म होते तो वे धर्मीसे कदापि अलग नहीं हो सकते और धर्मीके नाश होनेपर ही उनका नाश होता, परन्तु ऐसा न होकर अन्तःकरणरूप धर्मीके रहते हुए ही इनका घटना-बढ़ना और नष्ट होना देखा जाता है । इससे ये धर्म नहीं, किंतु विकार ही सिद्ध होते हैं । ज्ञानीमें तो ये रहते ही नहीं, परंतु अज्ञानीके अंदर भी ये घटते-बढ़ते देखे जाते हैं और इनके घटने-बढ़नेसे अन्तःकरणका घटना-बढ़ना नहीं देखा जाता । वास्तवमें ये धर्म नहीं, किंतु अविद्याजनित विकार हैं और विवेकसे इनका शमन होता है । जब विवेकसे ही ऐसा होता है तब पूर्ण ज्ञानसे तो इनका सर्वथा नाश हो जाना

बिल्कुल ही युक्तियुक्त है। कुछ लोग चोरी, झूठ, कपट और व्यभिचार आदि पापोंकी उत्पत्ति भी ज्ञानीके प्रारब्धसे मानते हैं और ऐसे प्रारब्धका आरोप करके ज्ञानीके मत्थे भी इन पापोंका होना मढ़ते हैं। मेरी साधारण बुद्धिसे इस प्रकार मानना ज्ञानीके मस्तक-पर कलंक लगाना है। ज्ञानीकी तो बात ही क्या है—किसी भी मनुष्यके लिये दुराचारोंकी उत्पत्तिमें प्रारब्धको हेतु माननेसे शास्त्र और युक्तियोंके साथ अत्यन्त विरोध उपस्थित हो जाता है। जैसे—

१—'सत्यं वद, धर्मं चर, स्वाध्यायान्मा प्रमदः, धर्मान्न प्रमदितव्यम्।'

(तैत्ति० १।११।१)

—आदि श्रुतिके विधि-वाक्योंका और 'सुरां न पिबेत्' आदि निषेध-वाक्योंका कोई मूल्य ही नहीं रह जायगा और सारे विधि-निषेधात्मक शास्त्र सर्वथा व्यर्थ हो जायँगे।

२—झूठ-कपट, चोरी-जारी आदि पाप यदि पूर्वकृत पापोंके फलरूप प्रारब्ध हैं तो फिर इनका कभी नाश होना सम्भव ही नहीं, क्योंकि पापका फल पाप, फिर उस पापका फल पाप; इस प्रकार पापोंकी शृङ्खला कभी टूट ही नहीं सकती यानी अनवस्था-दोष आ जायगा।

३—पापोंका होना प्रारब्धसे मान लेनेपर उनके लिये किसीको कोई दण्ड नहीं मिलना चाहिये। क्योंकि पाप करनेवाला तो बेचारा प्रारब्धवश बाध्य होकर पापोंको करता है, फिर वह दण्डका पात्र क्यों समझा जाय। जिस ईश्वरने इस प्रकारके प्रारब्धकी रचना की, असलमें उसीपर यह दोष भी आना चाहिये।

४—काम-क्रोधादि पापोंके फलस्वरूप दण्डका विधान ही युक्तियुक्त है, न कि पुनः पाप करनेका। दुनियाँमें हम देखते हैं कि चोरी, व्यभिचारादि करनेवाले अपराधियोंको जेल आदिकी सजा होती है, न कि फिर वैसे ही पाप करनेके लिये उन्हें उत्साह दिलाया जाता हो। जब जगत्‌के न्यायमें भी ऐसा नहीं होता, तब परम दयालु, परम न्यायकारी ईश्वर पाप-कर्मोंका फल चोरी, झूठ, कपट, व्यभिचार आदि कैसे रच सकते हैं ?

५—प्रारब्ध उसी कर्मका नाम है जो पूर्वकृत कर्मोंका फल भुगतानेवाला हो। नवीन क्रियमाण कर्मकी उत्पत्तिका नाम प्रारब्ध नहीं है। नवीन क्रियमाण कर्म तो प्रारब्धसे सर्वथा भिन्न है। जहाँ कर्मोंकी तीन संज्ञाएँ बतलायी गयी हैं, वहाँ पुण्य-पापादि नवीन कर्मोंको क्रियमाण, सुख-दुःखादि भोगोंको प्रारब्ध और पूर्वकृत अभुक्त कर्मोंको सञ्चित कहा है। जिन लोगोंको उपर्युक्त तीनों कर्मोंके तत्त्वका ज्ञान होगा, वे पाप-पुण्यादि क्रियमाण कर्मोंको प्रारब्ध कैसे बतला सकते हैं ? अतएव यह सिद्ध हो गया कि राग-द्वेष, काम-क्रोधादि अज्ञानसे उत्पन्न विकार ज्ञान न होनेतक जीवके अन्तःकरणमें न्यूनाधिकरूपमें रहते हैं और ज्ञान होते ही इनका समूल नाश हो जाता है।

(६) संसारमें हमारा क्या कर्तव्य है ?

चौरासी लाख योनियोंमें मनुष्य ही कर्म-योनि है। अर्थात् इस मनुष्य-शरीरमें किये हुए कर्मोंका फल ही जीवको अन्यान्य सारी योनियोंमें भोगना पड़ता है। मनुष्य, पितृ और देव—ये तीन उत्तम

योनियाँ मानी गयी हैं। इनके अतिरिक्त शेष सभी पाप-योनियाँ हैं। इन तीनोंमें भी मुक्तिके सम्बन्धमें तो मनुष्यकी ही प्रधानता है। यद्यपि मनुष्यकी अपेक्षा देव और पितृ अधिक पुण्ययोनि हैं और उनमें बुद्धि तथा सामर्थ्यकी भी विशेषता है, परन्तु भोगोंकी बाहुल्यताके कारण देव और पितृयोनिके जीव मुक्तिके मार्गपर आरूढ होनेमें प्रायः असमर्थ ही रहते हैं। जब इस लोकमें भी विशेष समृद्धिशाली मनुष्य भोग-विलासमें फँसे रहनेके कारण मुक्तिके मार्गपर नहीं आते तब स्वर्गादि लोकोंमें अनेक सिद्धियोंको प्राप्त और भोग-सामग्रीमें अनुरक्त लोग मुक्तिमार्गमें कैसे लग सकते हैं! अतएव बड़े ही सुकृतोंके संग्रह होनेपर भगवत्कृपासे यह परम दुर्लभ और मुक्तिका साधन मनुष्य-शरीर मिलता है। भगवान् दया करके जीवको मुक्त होनेका यह एक सुअवसर देते हैं—

> आकर चारि लच्छ चौरासी।
> जोनि भ्रमत यह जिव अबिनासी॥
> फिरत सदा माया कर प्रेरा।
> काल कर्म सुभाव गुन घेरा॥
> कबहुँक करि करुना नर देही।
> देत ईस बिनु हेतु सनेही॥

ऐसे अमूल्य शरीरको पाकर हमलोगोंको उस परम दयालु परमात्माको तत्त्वसे जाननेके लिये परमात्माके भजनके निमित्त प्राणपर्यन्त चेष्टा करनी चाहिये। भगवान्ने श्रीगीतामें कहा है—

अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्।
(९।३३)

'इस सुखरहित और क्षणभङ्गुर मनुष्य-शरीरको प्राप्त होकर तू निरन्तर मेरा भजन ही कर।'

क्योंकि यह शरीर परम दुर्लभ और पुण्यसे मिलनेवाला होनेपर भी विनाशी और क्षण-क्षणमें क्षय होनेवाला है। यदि इस अवसरको हम हाथसे खो देंगे तो फिर हमारे पछतानेकी सीमा न रहेगी। यह शरीर न तो भोगोंके लिये है और न स्वर्गकी प्राप्तिके लिये ही। जो इस मनुष्य-शरीरको पाकर इसे केवल विषय-भोगोंमें लगा देते हैं, उनकी महात्माओंने बड़ी निन्दा की है। गोस्वामीजी कहते हैं—

एहि तन कर फल बिषय न भाई।
स्वर्गउ स्वल्प अंत दुखदाई॥
नर तनु पाइ बिषयँ मन देहीं।
पलटि सुधा ते सठ बिष लेहीं॥
ताहि कबहुँ भल कहइ न कोई।
गुंजा ग्रहइ परस मनि खोई॥

श्रीमद्भागवतमें कहा है—

नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं
प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारम्।
मयानुकूलेन नभस्वतेरितं
पुमान् भवाब्धिं न तरेत्स आत्महा॥
(११।२०।१७)

'अति दुर्लभ मनुष्य-देह भगवत्कृपासे सुलभतासे प्राप्त है, यह संसार-समुद्रसे पार जानेके लिये सुन्दर दृढ़ नौका है, गुरुरूपी इसमें कर्णधार है, भगवान् इसके अनुकूल वायु है, इस प्रकार होनेपर भी जो भव-समुद्रसे नहीं तरता, वह आत्महत्यारा है।'

जो न तरै भव सागर नर समाज अस पाइ।
सो कृत निंदक मंदमति आत्माहन गति जाइ।

यह शरीर तो आत्माके कल्याणके लिये है। शास्त्रोंमें आत्मकल्याणके अनेक उपाय और युक्तियाँ बतलायी गयी हैं। गीताके चौथे अध्यायमें विविध यज्ञोंके नामसे, पातञ्जलयोगदर्शनमें चित्तनिरोधके नामसे, उपनिषदादिमें ज्ञानके नामसे और शाण्डिल्य, नारद और व्यास आदिने भक्तिके नामसे परमात्माका तत्त्व जाननेके लिये अनेक उपाय बतलाये हैं। परन्तु इन सबमें सर्वोत्तम उपाय परमात्माकी अनन्य भक्ति या अनन्य शरण ही समझनी चाहिये।

ईश्वरप्रणिधानाद्वा।

(योग० १।२३)

'ईश्वर-शरणागतिसे चित्त ईश्वरमें निरुद्ध हो सकता है।

सा परानुरक्तिरीश्वरे।

(शाण्डिल्यसूत्र २)

'ईश्वरमें परम अनुरक्ति ही भक्ति है।'

तदर्पिताखिलाचारिता तद्विस्मरणे परमव्याकुलतेति।

(नारद० १९)

'समस्त आचार भगवान्‌के अर्पण करके भगवान्‌को ही स्मरण करते रहना और विस्मरण होते ही परम व्याकुल हो जाना ।'

न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव ।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता ॥
भक्त्याहमेकया ग्राह्यः श्रद्धाऽऽत्मा प्रियः सताम् ।
भक्तिः पुनाति मन्निष्ठा श्वपाकानपि सम्भवात् ॥
धर्मः सत्यदयोपेतो विद्या वा तपसान्विता ।
मद्भक्त्यापेतमात्मानं न सम्यक्प्रपुनाति हि ॥
(श्रीमद्भा० ११ । १४ । २०–२२)

'हे उद्धव ! मेरी प्राप्ति करानेमें मेरी दृढ़ भक्तिके समान योग, सांख्य, धर्म, स्वाध्याय, तप अथवा दान—कोई भी समर्थ नहीं है । साधुजनोंका प्रिय आत्मारूप मैं एकमात्र श्रद्धासम्पन्न भक्तिसे ही सुलभ हूँ; मेरी भक्ति चाण्डालादिको भी उनके जातीय दोषसे छुड़ाकर पवित्र कर देती है । मेरी भक्तिसे हीन पुरुषोंको सत्य और दयासे युक्त धर्म अथवा तपसहित विद्या भी पूर्णतया पवित्र नहीं कर सकती ।'

गीतामें भी भगवान् कहते हैं—

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया ।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ॥
(११ । ५३)

'हे अर्जुन ! न वेदोंसे, न तपसे, न दानसे और न यज्ञसे

इस प्रकार चतुर्भुज रूपवाला मैं देखा जानेको शक्य हूँ कि जैसे मुझको तुमने देखा है।'

> मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
> मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥
> सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
> अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥
>
> (गीता १८। ६५-६६)

(इसलिये) तू केवल मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेव परमात्मामें ही अनन्य प्रेमसे नित्य-निरन्तर अचल मनवाला हो और मुझ परमेश्वरको ही अतिशय श्रद्धा, भक्तिसहित निष्कामभावसे नाम, गुण और प्रभावके श्रवण, कीर्तन, मनन और पठन-पाठनद्वारा निरन्तर भजनेवाला हो तथा मेरा (शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म और किरीट, कुण्डल आदि भूषणोंसे युक्त पीताम्बर, वनमाला और कौस्तुभमणिधारी विष्णुका) मन, वाणी और शरीरके द्वारा सर्वस्व अर्पण करके अतिशय श्रद्धा, भक्ति और प्रेमसे विह्वलतापूर्वक पूजन करनेवाला हो और मुझ सर्वशक्तिमान्, विभूति, बल, ऐश्वर्य, माधुर्य, गम्भीरता, उदारता, वात्सल्य और सुहृदता आदि गुणोंसे सम्पन्न सबके आश्रयरूप वासुदेवको विनयभावपूर्वक भक्तिसहित साष्टाङ्ग दण्डवत-प्रणाम कर, ऐसा करनेसे तू मुझको ही प्राप्त होगा—यह मैं तेरे लिये सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ, क्योंकि तू मेरा अत्यन्त प्रिय सखा है। इससे सर्व धर्मोंको अर्थात् सम्पूर्ण कर्मोंके आश्रयको त्याग

कर केवल एक मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेव परमात्माकी ही अनन्य शरणको प्राप्त हो, मैं तुझको सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा, तू शोक मत कर ।'

अतएव मनुष्य-शरीर पाकर ऋषियोंके और साक्षात् भगवान्के वचनोंमें विश्वास कर हमें भगवान्के भजन, ध्यानमें तत्पर होकर लग जाना चाहिये ।

(७) परमात्मा, जीवात्मा, प्रकृति और संसारका विषय

परमात्मा, जीवात्मा तथा संसारसहित प्रकृति और इनका परस्पर सम्बन्ध अर्थात् जीव और परमात्माका सम्बन्ध, जीव और प्रकृतिका सम्बन्ध तथा प्रकृति और परमात्माका सम्बन्ध, परस्परका भेद और कर्म—ये छः अनादि हैं । इनमें सच्चिदानन्दघन परमात्मा और उसका अंश जीव—दोनों अनादि और अनन्त हैं । शेष सभी अनादि और शान्त हैं । जीव और परमात्माका अंशांशी सम्बन्ध है । यह अंशांशी सम्बन्ध अनेक भावोंसे माना जाता है । जैसे दास्यभाव, सख्यभाव और माधुर्यभाव आदि । इस सम्बन्धकी अवधि जीवकी इच्छापर अवलम्बित है । जीव और प्रकृतिमें भोक्ता और भोग्य सम्बन्ध है । जीव चेतन होनेके कारण भोक्ता है और प्रकृति जड होनेसे भोग्य ।

पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥

(गीता १३ । २०)

'जीवात्मा सुख-दुःखोंके भोक्तापनमें हेतु कहा जाता है ।'

परंतु कोई-कोई अन्तःकरणको भोक्ता मानते हैं; पर उनका मानना युक्तियुक्त नहीं । कारण, अन्तःकरण जड होनेसे उसमें

भोक्तृत्व संभव नहीं। शुद्ध आत्मा भी भोक्ता नहीं है। जो केवल शुद्ध आत्माको भोक्ता मानता है उसे भगवान्‌ने मूढ़ कहा है। अतएव 'प्रकृतिस्थ पुरुष' ही भोक्ता है।

प्रकृति और परमात्माका सम्बन्ध शक्ति और शक्तिमान्‌के सदृश है। सम्पूर्ण संसारकी उत्पत्ति महासर्गके आदिमें प्रकृति और परमेश्वरके सम्बन्धसे ही होती है। शास्त्रोंमें जहाँ-जहाँ प्रकृतिसे संसारकी उत्पत्ति बतलायी है, वहाँ-वहाँ भगवान्‌की अध्यक्षतामें ही बतलायी है।

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।

(गीता ९। १०)

'मेरी अध्यक्षतामें ही प्रकृति (माया) चराचरसहित समस्त जगत्‌को रचती है।'

जहाँ परमेश्वरके द्वारा संसारकी उत्पत्ति बतलायी है, वहाँ कहीं प्रकृतिको द्वार कहा है और कहीं योनि।

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्।

(गीता १४। ३)

'मेरी महत् ब्रह्मरूप प्रकृति (त्रिगुणमयी माया) सब भूतोंकी योनि है और मैं उसमें चेतनरूप बीज स्थापन करता हूँ।'

योनि कारणका नाम है। वहाँ वह शरीरोंके जडसमुदायका कारण है। चेतन-अंशका कारण तो स्वयं परमात्मा है।

(८) बन्धन और मुक्ति

प्रकृति या वैष्णवी मायाका विकार जो अज्ञान है, उस अज्ञान-

सहित प्रकृतिके साथ जीवका अनादि कालसे सम्बन्ध है। इसीका नाम बन्धन है और इसी कारणसे ईश्वरका चेतनांश जीवात्मा अहंता-ममता, राग-द्वेष, हर्ष-शोक और काम-क्रोधादि प्रकृतिके विकारोंसे बँधा हुआ प्रतीत होता है। ज्ञानके द्वारा प्रकृतिका सम्बन्ध-विच्छेद हो जाना ही मुक्ति है और अहंता-ममता, राग-द्वेष, हर्ष-शोक तथा काम-क्रोधादि विकारोंका अन्तःकरणसे सर्वथा नाश हो जाना ही अज्ञानके नाशका लक्षण है। क्योंकि जीवन्मुक्त पुरुषोंमें उपनिषद्, गीता प्रभृति आर्ष शास्त्रोंद्वारा इन विकारोंका सर्वथा अभाव ही प्रतिपादित है। अतएव अविद्याके अत्यन्त अभावका नाम ही मुक्ति है। अविद्याका अभाव होनेपर उसके कार्य इन विकारोंका नाश स्वाभाविक ही हो जाता है; क्योंकि कारणके साथ ही कार्यका अभाव सर्वथा सिद्ध है।

अनन्य शरणागति

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥
सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

(गीता १८। ६२, ६६)

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—'हे भारत! सब प्रकारसे उस परमेश्वरकी ही अनन्य शरणको प्राप्त हो, उस परमात्माकी कृपासे ही परम शान्ति और सनातन परमधामको प्राप्त होगा। (वह परमात्मा

मैं ही हूँ, अतएव) सर्व धर्मोंको अर्थात् सम्पूर्ण कर्मोंके आश्रयको त्यागकर केवल एक मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेव परमात्माकी ही अनन्य शरणको प्राप्त हो, मैं तुझे समस्त पापोंसे मुक्त कर दूँगा, तू शोक मत कर !'

भगवान्‌की उपर्युक्त आज्ञाके अनुसार हम सबको उनके शरण हो जाना चाहिये । लज्जा-भय, मान-बड़ाई और आसक्तिको त्यागकर शरीर और संसारमें अहंता-ममतासे रहित होकर केवल एक परमात्माको ही परम आश्रय, परम गति और सर्वस्व समझना तथा अनन्य भावसे अतिशय श्रद्धा-भक्ति एवं प्रेमपूर्वक निरन्तर भगवान्‌के नाम, गुण, प्रभाव और स्वरूपका चिन्तन करते रहना एवं भगवान्‌का भजन-स्मरण करते हुए ही भगवदाज्ञानुसार कर्तव्य-कर्मोंका निःस्वार्थभावसे केवल परमेश्वरके लिये ही आचरण करना तथा सुख-दुःखोंकी प्राप्तिको भगवान्‌का भेजा हुआ पुरस्कार समझकर उनमें समचित्त रहना । संक्षेपमें इसीका नाम अनन्य-शरण है ।

चित्तसे भगवान् सच्चिदानन्दघनके स्वरूपका चिन्तन, बुद्धिसे 'सब कुछ एक नारायण ही है' ऐसा निश्चय, प्राणोंसे (श्वासद्वारा) भगवन्नाम-जप, कानोंसे भगवान्‌के गुण, प्रभाव और स्वरूपकी महिमाका भक्तिपूर्वक श्रवण, नेत्रोंसे भगवान्‌की मूर्ति और भगवद्भक्तोंके दर्शन, वाणीसे भगवान्‌के गुण, प्रभाव और पवित्र नामका कीर्तन एवं शरीरसे भगवान् और उनके भक्तोंकी निष्काम सेवा—ये सभी कर्म शरणागतिके अंदर आ जाते हैं । इस प्रकार भगवत्सेवा-परायण होनेसे भगवान्‌में प्रेम होता है ।

संसारमें जिन वस्तुओंको मनुष्य 'मेरी' कहता है, वे सब भगवान्‌की हैं। मनुष्य मूर्खतासे उनपर अधिकार आरोपण कर सुखी-दुखी होता है। भगवान्‌की सब वस्तुएँ भगवान्‌के ही काममें लगनी चाहिये। भगवान्‌के कार्यके लिये यदि सांसारिक सारी वस्तुएँ मिट्टीमें मिल जायँ तो भी बड़े आनन्दकी बात है और उनके कार्यके लिये बनी रहें तो भी बड़े हर्षका विषय है। उन वस्तुओंको न तो अपनी सम्पत्ति समझनी चाहिये और न उन्हें अपने भोगकी सामग्री ही माननी चाहिये। क्योंकि वास्तवमें तो सब कुछ नारायणका ही है, इसलिये नारायणकी सर्व वस्तु नारायणके अर्पण की जाती है। यों समझकर संसारमें जो कार्य किये जाते हैं, वही भगवत्-प्रेमरूप शरणकी प्राप्तिका साधन है।

उपर्युक्त प्रकारसे जो कुछ भी कर्म किये जायँ, सब भगवान्‌के लिये करने चाहिये। इसीका नाम अर्पण है। जो कुछ भी हो रहा है, सब भगवान्‌की इच्छासे हो रहा है, लीलामयकी इच्छासे लीला हो रही है। इसमें व्यर्थके बुद्धिवादका बखेड़ा नहीं खड़ा करना चाहिये। अपनी सारी इच्छाएँ भगवान्‌की इच्छामें मिलाकर अपना जीवन सर्वतोभावसे भगवान्‌को सौंप देना चाहिये। जब इस प्रकार जीवन समर्पण होकर प्रत्येक कर्म केवल भगवदर्थ ही होने लगेगा, तभी हमें भगवत्प्रेमकी कुछ प्राप्ति हुई है—हम भगवान्‌के शरण होने चले हैं, ऐसा समझा जायगा।

सच्चिदानन्दघन परमात्माकी पूर्ण शरण हो जानेपर एक सच्चिदानन्दघनके सिवा और कुछ भी नहीं रह जाता। वह अपार,

अचिन्त्य पूर्ण सर्वव्यापक एक परमात्मा ही अचल अनन्त आनन्दरूपसे सर्वत्र परिपूर्ण हैं। उस आनन्दको कभी नहीं भुलाना चाहिये। आनन्दघनके साथ मिलकर आनन्दघन ही बन जाना चाहिये। जो कुछ भासता है, जिसमें भासता है और जिसको भासता है, वह सब एक आनन्दघन परमात्मा ही परिपूर्ण है। इस पूर्ण आनन्दघनका ज्ञान भी उस आनन्दघनको ही है। वास्तवमें यही अनन्य शरणागति है!

गीतोक्त सांख्ययोगपर शङ्का-समाधान

काशीस्थ एक सम्माननीय विद्वान् लिखते हैं कि—'गीतोक्त सांख्ययोग' शीर्षक लेखमें तीन पक्षोंपर विचार करते हुए तृतीय पक्ष समीचीन सिद्ध किया गया है। उसमें 'सांख्ययोग और कर्मयोग ये दो भिन्न-भिन्न निष्ठाएँ हैं और दोनों सर्वथा स्वतन्त्र मुक्तिके साधन हैं' यही गीताका प्रतिपाद्य विषय निर्धारित किया गया है। इसपर मुझे शङ्का है।

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्॥

इत्यादि वाक्योंसे पता लगता है कि गीतामें प्रतिपाद्य विषय ही उपनिषदोंका रहस्य है। किसी अंशमें भी उपनिषदोंसे गीताका पार्थक्य नहीं हो सकता। उपनिषद् भगवान्‌के निःश्वास हैं। 'यस्य निःश्वसितं वेदाः' (मनु) और गीता भगवन्मुखसे निःसृत वाणी है। उसमें किसी प्रकार भेद सम्भव नहीं हो सकता। उपनिषदोंमें

'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः', 'ज्ञानादेव तु कैवल्यम्', 'ज्ञात्वा देव सर्व-पाशापहानिः', 'ज्ञानसमकालमुक्तः कैवल्यं याति हतशोकः', 'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय', 'तरति हि शोक-मात्मवित्', 'स यो ह वै तत् परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति', 'ब्रह्म-विदाप्नोति परम्' इत्यादि। जैसे ये वाक्य ज्ञानसे मोक्षप्राप्तिका प्रतिपादन करते हैं, यदि कर्मसे भी मुक्ति होती तो कर्मसे मोक्षप्राप्ति-प्रतिपादक वाक्य भी इसी प्रकार मिलते, पर ऐसे वाक्य नहीं मिलते, प्रत्युत कर्मसे मोक्ष नहीं होता, इस बातके परिपोषक वाक्य अनेक मिलते हैं।

'न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः'
'नास्त्यकृतः कृतेन' (कृतेन अकृतो मोक्षो नास्ति)

श्रुति कितने बलसे प्रतिपादन करती है कि कर्मसे मोक्ष नहीं हो सकता। कर्मकी आवश्यकता तो अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये प्रारम्भमें होती है।

'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणाः'

इसी बातका प्रतिपादन भगवान्‌ने भी गीतामें स्वयं श्रीमुखसे किया है—

'कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये॥
(५।११)

'आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते॥'
(६।३)

'यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ।'

(१८ । ५)

श्रीमद्भागवतमें उद्धवके प्रति भगवान्‌ने यही बात कही है—

'तावत्कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता ।
मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते ॥'

(११ । २० । ९)

'संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः ।'

(गीता ५ । ६)

इत्यादि वाक्योंसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि कर्म ज्ञानका कारण है न कि मोक्षका ।

अब जो तृतीय पक्षके समर्थनमें आपने हेतु दिये हैं, उनसे—

'सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः ।'

(गीता ५ । ४)

'यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।'

(गीता ५ । ५)

'लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ ।'

(गीता ३ । ३)

—इत्यादि वचनोंपर विचार करना है । 'यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानम्' इस वचनका यह अर्थ है कि सांख्य (ज्ञानी) ज्ञानसे जिस मोक्षपदको प्राप्त होते हैं, कर्मयोगी ज्ञानद्वारा उसी पदको प्राप्त होते हैं । कर्मसे साक्षात् मोक्षकी प्राप्ति होती है, यह अर्थ इस वाक्यका नहीं करना चाहिये । अन्यथा उक्त वचनोंसे विरोध हो जायगा ।

'लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा……' इससे भगवान्ने दो निष्ठाएँ दिखायी हैं। ये दोनों स्वतन्त्र मोक्षके कारण हैं। यह अर्थ उक्त श्लोकसे नहीं निकलता। 'तयोस्तु कर्मसंन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते' ये वचन उन लोगोंके लिये हैं, जिनका चित्त शुद्ध नहीं है और जो ज्ञानके अधिकारी नहीं हैं। तभी सब वाक्योंका समन्वय होगा। इसीसे भगवान् आगे चलकर कहते हैं कि 'उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः' यदि कर्मसे ही मोक्षकी प्राप्ति हो जाती तो उसे (अर्जुनको) ज्ञानकी आवश्यकता ही क्या थी, जिसके लिये उसको ज्ञानियोंसे उपदेश सुननेका आदेश किया गया।

यदि कर्मयोग और ज्ञानयोग दोनों ही स्वतन्त्र निष्ठाएँ भगवान्को स्वीकार होतीं तो 'संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः।' (गीता ५। ६) कर्मयोगके बिना संन्यास दुःखसे प्राप्त होता है। अर्थात् कर्म ज्ञानका कारण है—भगवान् यह कैसे कहते?

अब इस बातपर विचार किया जाता है कि ज्ञानसे ही मोक्ष-प्राप्ति (भगवत्प्राप्ति) होती है, कर्मसे नहीं, इसमें क्या विनिगमक है। यदि मोक्ष स्वर्गकी तरह यज्ञादि व्यापार-जन्य (उत्पाद्य) होता तो कर्मकी आवश्यकता होती; किंतु ऐसा होनेसे मोक्ष परिच्छिन्न और अनित्य हो जायगा। यदि दधि, घटकी तरह मोक्ष विकार्य होता तो भी क्रियाकी आवश्यकता होती; परन्तु ऐसा होनेपर भी परिच्छिन्नता और अनित्यता नहीं हटती है। यदि मोक्ष संस्कार्य होता तो भी कर्मकी आवश्यकता होती। संस्कार दो प्रकारसे किया जाता है—बाह्य गुणोंको ग्रहण करने एवं दोषोंको दूर करनेसे, सो ब्रह्मप्राप्तिरूपी मोक्ष अनाधेय अतिशय होनेसे किन गुणोंसे संस्कृत

होगा और नित्य शुद्धस्वरूप होनेसे दोष ही सम्भव नहीं है तो किन दोषोंको दूर करेगा। यदि भगवान् हम (जीवों) से बिल्कुल भिन्न हों या हमारी तरह या हमसे विलक्षण उनके कहीं शरीरादि हों तो कायिक, वाचिक अथवा मानसिक क्रियासाध्य हों, परंतु भगवान् तो आत्मा हैं।

'अन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा पशुरेवꣳस देवानाम्'

(बृह० १।४।१०)

'तद् योऽहं सोऽसौ योऽसौ सोऽहम्'
'त्वं वा अहमस्मि भगवो देवतेऽहं वै त्वमसि'
'वस्तुतस्तु त्वमेवाहमिति मे निश्चिता मतिः'

यदि पृथक् भी मानें तो भी भगवान् आकाशकी भाँति सर्वगत हैं।

'आकाशवत् सर्वगतश्च नित्यः'

आकाशकी तरह कहना भी नहीं बनता, क्योंकि आकाशकी उत्पत्ति तो भगवान्से है।

'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः'

(तैत्ति० उ० २।११)

'अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥'

(गीता १०।४२)

तावानस्य महिमा ततो ज्यायांश्च पूरुषः।
पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि॥'

(छान्दो० ३।१२।६)

'यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान् ।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ॥'
(गीता ९ । ६)

वास्तवमें 'न च मत्स्थानि भूतानि''''क्योंकि सृष्टि तो प्रतीति-मात्र है, इसलिये भगवान्‌को आकाशसे जो उपमा दी गयी है, वह औपचारिक है ।

'प्राणबुद्धिमनःस्वात्मदारापत्यधनादयः ।
यत्सम्पर्कात्प्रिया आसंस्ततः को न्वपरः प्रियः ॥'

अतएव परम प्रेमास्पद भगवान् नित्य प्राप्त हैं । उनकी प्राप्तिके लिये किस कर्मकी आवश्यकता है ।

यदि आत्मा (जीव) स्वाभाविक बन्धनाश्रय होता तो स्वाभाविक धर्मोंकी निवृत्ति धर्मोंके निवृत्त हुए बिना नहीं हो सकती, इसलिये कभी मुक्त नहीं होता ।

'आत्मा कर्त्रादिरूपश्चेन्मा काङ्क्षीस्तर्हि मुक्तताम् ।
न हि स्वभावो भावानां व्यावर्तेतौष्ण्यवद्रवेः ॥'
(वार्तिककार)

'आत्मानमेवात्मतयाविजानतां
तेनैव जातं निखिलं प्रपञ्चितम् ।
ज्ञानेन भूयोऽपि च तत्प्रलीयते
रज्ज्वामहेर्भोगभवाभवौ यथा ॥'

'अज्ञानसंज्ञौ भवबन्धमोक्षौ

द्वौ नाम नान्यौ स्त ऋतज्ञभावात् ।

अजस्रचित्यात्मनि केवले परे
विचार्यमाणे तरणाविवाहनी ॥'
(श्रीमद्भा० १० । १४ । २५-२६)

'तत्तु समन्वयात्' (ब्रह्मसूत्र १ । १ । ४)

'सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत्' (ब्र० सू० ३ । ४ । २६)

'शमदमाद्युपेतः स्यात्तथापि तु तद्विधेस्तदङ्गतया तेषामवश्यानुष्ठेयत्वात्' (ब्र० सू० ३ । ४ । २७)

'सम्पद्याविर्भावः स्वेन शब्दात्' (ब्र० सू० ४ । ४ । १)

'मुक्तः प्रतिज्ञानात्' (ब्र० सू० ४ । ४ । २)

'आत्मा प्रकरणात्' (ब्र० सू० ४ । ४ । ३)

'अविभागेन दृष्टत्वात्' (ब्र० सू० ४ । ४ । ४)

इन सूत्रोंपर भगवान् श्रीशंकराचार्यजीके भाष्यको देखिये। लेख बहुत बढ़ गया है, अतः इन सूत्रोंका अभिप्राय उद्धृत नहीं किया गया।

इससे यह नहीं समझना चाहिये कि ज्ञानी कर्म नहीं करता है अथवा ज्ञानीके लिये कर्म बन्धनका हेतु है।

'न कर्मणा वर्द्धते नो कनीयान्' (बृहदारण्यक)

'प्रारब्धकर्मनानात्वाद्बुद्धानामन्यथान्यथा ।
वर्तनं तेन शास्त्रार्थे भ्रमितव्यं न पण्डितैः ॥'

'देवार्चनस्नानशौचभिक्षादौ वर्ततां वपुः ।
तारं जपतु वाक् तद्वत् पठत्वाम्नायमस्तकम् ॥'

विष्णुं ध्यायतु धीर्यद्वा ब्रह्मानन्दे विनीयताम् ।
साक्ष्यहं किञ्चिदप्यत्र न कुर्वे नापि कारये ॥

(पञ्चदशी)

'इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥
ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥
(गीता ५ । ९-१०)

इन बातोंपर विचार कर केवल कर्मसे मुक्ति-प्राप्ति मेरी बुद्धिमें नहीं जँचती । हाँ, यदि यह सोचकर कि वर्तमानकालमें ज्ञानके अधिकारी प्रायः नहीं हैं । जो लोग ऊपरकी बातोंको सुनकर तत्त्वज्ञानके हुए बिना ही कर्मको छोड़ देते हैं, उनको रौरवादि नरकोंकी प्राप्ति अवश्य होती है । निष्काम-कर्मसे मुक्ति होती है । ऐसा प्रतिपादन नहीं करेंगे तो निष्काम-कर्ममें किसीकी श्रद्धा नहीं होगी । अतएव उसमें कोई प्रवृत्त नहीं होगा । यदि निष्काम-कर्ममें कोई लग जाय तो अन्तःकरणकी शुद्धि अवश्य होगी । अन्तःकरणके शुद्ध हो जानेपर ज्ञानद्वारा मुक्ति होना अनिवार्य है । इसीसे जनताके कल्याणार्थ यदि निष्काम-कर्मयोगसे मुक्तिका प्रतिपादन किया गया है तो मुझे कोई शङ्का नहीं है ।

उत्तर

'गीतोक्त सांख्ययोग' शीर्षक लेखके सम्बन्धमें आपने जो शङ्का प्रकट की है उसका संक्षेपमें निम्नलिखित उत्तर है—

उक्त लेखको भलीभाँति देखना चाहिये । उसमें ज्ञानके बिना केवल कर्मोंको मुक्तिका साधन नहीं बतलाया गया है । सांख्ययोग और निष्कामकर्मयोग दोनों ही मोक्षके समान साधन बतलाये गये; इसका अभिप्राय यह समझना चाहिये कि जिस प्रकार सांख्ययोगीको साधन करते-करते पूर्ण ज्ञानकी प्राप्तिके साथ ही मोक्ष मिल जाता है, उसी प्रकार

निष्काम-कर्मयोगीको भी साधन करते-करते पूर्ण ज्ञानकी प्राप्तिके साथ-ही-साथ मुक्ति मिल जाती है। केवल साधनकालमें दोनों निष्ठाओंमें भेद है। फल दोनोंका एक ही है। इसीलिये भगवान्‌ने—

'सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।

(गीता ५ । ४)

'यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।'

(गीता ५ । ५)

—इत्यादि वचन कहे हैं। पूर्ण ज्ञानकी प्राप्तिके अनन्तर न तो सांख्ययोग है और न निष्कामकर्मयोग ही। वह तो इन दोनोंका फल है। उस ज्ञानकी प्राप्ति और मोक्षकी प्राप्ति पृथक्-पृथक् नहीं है। भगवान्‌ने कहा है—

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे॥

(गीता १३ । २४)

इससे यह पता लगता है कि आत्मसाक्षात्काररूप पूर्णज्ञान सांख्ययोग और निष्काम-कर्मयोग दोनों निष्ठाओंका फल है। अतएव बिना ज्ञानके मुक्ति बतलानेकी शङ्का तो उक्त लेखमें कहीं नहीं रह जाती है।

पाँचवें अध्यायके छठे श्लोकमें जो—

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः।'

—कहकर बिना निष्काम-कर्मयोगके संन्यासका प्राप्त होना कठिन बतलाया है, उससे यह सिद्ध नहीं होता कि निष्काम-कर्मयोग मुक्तिका साधन नहीं है। क्योंकि इसी श्लोकके उत्तरार्द्धमें—

'योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति ॥'

—से योगयुक्त मुनिके लिये तुरंत ही ब्रह्मकी प्राप्ति बतलायी है। यहाँ इसका अर्थ यदि यह मान लिया जाय कि वह सांख्ययोगको प्राप्त होकर ब्रह्मको प्राप्त होता है, तब तो पूर्वकथित—

'तयोस्तु कर्मसंन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते ॥'

'कर्म-संन्यासकी अपेक्षा कर्मयोग श्रेष्ठ है' इन वचनोंका कोई मूल्य ही नहीं रह जाता तथा न निष्कामकर्मयोग कोई स्वतन्त्र निष्ठा ही रह जाता है। ऐसा माननेसे तो वह एक प्रकारसे सांख्ययोगका अङ्गभूत हो जाता है जो भगवान्‌के वचनोंसे विरोधी होनेके कारण युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता।

मोक्ष अकार्य है, उसके लिये कर्मोंकी आवश्यकता नहीं है, यह सर्वथा सत्य है। परंतु निष्काम-कर्मयोगका जो इतना माहात्म्य है सो कर्मोंकी महत्ताके हेतुसे नहीं है, वह माहात्म्य है कामनाके त्यागका—सब कुछ भगवदर्पण करनेके वास्तविक भावका। बड़े-से-बड़ा सकाम कर्म मुक्तिप्रद नहीं हो सकता; परंतु छोटे-से-छोटे कर्ममें जो निष्काम-भाव है वह मुक्ति देनेवाला होता है। निष्कामकर्मयोगकी महिमा भी वास्तवमें त्यागकी ही महिमा है, कर्मोंकी नहीं। उसमें विशेषता यही है कि समस्त कर्मोंको करता हुआ भी मनुष्य उनमें लिपायमान नहीं होता और गृहस्थ-आश्रममें रहकर भी वह भगवत्-कृपासे अनायास मुक्तिलाभ कर सकता है। इन दोनों साधनोंके साधन-कालमें क्या अन्तर रहता है, इस बातका विस्तृत वर्णन उक्त लेखमें है ही।

केवल निष्काम-कर्ममें लोगोंकी श्रद्धा उत्पन्न करानेके लिये बिना ही हुए मुक्तिका होना सिद्ध करना किसी प्रकार भी हितकर नहीं कहा जा सकता। फिर ऐसे उद्देश्यको सामने रखकर भगवान् या कोई भी विज्ञ पुरुष लोगोंको उलटे भ्रममें डालनेके लिये इस प्रकारका प्रतिपादन कैसे कर सकते हैं? भगवान्‌के स्पष्ट वाक्योंमें यह भावना करनी कि लोगोंकी श्रद्धा करानेके लिये कर्मयोगकी अयथार्थ प्रशंसा की गयी है, मेरी समझसे उचित नहीं है।

गीतोक्त सांख्ययोगका स्पष्टीकरण

रावबहादुर राजा श्रीदुर्जनसिंहजीद्वारा लिखित 'गीताका सांख्ययोग' शीर्षक लेख 'कल्याण'में प्रकाशित हुआ था। काशीस्थ एक सम्माननीय विद्वान्‌की शङ्काके समाधान-स्वरूप मैंने जो भाव प्रकट किये थे, उन्हींका विश्लेषण उपर्युक्त लेखमें किया गया है। उस लेखके पढ़नेसे प्रतीत होता है कि मेरे मूल लेखको उन्होंने नहीं देखा, इसीलिये इस विषयको वे भलीभाँति अपने अनुभवमें नहीं ला सके एवं उनके द्वारा मेरे सिद्धान्तका निर्णय भी भिन्न प्रकारसे हो गया है। ऐसी अवस्थामें अपना वक्तव्य स्पष्ट कर देनेके लिये मैं पाठकोंकी सेवामें कुछ निवेदन करना उचित समझता हूँ।

'बिना पूर्ण ज्ञानके मोक्षकी प्राप्ति नहीं होती, इस विषयमें दोनों पक्षोंकी एकता है—राजासाहबका यह समझना बिल्कुल ठीक है, परंतु इन दोनों पक्षोंमें प्रधान अन्तर क्या है, इसे अच्छी तरह समझनेकी और भी अधिक आवश्यकता है। मूल लेखमें सांख्ययोगी

और निष्काम कर्मयोगीके भेदोंका विस्तृत विवेचन कर देनेके कारण समाधानवाले लेखमें उसकी पुनरावृत्ति करना आवश्यक नहीं समझा गया था। मूल लेखमें दोनोंके साधनका भेद इस प्रकार दिखाया गया है—

'निष्काम कर्मयोगी साधनकालमें कर्म, कर्मफल, परमात्मा और अपनेको भिन्न-भिन्न मानता हुआ कर्मफल और आसक्तिको त्यागकर ईश्वरपरायण हो, ईश्वरार्पण-बुद्धिसे ही सब कर्म करता है।' (गीता ३। ३०; ४। २०; ५। १०; ९। २७, २८; १२। ११, १२; १८। ५६, ५७)

परंतु 'सांख्ययोगी मायासे उत्पन्न हुए सम्पूर्ण गुण ही गुणोंमें वर्तते हैं—ऐसे समझकर मन, इन्द्रिय और शरीरद्वारा होनेवाली सम्पूर्ण क्रियाओंमें कर्तापनके अभिमानसे रहित होकर केवल सर्वव्यापी सच्चिदानन्दघन परमात्माके स्वरूपमें अनन्यभावसे निरन्तर स्थित रहता है।' (गीता ३। २८; ५। ८, ९, १३; ६। २९, ३१; १३। २९, ३०; १४। १९, २०; १८। १७ तथा ४९ से ५५ तक)

निष्काम कर्मयोगी अपनेको कर्मोंका कर्ता मानता है (५। ११), सांख्ययोगी अपनेको कर्ता नहीं मानता (५। ८-९), निष्काम कर्मयोगी अपनेद्वारा किये जानेवाले कर्मोंके फलको भगवदर्पण करता है (९। २७-२८), सांख्ययोगी मन और इन्द्रियोंद्वारा होनेवाली क्रियाओंको कर्म ही नहीं मानता (१८। १७), निष्काम कर्मयोगी परमात्माको अपनेसे भिन्न मानता है, (१२। ६-७), सांख्ययोगी सदा अभेद मानता है (६। २९,

३१; ७।१९; १८।२०), निष्काम कर्मयोगी प्रकृति और प्रकृतिके पदार्थोंकी सत्ता स्वीकार करता है (१८।९,११,४६,५६,६१), सांख्ययोगी एक ब्रह्मके सिवा अन्य किसी भी सत्ताको नहीं मानता (१३ । ३०) और यदि कहीं कुछ मानता हुआ देखा जाता है तो वह केवल दूसरोंको समझानेके लिये अध्यारोपसे, यथार्थमें नहीं; क्योंकि वह प्रकृतिको मायामात्र मानता है, वास्तवमें कुछ भी नहीं मानता । निष्काम कर्मयोगी कर्म करता है, परन्तु सांख्ययोगीके अन्तःकरण और शरीरद्वारा स्वभावसे ही कर्म होते हैं—वह करता नहीं (५ । ८, ९, १३, १४ इत्यादि) ।

उपर्युक्त विवेचनको विचारपूर्वक पढ़कर पाठक दोनों प्रकारके साधकोंके साधन-भेदको भलीभाँति समझ सकते हैं। दोनों निष्ठाओंके फलकी एकता बतलानेके कारण प्रचलित वेदान्तकी भाँति मेरे लेखका राजासाहब जो यह भाव निकालते हैं कि कर्मोंकी आवश्यकता केवल अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये ही है, सो ठीक नहीं है; क्योंकि गीताके मतानुसार लोकसंग्रहके लिये कर्मोंकी बहुत आवश्यकता है, यह मैं मानता हूँ । ज्ञान-प्राप्तिके अनन्तर न तो सांख्ययोग ही है और न निष्काम कर्मयोग ही— इस वाक्यका यह आशय कभी नहीं समझना चाहिये कि पूर्वपक्षी एवं शाङ्कर सम्प्रदायके अनुसार मैं भी ज्ञान-प्राप्तिके अनन्तर कर्मोंका स्वरूपसे त्याग हो जाना सिद्ध करता हूँ; क्योंकि शरीरके रहते हुए कर्मोंका सर्वथा त्याग हो ही नहीं सकता । हाँ, यह बात निर्विवाद है कि ज्ञानीके कर्मोंमें फल उत्पन्न करनेकी शक्ति न रहनेके कारण वे कर्म वास्तवमें अकर्म ही हैं । ऐसी अवस्थामें वह ज्ञानी यदि गृहस्थ हो तो विस्तृत कर्म करनेवाला

भी हो सकता है और यदि संन्यासी हो तो अपने आश्रम-धर्मानुसार शरीर-निर्वाह और उपदेशादिरूप संक्षिप्त कर्म कर सकता है। यह व्यवस्था उसके वर्ण, आश्रम और स्वभावसे सम्बन्ध रखती है, ज्ञानसे इसका कोई सम्बन्ध नहीं है।

'ज्ञान-प्राप्तिके अनन्तर न सांख्य है और न निष्काम-कर्मयोग ही'—इसका अभिप्राय यह है कि ज्ञानी सिद्धावस्थाको पहुँच चुका है, उसके द्वारा होनेवाले कर्म किसी भी साधन-कोटिमें परिगणित नहीं हो सकते। उसका तो प्रत्येक व्यवहार अनिर्वचनीय और अलौकिक है। उसके द्वारा होनेवाले आदर्श कर्मोंसे शिक्षा ग्रहण कर हमें अपने जीवनको पवित्र बनाना चाहिये।

पूर्वपक्षीके साथ प्रधान मतभेद इस विषयमें था कि उनके मतानुसार गीतोक्त निष्काम कर्मयोग सांख्ययोगका साधन है और सांख्ययोग मोक्षका स्वतन्त्र साधन है; परंतु मेरी समझसे गीताकार अधिकारी-भेदसे दोनोंको मोक्षके स्वतन्त्रसाधन बतलाते हैं तथा पूर्ण ज्ञानमें और मोक्षमें कोई अन्तर नहीं मानते। निष्काम कर्मयोग और सांख्ययोग इन दोनों ही साधनोंका फल तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति है। बस, इसी भावको स्पष्ट कर देना मेरे उस लेखका उद्देश्य था।

इसके सिवा पाठकोंकी सेवामें यह निवेदन कर देना भी आवश्यक प्रतीत होता है कि लोकमान्य तिलककी भाँति अथवा श्रीराजासाहबके मतानुसार मुझे ज्ञानयोग और निष्काम कर्मयोगका समुच्चय मान्य नहीं है; क्योंकि गीता दोनों साधनोंको स्पष्टरूपसे मोक्षके भिन्न-भिन्न स्वतन्त्र साधन बतलाती है—

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे॥

(गीता १३।२४)

'हे अर्जुन! उस परमपुरुष परमात्माको कितने ही मनुष्य तो शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धिसे ध्यानके द्वारा हृदयमें देखते हैं तथा अन्य कितने ही ज्ञानयोगके द्वारा देखते हैं और दूसरे (कितने ही) निष्काम कर्मयोगके द्वारा देखते हैं।' श्रीभगवान्‌के इन वाक्योंपर ध्यान देनेसे ज्ञान और कर्मके समुच्चयकी कल्पनाके लिये कोई स्थान नहीं रह जाता है। और भी कई स्थानोंपर इन दोनोंका स्वतन्त्र साधनके रूपमें प्रतिपादन किया गया है। गीता ३।३;५।५ इत्यादि।

श्रीराजासाहबका परिश्रम परम स्तुत्य है। इस प्रकार विवेचन होते रहनेसे अनेक जटिल विषयोंका सरल हो जाना सुगम है।

गीताका उपदेश

एक सज्जनने कुछ प्रश्न किये हैं। प्रश्नोंका सुधारा हुआ स्वरूप यह है—

(१) भगवान् श्रीकृष्ण पूर्ण ब्रह्म हैं, उनके लिये 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्' कहा गया है। ऐसे साक्षात् ज्ञानस्वरूप परमात्माने उपनिषद्‌रूपी गायोंसे तत्त्वरूपी दूध किसलिये दोहन किया? और क्यों उनका आश्रय लिया?

(२) क्या वर्तमान समयके गीता-भक्तोंकी भाँति अर्जुन श्रद्धासम्पन्न नहीं थे? यदि श्रद्धालु थे तो श्रीभगवान्‌को उन्हें

समझानेके लिये शब्द-प्रमाणका क्यों प्रयोग करना पड़ा और अन्तमें क्यों विश्वरूप दिखलानेकी आवश्यकता हुई?

(३) अर्जुनको 'गीताका ज्ञान हो गया था।' फिर आगे चलकर उन्होंने ऐसा क्यों कहा कि 'हे भगवन्! आपने सख्यभावसे मुझे जो कुछ कहा था, उसे मैं भूल गया?' तो क्या अर्जुन प्राप्त-ज्ञानको भूल गये थे?

(४) भगवान् श्रीकृष्णने इसके उत्तरमें कहा कि 'हे धनञ्जय! मैंने उस समय योगयुक्त होकर तुमसे वह ज्ञान कहा था, अब पुनः मैं उसे कहनेमें असमर्थ हूँ।' तो क्या सर्वज्ञ भगवान् भी आत्मविस्मृत हो गये थे, जिससे उन्होंने पुनः वह ज्ञान कहनेमें अपनी असमर्थता प्रकट की और योगयुक्त होनेका क्या अर्थ है?

(५) यदि यह मान लिया जाय कि भगवान् गीताज्ञान अर्जुनको फिरसे नहीं सुना सके, तब फिर व्यासजीने अनेक दिनों बाद उसे कैसे दुहरा दिया?

(६) अगर गीता भगवान् श्रीकृष्णके श्रीमुखकी वाणी है तो भगवान् व्यासके इन शब्दोंका क्या अर्थ है जो उन्होंने श्रीगणेशजीके प्रति कहे हैं—

लेखको भारतस्यास्य भव त्वं गणनायक।
मयैव प्रोच्यमानस्य मनसा कल्पितस्य च॥

(महा० आदि० १। ७७)

'हे गणनायक! तुम मेरे मनःकल्पित और वक्तव्यरूप इस भारतके लेखक बनो, गीता महाभारतके अन्तर्गत है, इससे यह भी

क्या व्यासजीकी मनःकल्पना है और क्या सारे श्लोक उन्हींके रचे हुए हैं ?

उपर्युक्त प्रश्नोंका क्रमशः उत्तर इस प्रकार है—

(१) भगवान्के निःश्वासरूप वेदका अङ्ग होनेसे उपनिषद् भी भगवान्के ही अनादि और नित्य उपदेश माने गये हैं। उनके आश्रयकी कोई बात नहीं, भगवान्ने संसारमें उनकी विशेष महिमा बढ़ानेके लिये ही उनका प्रयोग किया। इसके सिवा उपनिषद्की भाषा और वर्णनशैली जटिल होनेसे उनको अधिकांश लोग समझनेमें भी असमर्थ हैं, इसलिये लोककल्याणार्थ भगवान्ने उपनिषदोंका सार निकालकर गीतारूपी अमृतका दोहन किया। वास्तवमें उपनिषद् और गीता एक ही वस्तु है।

(२) आजकलके लोगोंके साथ अर्जुनकी तुलना नहीं की जा सकती। अर्जुन तो महान् श्रद्धासम्पन्न, परम विश्वासी प्रिय भक्त थे। भगवान्ने स्वयं श्रीमुखसे स्वीकार किया है—

'भक्तोऽसि मे सखा चेति' (गीता ४ । ३)
'इष्टोऽसि मे दृढमिति' (,, १८ । ६४)
'प्रियोऽसि मे'— (,, १८ । ६५)

'तू मेरा भक्त है, मित्र है, दृढ़ इष्ट है, प्रिय है' आदि। ऐसे अपने प्रिय सखा अर्जुनके प्रेमके कारण ही भगवान् सदा उसके साथ रहे, यहाँतक कि उसके रथके घोड़े स्वयं हाँके। आजके भक्तोंके पुकारसे तो भगवान् पूजामें भी नहीं आते। अतएव यह नहीं मानना चाहिये कि अर्जुन अश्रद्धालु नहीं था। भगवान्ने शब्दप्रमाण

तो वेदोंकी सार्थकता और उनका आदर बढ़ानेके लिये दिया। विश्वरूप-दर्शन करानेमें तो अर्जुनकी श्रद्धा प्रधान है ही। गीताके दशम अध्यायमें अर्जुनने जो कुछ कहा है वही उसकी श्रद्धाका पूरा प्रमाण है। अर्जुन कहता है—

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम् ॥१२॥
सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव।
न हि ते भगवन् व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः ॥१४॥
स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते ॥१५॥

'आप परम ब्रह्म, परम धाम और परम पवित्र हैं। सनातन दिव्य पुरुष एवं देवोंके भी आदिदेव, अजन्मा और सर्वव्यापी हैं, हे केशव! आप मेरे प्रति जो कुछ भी कहते हैं, उस समस्तको मैं सत्य मानता हूँ। हे भगवन्! आपके लीलामय स्वरूपको न दानव जानते हैं और न देवता ही जानते हैं। हे भूतोंके उत्पन्न करनेवाले, हे भूतोंके ईश्वर, हे देवोंके देव, हे जगत्‌के स्वामी, हे पुरुषोत्तम! आप स्वयं ही अपनेसे अपनेको जानते हैं।'

इन शब्दोंमें अर्जुनकी श्रद्धा छलकी पड़ती है। इस प्रकार भगवान्‌की महिमाको जानने और बखाननेवाला अर्जुन जब (एकादश अध्यायमें) यह प्रार्थना करता है कि 'नाथ! आप अपनेको जैसा कहते हैं (यानी दशम अध्यायमें जैसा कह आये हैं) ठीक वैसे ही हैं, परंतु हे पुरुषोत्तम! मैं आपके ज्ञान, ऐश्वर्य, शक्ति, बल,

वीर्य और तेजयुक्त रूपको प्रत्यक्ष देखना चाहता हूँ—'द्रष्टुमिच्छामि ते रूपम्' (गीता ११ । ३) अर्जुन परम विश्वासी था। भगवान्‌के प्रभावको जानता और मानता था। इसीलिये भगवान्‌की परम दयासे उसके दिव्य, विराट्‌रूपके दर्शन करना चाहता है, भक्तकी इच्छा पूर्ण करना भगवान्‌की बान है। इसीलिये भगवान्‌ने कृपा करके उसे विश्वरूप दिखलाया। यह विश्वरूप श्रद्धासे ही दिखाया गया, श्रद्धा या विश्वास करवानेके हेतुसे नहीं। भगवान्‌ने स्वयं ही कहा है कि अनन्यभक्तके सिवा किसी दूसरेको यह रूप मैं नहीं दिखा सकता। मेरा यह स्वरूप वेदाध्ययन, यज्ञ, दान, क्रिया और उग्र तपोंसे नहीं दीख सकता।' इससे यह सिद्ध है कि अर्जुन परम श्रद्धालु, भगवत्परायण और महान् भक्त था। भगवान्‌ने अनन्य भक्तिका स्वरूप और फल यह बतलाया है—

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव॥

(गीता ११ । ५५)

हे अर्जुन! जो पुरुष केवल मेरे ही लिये सब कुछ मेरा समझता हुआ—यज्ञ, दान और तप आदि सम्पूर्ण कर्तव्यकर्मोंको करनेवाला है और मेरे परायण है अर्थात् मुझको परम आश्रय और परम गति मानकर मेरी प्राप्तिके लिये तत्पर है तथा मेरा भक्त है अर्थात् मेरे नाम, गुण, प्रभाव और रहस्यके श्रवण, मनन, ध्यान और पठन-पाठनका प्रेमसहित निष्कामभावसे निरन्तर अभ्यास करनेवाला है और आसक्तिरहित है अर्थात् स्त्री, पुत्र और धनादि

सम्पूर्ण सांसारिक पदार्थोंमें स्नेहरहित और सम्पूर्ण भूतप्राणियोंमें वैरभावसे रहित है, ऐसा वह अनन्य भक्तिवाला पुरुष मुझको ही प्राप्त होता है।

(३) अर्जुनने 'निष्काम कर्मयोगसहित शरणागतिरूप भक्ति' को ही अपने लिये प्रधान उपदेश समझकर उसीको विशेष स्मरण रक्खा था। भगवान्‌के कथनानुसार इसीको 'सर्वगुह्यतम' माना था। ज्ञानके उपदेशको शरणागतिकी अपेक्षा गौण समझकर उसकी इतनी परवा नहीं की थी। इस प्रसंगमें भी अर्जुन उस 'सर्वगुह्यतम' शरणागतिके लिये कुछ नहीं पूछता। यह भक्तिसहित तत्त्वज्ञान तो उसे स्मरण ही है। इसीलिये भगवान्‌ने भी उससे कहा कि मैंने उस समय तुम्हें 'गुह्य' सनातन ज्ञान सुनाया था—

श्रावितस्त्वं मया 'गुह्यं' ज्ञापितश्च सनातनम्।

(महा० अश्व० १६।९)

इस 'गुह्य' शब्दसे भी यही सिद्ध होता है। उलाहना देनेके बाद भगवान्‌ने अर्जुनको जो कुछ सुनाया, उसमें भी गीताकी भाँति निष्काम कर्मयोग और शरणागतिके सम्बन्धमें कुछ नहीं कहा। केवल वही ज्ञानभाग सुनाया, जिसको कि अर्जुन भूल गया था।

(४) भगवान्‌के अपनेको असमर्थ बतलानेका यह अर्थ नहीं कि आप उस ज्ञानको पुनः सुना नहीं सकते थे या वे उसको भूल गये थे। सच्चिदानन्दघन भगवान्‌के लिये ऐसी कल्पना करना सर्वथा अनुचित है। भगवान्‌के कहनेका अभिप्राय ज्ञानयोगका सम्मान बढ़ाना है। गुरु अपने शिष्यसे कहता है कि 'तुझको मैंने बड़ा

ऊँचा उपदेश दिया था, उसे तूने याद नहीं रक्खा। आत्मज्ञानका उपदेश कोई बाजारू बात नहीं है, जो जब चाहे तभी कह दी जाय' इस प्रकार यहाँ 'असमर्थता' का अर्थ यही है, मैं इतनी ऊँची बात इस तरह लापरवाही रखनेवालेको नहीं कह सकता। उद्दालक, दधीचि, सत्यकाम आदि ऋषियोंका ब्रह्मविद्याके सम्बन्धमें एक ही बार कहना माना जाता है। ब्रह्मविद्या एक ऐसी वस्तु है जो एक ही बार पात्रके प्रति कहनी पड़ती है, दुबारा नहीं। इसीलिये भगवान् कहते हैं कि 'ब्रह्मविद्याका उपदेश तुमने भुला दिया, यह बड़ी भूल की।' इसके बाद अर्जुनकी तीव्र इच्छा देखकर भगवान्ने पुनः ब्रह्मविद्याका उपदेश किया। भगवान् न जानते तो उपदेश कैसे करते? 'योगयुक्त' का अर्थ यही है कि 'उस समय मैंने बहुत मन लगाकर तुमको वह ज्ञान सुनाया था।' इससे अर्जुनको एक तरह-की धमकी भी दी गयी कि 'मैं बार-बार वैसे मन लगाकर तुमसे नहीं कह सकता, इतना निकम्मा नहीं बैठा हूँ, जो बार-बार तुमसे कहूँ और तुम उसे फिर भुला दो। तुम-सरीखे पुरुषके लिये ऐसा उचित नहीं है, क्योंकि ऐसा करना पवित्र ब्रह्मविद्याका तिरस्कार करना है।' यहाँ भगवान्ने अर्जुनके बहाने सबको शिक्षा दी है कि ब्रह्मविद्याको बड़े ध्यानसे सुनना चाहिये और वक्ताको भी उसका ऐसे अधिकारी पुरुषके प्रति कथन करना चाहिये, जो सुननेके साथ ही उसे धारण कर ले।

यद्यपि अर्जुन ब्रह्मविद्याका अधिकारी नहीं था, निष्काम कर्मयोगयुक्त शरणागतिका अधिकारी था। इसीसे उसे 'सर्वगुह्यतम'

शरणागतिका ही अन्तिम उपदेश दिया गया था तथापि भगवान्‌का यह उलाहना देना तो सार्थक ही था कि तुम मेरी कही हुई बातोंको क्यों भूल गये। शरणागतको अपने इष्टकी बात कभी नहीं भूलनी चाहिये। परंतु यह नहीं समझना चाहिये कि ज्ञानका अधिकार ऊँची श्रेणीका है और निष्काम कर्मयोगयुक्त शरणागति भक्तिका नीची श्रेणीका। जब दोनोंका फल एक है तब इनमें कोई भी छोटा-बड़ा नहीं है। अर्जुन कर्मी और भक्त था, अतः उसके लिये वही मार्ग उपयुक्त था।

(५) भगवान् सब सुना सकते थे, यह बात तो ऊपरके विवेचनसे सिद्ध है। भगवान् व्यास महान् योगी थे, उन्होंने योगबलसे सारी बातें जानकर सुना दीं। जिनकी योगशक्तिसे संजय दिव्य-दृष्टि प्राप्त करनेमें समर्थ हो गया, उनके लिये यह कौन बड़ी बात थी?

(६) व्यासजीके कहनेका मतलब यह है कि उन्होंने कुछ तो संवाद ज्यों-के-त्यों रख दिये, कुछ संवादोंको संग्रह करके उन्हें सजा दिया। भगवान्‌ने अर्जुनको जो उपदेश दिया था, उससे बहुत-से श्लोक तो ज्यों-के-त्यों रख दिये गये, कुछ गद्य भागके पद्य बना दिये और कुछ इतिहास कहा। दुर्योधन, संजय, अर्जुन और धृतराष्ट्र आदिकी दशाका वर्णन व्यासजीकी रचना है। इससे यह नहीं मानना चाहिये कि यह मनःकल्पित उपन्यासमात्र है। वास्तवमें व्यासजीने अपने योगबलसे सारी बातें जानकर ही सच्चा इतिहास लिखा है।

गीता और योगदर्शन

योगदर्शन बड़े ही महत्त्वका शास्त्र है। इसके प्रणेता महर्षि श्रीपतञ्जलि महाराज हैं। योगदर्शनके सूत्रोंका भाव बहुत ही गम्भीर उपादेय, सरस और लाभकारी है। कल्याणकामियोंको योगदर्शनका अध्ययन अवश्य करना चाहिये। पता नहीं, योगदर्शनकी रचना श्रीमद्भगवद्गीताके बाद हुई है या पहले। परंतु इसमें कोई संदेह नहीं कि दोनोंके कई स्थलोंमें समानता है। कहीं शब्दोंमें समानता है तो कहीं भाव या अर्थोंका सादृश्य। उदाहरणार्थ यहाँ कुछ दिखलाये जाते हैं—

पातञ्जलयोगदर्शन

(१) अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः। (१।१२)

(२) स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः। (१।१४)

(३) तस्य वाचकः प्रणवः। तज्जपस्तदर्थभावनम्। (१।२७-२८)

(४) परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः। (२।१५)

श्रीमद्भगवद्गीता

(१) अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते। (६।३५)

(२) अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः। (८।१४)

(३) ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन्। (८।१३)

(४) ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥
(५। २२)

इनके अतिरिक्त केवल भावमें सदृशतावाले स्थल भी हैं, जैसे योगदर्शन (२ । १९) का सूत्र है—'विशेषाविशेषलिङ्गमात्रा-लिङ्गानि गुणपर्वाणि' अर्थात् पाँच महाभूत, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ और एक मन—इन सोलह विकारोंका समुदायरूप विशेष; अहंकार और पञ्चतन्मात्रा—इन छःका समुदायरूप अविशेष; समष्टि-बुद्धिरूपी लिङ्ग और अव्याकृत प्रकृतिरूप अलिङ्ग—ये चौबीस तत्त्व प्रकृतिकी अवस्थाविशेष हैं। इसी बातको बतलानेवाला गीताका तेरहवें अध्यायका ५वाँ श्लोक है—

महाभूतान्यहङ्कारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः ॥

पाँच महाभूत, अहंकार, बुद्धि, मूलप्रकृति, दस इन्द्रियाँ, मन और पञ्चतन्मात्रा।

उपर्युक्त अवतरणोंके अनुसार दोनोंके कई स्थल मिलते-जुलते होनेके कारण कुछ लोगोंका मत है कि श्रीमद्भगवद्गीता पातञ्जलयोग-दर्शनके बाद बनी है और इसमें यह सब भाव उसीसे लिये गये हैं। कुछ लोग तो गीताको योगदर्शनका रूपान्तर या उसीका प्रतिपादक ग्रन्थ मानते हैं। मेरी समझसे यह मत ठीक नहीं है। श्रीमद्भगवद्गीता-की रचना योगदर्शनके बाद हुई हो या पहले, इस विषयमें तो मैं कुछ भी नहीं कह सकता। परंतु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि

भगवद्गीताका सिद्धान्त योगदर्शनकी अपेक्षा कहीं अधिक व्यापक और सर्वदेशीय है।

योगदर्शनका योग केवल एक ही अर्थमें प्रयुक्त है, परंतु गीताका योग शब्द अनन्त समुद्रकी भाँति विशाल है, उसमें सबका समावेश है। परमात्माकी प्राप्तितकको गीतामें योग कहा गया है। इसके सिवा निष्काम कर्म, भक्ति, ध्यान, ज्ञान आदिको भी योगके नामसे कहा गया है। योग शब्द किस-किस अर्थमें प्रयुक्त हुआ है, यह इसी पुस्तकमें अन्यत्र दिखाया गया है। योगदर्शनमें ईश्वरका स्वरूप है—

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः। (१।२४)
तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्। (१।२५)
पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्। (१।२६)

जो अविद्या, अहंता, राग, द्वेष, भय, शुभाशुभ कर्म, कर्मोंके फलरूप सुख-दुःख और वासनासे सर्वथा रहित है, पुरुषोंमें उत्तम है, जिसकी सर्वज्ञता निरतिशय है एवं जो कालकी अवधिसे रहित होनेके कारण पूर्वमें होनेवाले समस्त सृष्टिरचयिता ब्रह्मा आदिका स्वामी है, वह ईश्वर है।

अब गीताके ईश्वरका निरूपण संक्षेपसे कुछ श्लोकोंमें पढ़कर दोनोंकी तुलना कीजिये—

कविं पुराणमनुशासितार-
मणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः ।

सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूप-
मादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥
(८ । ९)

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥
(१३ । १४)

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च ।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥
(१४ । २७)

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥
(१५ । १८)

इन श्लोकोंके अनुसार जो सर्वज्ञ, अनादि, सबका नियन्ता, सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म, सबका धारण-पोषण करनेवाला अचिन्त्यस्वरूप, नित्य चेतन, प्रकाशस्वरूप, अविद्यासे अति परे, शुद्ध सच्चिदानन्दघन, सम्पूर्ण इन्द्रियोंके विषयोंको जाननेवाला होनेपर भी सब इन्द्रियोंसे रहित, आसक्तिहीन, गुणातीत होनेपर भी सबका धारण-पोषण करनेवाला और गुणोंका भोक्ता, अविनाशी परब्रह्म, अमृत, नित्यधर्म और अखण्ड एकरस आनन्दका आश्रय, नाशवान्, जडवर्ग क्षेत्रसे सर्वथा अतीत और मायास्थित अविनाशी जीवात्मासे भी उत्तम पुरुषोत्तम है, वह ईश्वर है ।*

* परमात्माका स्वरूप जाननेके लिये प्रथम भागमें प्रकाशित 'भगवान् क्या है ?' शीर्षक लेख पढ़ना चाहिये ।

पातञ्जलयोगदर्शनके अनुसार ईश्वर त्रिगुणोंके विकारसे रहित है, परंतु गीताके अनुसार वह गुणोंसे अतीत ही है। योगदर्शनका ईश्वर क्लेश, शुभाशुभ कर्म, सुख-दुःख और वासनारहित एवं पुरुष-विशेष होनेसे पुरुषोत्तम है, पर गीताका ईश्वर जड जगत्से सर्वथा अतीत, सर्वव्यापी और मायास्थित जीवसे भी उत्तम होनेके कारण पुरुषोत्तम है। योगदर्शनका ईश्वर कालके अवच्छेदसे रहित होनेके कारण पूर्व-पूर्व सर्गमें होनेवाले सृष्टिरचयिताओंका गुरु है; परन्तु गीताका ईश्वर अव्यय, परब्रह्म, शाश्वतधर्म और ऐकान्तिक आनन्दका भी परम आश्रय है। गुणातीत होकर भी अपनी अचिन्त्य शक्तिसे गुणोंका भोक्ता और सबका भरण-पोषण करनेवाला है।

इसी प्रकार 'ईश्वर-शरणागति' के सिद्धान्तमें भी गीताका अभिप्राय बहुत उच्च है। योगदर्शनका 'ईश्वर-प्रणिधान' चित्तवृत्ति-निरोधके लिये किये जानेवाले अभ्यास और वैराग्य आदि अन्य साधनोंके समान एक साधन है, इसीसे 'ईश्वर-प्रणिधानाद्वा' (१। २३) सूत्रमें 'वा' लगाया गया है। परंतु गीतामें ईश्वर-शरणागति-का साधन समस्त साधनोंका सम्राट् है (गीता ९। ३२; १८। ६२, ६६ देखना चाहिये)।

गीताके ध्यानयोगका फल भी योगदर्शनसे महत्त्वका है। योगदर्शन कहता है—

ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः। (२। ११)

अर्थात् 'ध्यानसे क्लेशोंकी वृत्तियोंका नाश होता है।' परंतु गीता कहती है—

'ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना ।'

(गीता १३ । २४)

'कितने ही मनुष्य शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धिसे ध्यानके द्वारा हृदयमें परमात्माको देखते हैं ।' वहाँ केवल क्लेशोंकी वृत्तियोंका ही नाश है, पर यहाँ ध्यानसे परमात्मसाक्षात्कारतक होनेकी बात है ।

इसी तरहसे अन्य कई स्थल हैं । इसके अतिरिक्त सबसे बड़ी बात यह है कि गीता साक्षात् सच्चिदानन्दघन परमात्माके श्रीमुख-की दिव्य वाणी है और योगदर्शन एक ज्ञानी महात्मा महर्षिके विचार हैं । भगवान्‌के साथ ज्ञानीकी अभिन्नता रहनेपर भी भगवान् भगवान् ही हैं ।

इस विवेचनसे यह प्रतीत होता है कि गीताका महत्त्व सभी तरह ऊँचा है तथा गीताके प्रतिपाद्य विषय भी विशेष महत्त्वपूर्ण, भावमय, सर्वदेशीय, सुगम और परम आदर्श हैं ।

इससे कोई यह न समझे कि मैं योगदर्शनको किसी तरहसे भी मामूली वस्तु समझता हूँ या उसमें किसी प्रकारकी त्रुटि मानता हूँ । योगदर्शन परम उपादेय और आदरणीय शास्त्र है । केवल गीताके साथ तारतम्यताकी दृष्टिसे ऐसा लिखा गया है ।

गीताके अनुसार जीवन्मुक्तका लक्षण

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥

(गीता ६ । ३२)

'हे अर्जुन ! जो योगी (जीवन्मुक्त) अपनी सादृश्यतासे सम्पूर्ण भूतोंमें सम देखता है और सुख अथवा दुःखको भी सबमें सम देखता है वह योगी परम श्रेष्ठ माना गया है ।'

गीताके अनुसार जीवन्मुक्त वही है, जिसका सर्वदा-सर्वथा सर्वत्र समभाव है । जहाँ-जहाँपर मुक्त पुरुषका गीतामें वर्णन है, वहाँ-वहाँ समताका ही उल्लेख पाया जाता है । गीताके अनुसार जिसमें समता है वही स्थितप्रज्ञ, ज्ञानी, गुणातीत, भक्त और जीवन्मुक्त है । ऐसे जीवन्मुक्तमें राग-द्वेषरूपी विकारोंका अत्यन्त अभाव होता है; मान-अपमान, हानि-लाभ, जय-पराजय, शत्रु-मित्र, निन्दा-स्तुति आदि समस्त द्वन्द्वोंमें वह समतायुक्त रहता है । अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थिति उसके हृदयमें किसी प्रकारका भी विकार उत्पन्न नहीं कर सकती । किसी भी कालमें किसीके साथ किसी प्रकारसे भी उसकी साम्य-स्थितिमें परिवर्तन नहीं होता । निन्दा करनेवालेके प्रति उसकी द्वेष या वैर-बुद्धि और स्तुति करनेवालेके प्रति राग या प्रेम-बुद्धि नहीं होती । दोनोंमें समान वृत्ति रहती है । मूढ़ अज्ञानी मनुष्य ही निन्दा सुनकर दुखी और स्तुति सुनकर सुखी हुआ करते हैं । सात्त्विक पुरुष निन्दा सुनकर सावधान और स्तुति सुनकर लज्जित होते हैं । पर जीवन्मुक्तका अन्तःकरण इन दोनों भावोंसे शून्य रहता है, क्योंकि उसकी दृष्टिमें एक सच्चिदानन्दघन परमात्माके अतिरिक्त अपनी भी भिन्न सत्ता नहीं रहती, तब निन्दा-स्तुतिमें उसकी भेदबुद्धि कैसे हो सकती है ? वह तो सबको एक परमात्माका ही स्वरूप समझता है—

*

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा ॥

(गीता १३ । ३०)

'जिस समय यह पुरुष भूतोंके पृथक्-पृथक् भावोंको एक परमात्माके संकल्पके आधारपर स्थित देखता है तथा उस परमात्माके संकल्पसे ही सम्पूर्ण भूतोंका विस्तार देखता है, उस समय वह सच्चिदानन्दघन ब्रह्मको ही प्राप्त होता है ।' इसलिये उसकी बुद्धिमें एक परमात्माके सिवा अन्य कुछ रह ही नहीं जाता । लोक-संग्रह और शास्त्रमर्यादाके लिये सबके साथ यथायोग्य बर्ताव करते हुए भी, व्यवहारमें बड़ी विषमता प्रतीत होनेपर भी उसकी सम-बुद्धिमें कोई अन्तर नहीं पड़ता । इसीसे भगवान्ने कहा है—

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥

(गीता ५ । १८)

'वे ज्ञानीजन विद्या और विनययुक्त ब्राह्मणमें तथा गौ, हाथी, कुत्ते और चाण्डालमें भी समभावसे देखनेवाले ही होते हैं ।' इस श्लोकसे व्यवहारका भेद स्पष्ट है । यदि केवल मनुष्योंकी ही बात होती तो व्यवहार-भेदका खण्डन भी किसी तरह खींचतानकर किया जा सकता, परन्तु इसमें तो ब्राह्मणादिके साथ कुत्ते आदि पशुओंका भी समावेश है । कोई भी विवेकसम्पन्न पुरुष इस श्लोकमें कथित पाँचों प्राणियोंके साथ व्यवहारमें समताका प्रतिपादन नहीं कर सकता । मनुष्य और पशुकी बात तो अलग रही; इन

तीनों पशुओंमें भी व्यवहारकी बड़ी भारी भिन्नता है। हाथीका काम कुत्तेसे नहीं निकलता, गौकी जगह कुतिया नहीं रक्खी जाती। जो लोग इस श्लोकसे व्यवहारमें अभेद सिद्ध करना चाहते हैं, वे वस्तुतः इसका मर्म नहीं समझते। इस श्लोकमें तो समदर्शी जीवन्मुक्तकी आध्यात्मिक स्थिति बतलानेके लिये ऐसे पाँच जीवोंका उल्लेख किया गया है, जिनके व्यवहारमें बड़ा भारी भेद है और इस भेदके रहते भी ज्ञानी सबमें उपाधियोंके-दोषसे रहित ब्रह्मको सम देखता है। यद्यपि उसकी दृष्टिमें किसी देश, काल, पात्र या पदार्थमें कोई भेद-बुद्धि नहीं होती, तथापि वह व्यवहारमें शास्त्रकी मर्यादाके अनुसार भेद-बुद्धिवालोंको विपरीत मार्गसे बचानेके लिये आसक्तिरहित होकर उन्हींकी भाँति न्याययुक्त व्यवहार करता है (गीता ३। २५-२६); क्योंकि श्रेष्ठ पुरुषोंके आदर्शको सामने रखकर ही अन्य लोग व्यवहार किया करते हैं—

> यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
> स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥
> (गीता ३। २१)

'श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करता है; अन्य पुरुष भी उस-उसके ही अनुसार बर्तते हैं, वह पुरुष जो कुछ प्रमाण कर देता है अन्य लोग भी उसीके अनुसार बर्तते हैं।'

वास्तवमें जीवन्मुक्त पुरुषके लिये कोई कर्तव्याकर्तव्य या विधि-निषेध नहीं है, तथापि लोक संग्रहार्थ मुक्तिकामी पुरुषोंको असत्-

मार्गसे बचानेके लिये जीवन्मुक्तके अन्तःकरणद्वारा कर्मोंकी

स्वाभाविक चेष्टा हुआ करती है। उसका सबके प्रति समान सहज प्रेम रहता है। सबमें समान आत्मबुद्धि रहती है। इस प्रकारके समतामें स्थित हुए पुरुष जीते हुए ही मुक्त हैं। उनकी स्थिति बतलाते हुए भगवान् कहते हैं—

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसम्मूढो ब्रह्मविद्ब्रह्मणि स्थितः॥
(गीता ५। २०)

'जो पुरुष प्रियको अर्थात् जिसको लोग प्रिय समझते हैं उसको प्राप्त होकर हर्षित न हो और अप्रियको अर्थात् जिसको लोग अप्रिय समझते हैं उसको प्राप्त होकर उद्वेगवान् न हो, ऐसा स्थिरबुद्धि संशयरहित ब्रह्मवेत्ता पुरुष सच्चिदानन्दघन परमात्मामें एकीभावसे नित्यस्थित है।' सुख-दुःख, अहंता-ममता आदिके नातेसे भी वह सबमें समबुद्धि रहता है। अज्ञानीका जैसे व्यष्टिशरीरमें आत्मभाव है, वैसे ही ज्ञानीका समष्टिरूप समस्त संसारमें है। इसका यह अर्थ नहीं है कि उसे दूसरेके दर्दका दर्दके रूपमें ही अनुभव होता है। एक अँगुलीके कटनेका अनुभव दूसरी अँगुलीको नहीं हो सकता; परंतु जैसे दोनोंका ही अनुभव आत्माको होता है, इसी प्रकार ज्ञानीका आत्मरूपसे सबमें समभाव है। यदि ब्राह्मण, चाण्डाल और गौ, हाथी आदिके बाह्य शारीरिक खान-पान आदिमें समान व्यवहार करनेको ही समताका आदर्श समझा जाय तो यह आदर्श तो बहुत सहजमें ही हो सकता है, फिर भेदाभेदरहित आचरण करनेवाले पशुमात्रको ही जीवन्मुक्त समझना

चाहिये। आचाररहित मनुष्य और पशु तो सबके साथ स्वाभाविक ही ऐसा व्यवहार करते हैं और करना चाहते हैं, कहीं रुकते हैं तो भयसे रुकते हैं। पर इस समवर्तनका नाम ज्ञान नहीं है। आजकल कुछ लोग सिद्धान्तकी दृष्टिसे भी समवर्तनके व्यवहारकी व्यर्थ चेष्टा करते हैं, परन्तु उनमें जीवन्मुक्तिके कोई लक्षण नहीं देखे जाते। अतएव गीताके समदर्शनको सबके साथ समवर्तन करनेका अभिप्राय समझना अर्थका अनर्थ करना है। ऐसी जीवन्मुक्ति तो प्रत्येक मनुष्य सहजमें ही प्राप्त कर सकता है। जिस जीवन्मुक्तिकी शास्त्रोंमें इतनी महिमा गायी गयी है और जिस स्थितिको प्राप्त करना महान् कठिन माना जाता है, वह क्या इतनेसे उच्छृङ्खल समवर्तनसे ही प्राप्त हो जाती है? वास्तवमें समदर्शन ही यथार्थ ज्ञान है। समवर्तनका कोई महत्त्व नहीं है। यह तो मामूली क्रियासाध्य बात है, जो जंगली मनुष्यों तथा पशुओंमें प्रायः पायी जाती है।

गीताके समदर्शनका यह अभिप्राय कदापि नहीं है। शत्रु-मित्र, मान-अपमान, जय-पराजय, निन्दा-स्तुति आदिमें समदर्शन करना ही यथार्थ समता है।

यह समता ही एकता है। यही परमेश्वरका स्वरूप है। इसमें स्थित हो जानेका नाम ही ब्राह्मी स्थिति है। जिसकी इसमें गाढ़ स्थिति होती है उसके हृदयमें सात्त्विकी, राजसी, तामसी——किसी भी कार्यके आने-जानेपर किसी भी कालमें कभी हर्ष-शोक और राग-द्वेषका विकार नहीं होता। इस समबुद्धिके कारण वह अपनी स्थितिसे कभी विचलित नहीं होता, इसीसे उस धीर पुरुषको स्थितप्रज्ञ कहते

हैं। किसी भी गुणके कार्यसे वह विकारको प्राप्त नहीं होता, इसीसे वह गुणातीत है। एक ज्ञानस्वरूप परमात्मामें नित्य स्थित है, इसीसे वह ज्ञानी है, परमात्मा वासुदेवके सिवा कहीं कुछ भी नहीं देखता, इसीसे वह भक्त है। उसे कोई कर्म कभी बाँध नहीं सकता, इसीसे वह जीवन्मुक्त है। इच्छा, भय और क्रोधका उसमें अत्यन्त अभाव हो जाता है। वह मुक्त पुरुष लोकदृष्टिमें सब प्रकार योग्य आचरण करता हुआ प्रतीत होनेपर भी तथा उसके कार्योंमें अज्ञानी मनुष्योंको भेदकी प्रतीति होनेपर भी वह विज्ञानानन्दघन परमात्मामें तद्रूप हुआ उसीमें एकीभावसे सदा-सर्वदा स्थिर रहता है। उसका वह आनन्द नित्य शुद्ध और बोधस्वरूप है, सबसे विलक्षण है। लौकिक बुद्धिसे उसका अनुमान भी नहीं किया जा सकता।

गीताके अनुसार जीव, ईश्वर और ब्रह्मका विवेचन

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः॥

(गीता १३।२२)

'वास्तवमें यह पुरुष देहमें स्थित हुआ भी पर (त्रिगुणमयी मायासे सर्वथा अतीत) ही है। केवल साक्षी होनेसे उपद्रष्टा, यथार्थ सम्मति देनेवाला होनेसे अनुमन्ता, सबको धारण करनेवाला होनेसे भर्ता, जीवरूपसे भोक्ता, ब्रह्मादिका भी स्वामी होनेसे महेश्वर और शुद्ध सच्चिदानन्दघन होनेसे परमात्मा है ऐसा कहा गया है।'

पण्डितजन भी कहते हैं कि गीताके सिद्धान्तानुसार ब्रह्म, ईश्वर और जीवमें कोई भेद नहीं है, उपर्युक्त श्लोकसे यह स्पष्ट है कि यह परपुरुष परमात्मा ही भोगनेके समय जीव, सृष्टिकी उत्पत्ति, पालन और संहारके समय ईश्वर और निर्विकार-अवस्थामें ब्रह्म कहा जाता है। इस श्लोकमें भोक्ता शब्द जीवका; उपद्रष्टा, अनुमन्ता, भर्ता और महेश्वर शब्द ईश्वरके एवं परमात्मा शुद्ध ब्रह्मका वाचक है। परम पुरुषके विशेषण होनेसे सब उसीके रूप हैं। इन्हीं तीनों रूपोंका वर्णन आठवें अध्यायके आरम्भमें अर्जुनके सात प्रश्नोंमेंसे तीन प्रश्नोंके उत्तरमें आया है। अर्जुनका प्रश्न था 'किं तद्ब्रह्म' 'वह ब्रह्म क्या है?' इसके उत्तरमें भगवान्ने कहा— 'अक्षरं ब्रह्म परमम्' 'परम अविनाशी सच्चिदानन्दघन परमात्मा ब्रह्म है।' 'किम् अध्यात्मम्' 'अध्यात्म क्या है?' के उत्तरमें 'स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते' 'अपना भाव यानी जीवात्मा' और 'कः अधियज्ञः' 'अधियज्ञ कौन है?' के उत्तरमें 'अधियज्ञोऽहमेवात्र' 'मैं ईश्वर इस शरीरमें अधियज्ञ हूँ।' ऐसा कहा है। इसी बातको अवतारका कारण बतलानेके पूर्वके श्लोकमें भगवान्ने कहा है—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥

(गीता ४।६)

'मैं अविनाशीस्वरूप अजन्मा होनेपर भी तथा सब भूतप्राणियोंका ईश्वर होनेपर भी अपनी प्रकृतिको अधीन करके योगमायासे प्रकट होता हूँ।' आगे चलकर भगवान्ने स्पष्ट कहा है कि मैं जन्म

श्रीकृष्णके रूपमें साधारण मनुष्य-सा दीखता हूँ सो मैं ऐसा नहीं, पर असाधारण ईश्वर हूँ। सम्पूर्ण भूतोंके महान् ईश्वररूप मेरे परम भावको न जाननेवाले मूढ़ लोग मनुष्यका शरीर धारण करनेवाले मुझ परमात्माको तुच्छ समझते हैं यानी अपनी योगमायासे संसारके उद्धारके लिये मनुष्यरूपमें विचरते हुए मुझको साधारण मनुष्य मानते हैं (९। ११)। भगवान् श्रीकृष्णने ईश्वर और ब्रह्मका अभेद गीतामें कई जगह बतलाया है।

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च॥
(१४। २७)

'हे अर्जुन! अविनाशी परब्रह्मका और अमृतका तथा नित्य धर्मका एवं अखण्ड एकरस आनन्दका मैं ही आश्रय हूँ। अर्थात् ब्रह्म, अमृत, अव्यय और शाश्वत-धर्म तथा ऐकान्तिक सुख यह सब मेरे ही नाम हैं, इसलिये मैं इनका परम आश्रय हूँ।' गीताके कुछ श्लोकोंसे यह सिद्ध होता है कि जीव ईश्वरसे भिन्न नहीं है। जैसे—

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च॥
(१०। २०)

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।
(१३। २)

'हे अर्जुन! मैं सब भूतोंके हृदयमें स्थित सबका आत्मा हूँ तथा सम्पूर्ण भूतोंका आदि, मध्य और अन्त भी मैं ही हूँ। सब (शरीररूप) क्षेत्रोंमें क्षेत्रज्ञ अर्थात् जीवात्मा भी मुझको ही जान।' इत्यादि।

इसके अतिरिक्त यह बतलानेवाले भी शब्द हैं कि एक सच्चिदानन्दघन परमात्माके सिवा और कुछ भी नहीं है। जैसे—

मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनंजय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥
(७।७)

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन॥
(९।१९)

वासुदेवः सर्वमिति............................।
(७।१९)

'हे धनंजय! मुझसे अतिरिक्त किञ्चिन्मात्र भी दूसरी वस्तु नहीं है, यह सम्पूर्ण जगत् सूत्रमें सूत्रके मणियोंके सदृश मुझमें गुँथा हुआ है। मैं ही सूर्यरूप हुआ तपता हूँ, मैं ही वर्षाको आकर्षण करता और बरसाता हूँ, हे अर्जुन! अमृत और मृत्यु एवं सत् तथा असत् भी सब कुछ मैं ही हूँ। यह सब कुछ वासुदेव ही है।' इस प्रकार गीतासे जीव, ईश्वर और ब्रह्मका अभेद सिद्ध होता है।

इस अभेदका स्वरूप बतलाते हुए पण्डितगण जीवात्माको घटाकाश, ईश्वरको मेघाकाश और ब्रह्मको महाकाशके दृष्टान्तसे समझाया करते हैं। जैसे एक ही आकाश उपाधिभेदसे त्रिविध प्रतीत होता है इसी प्रकार एक ब्रह्ममें ही त्रिविध कल्पना है। यह व्याख्या आंशिकरूपसे मान्य और लाभदायक भी है, परन्तु वास्तवमें ब्रह्ममें ऐसा विभाग नहीं समझ लेना चाहिये। आकाश विकारी है, उसमें विकारसे भेद सम्भव है, परन्तु ब्रह्म निर्विकार शुद्ध बोधस्वरूप अटल है, अतएव उसमें आकाशकी भाँति विकार

सम्भव नहीं। वास्तवमें यह बड़ा ही गहन विषय है। भगवान्ने भी समझानेके लिये कहा है, **'ममैवांशो जीवलोके'** (गीता १५।७) जीवात्मा मेरा ही अंश है, परन्तु वह किस प्रकारका अंश है यह समझना कठिन है। कुछ विद्वान् इसके लिये स्वप्नका दृष्टान्त देते हैं। जैसे स्वप्नकालमें पुरुष अपने ही अन्दर नाना प्रकारके पदार्थों और व्यक्तियोंको देखता तथा उनसे व्यवहार करता है, परन्तु जागनेके बाद अपने सिवा स्वप्नदृष्ट समस्त पदार्थोंका अत्यन्त अभाव समझता है, स्वप्नमें दीखनेवाले समस्त पदार्थ उसके कल्पित अंश थे, इसी प्रकार ये समस्त जीव परमात्माके अंश हैं। यद्यपि यह दृष्टान्त बहुत उपादेय और आदर्श है तथापि इससे यथार्थ वस्तुस्थितिकी सम्यक् उपलब्धि नहीं हो सकती। क्योंकि नित्य चेतन, निर्भ्रान्त ज्ञानघन परमात्मामें निद्रा, भ्रान्ति और मोहका आरोप किसी भी कालमें नहीं किया जा सकता। अतएव उदाहरण-युक्तियोंके बलपर इस रहस्यको समझना-समझाना असम्भव-सा ही है। गीतोक्त साधनोंद्वारा परमात्माकी और महान् पुरुषोंकी दयासे ही इसका तत्त्व जाना जा सकता है। इसीसे यमराजने नचिकेतासे कहा है—

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।

(कठ० १।३।१४)

'उठो, जागो और श्रेष्ठ पुरुषोंके समीप जाकर ज्ञान प्राप्त करो।' भगवान्ने भी कहा है—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥

(गीता ४।३४)

'इसलिये तत्त्वको जाननेवाले ज्ञानी पुरुषोंसे भली प्रकार दण्डवत्-प्रणाम तथा सेवा और निष्कपट भावसे किये हुए प्रश्न-द्वारा उस ज्ञानको जान । वे मर्मको जाननेवाले ज्ञानीजन तुझे उस ज्ञानका उपदेश करेंगे ।'

परन्तु इससे यही न मान लेना चाहिये कि गीतामें भेदके प्रतिपादक शब्द ही नहीं हैं । ऐसे बहुत-से स्थल हैं जहाँ भेदमूलक शब्द भी पाये जाते हैं । भिन्न-भिन्न लक्षणोंसे तीनोंका भिन्न-भिन्न वर्णन है । शुद्ध ब्रह्मको मायासे अतीत, गुणोंसे अतीत अनादि, शुद्ध, बोध-ज्ञान-आनन्दस्वरूप अविनाशी आदि बतलाया है । जैसे—

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते ।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥

(गीता १३ । १२)

'जो जाननेके योग्य है तथा जिसको जानकर (मनुष्य) परमानन्दको प्राप्त होता है, उसको मैं अच्छी प्रकारसे कहूँगा' वह आदिरहित परमब्रह्म न सत् कहा जाता है और न असत् ही कहा जाता है, वह दोनोंसे अतीत है ।' 'अक्षरं ब्रह्म परमम्' अचिन्त्यम्, सर्वत्रगम्, अनिर्देश्यम्, कूटस्थम्, ध्रुवम्, अचलम्, अव्यक्तम्, 'अक्षरम्' आदि नामोंसे वर्णन किया गया है, श्रुतियाँ भी 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० २ । १) 'प्रज्ञानं ब्रह्म' (ऐ० ३ । ३) आदि कहती हैं ।

ईश्वरका वर्णन सृष्टिके उत्पत्ति-पालन-संहारकर्ता और शासन-कर्ता आदिके रूपमें किया गया है । यथा—

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ॥
(गीता ९ । १०)

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा ।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ॥
(१० । ६)

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥
(१८ । ६१)

'हे अर्जुन ! मुझ अधिष्ठाताके सकाशसे यह मेरी माया चराचरसहित सर्व जगत्को रचती है । इस हेतुसे ही यह संसार आवागमन-रूप चक्रमें घूमता है । सातों महर्षि और उनसे भी पूर्वमें होनेवाले चारों सनकादि तथा स्वायम्भुव आदि चौदह मनु मेरेमें भाववाले मेरे संकल्पसे उत्पन्न हुए हैं, जिनकी संसारमें यह सम्पूर्ण प्रजा है । हे अर्जुन ! शरीररूपी यन्त्रमें आरूढ़ हुए सम्पूर्ण प्राणियोंको अन्तर्यामी परमेश्वर अपनी मायासे उनके कर्मोंके अनुसार भ्रमाता हुआ सब भूत-प्राणियोंके हृदयमें स्थित है ।' इसी तरह अध्याय ४ । १३ में 'चातुर्वर्ण्यके कर्ता'; अध्याय ५ । २९में 'सर्वलोकमहेश्वर'; अध्याय ७ । ६ में 'सम्पूर्ण जगत्के उत्पत्ति-प्रलयरूप'; अध्याय ११ । ३२ में 'लोक-संहारमें प्रवृत्त महाकाल' इत्यादि रूपोंसे वर्णन है ।

जीवात्माका भोक्ता, कर्ता, ज्ञाता, अंश, अविनाशी, नित्य आदि लक्षणोंसे निरूपण किया गया है । जैसे अध्याय २ । १८में 'नित्य

अविनाशी अप्रमेय'; अध्याय १३ । २१ में 'प्रकृतिमें स्थित गुणोंके भोक्ता और गुणोंके सङ्गसे अच्छी-बुरी योनियोंमें जन्म लेनेवाला'; अध्याय १५ । ७ में 'सनातन अंश'; अध्याय १५ । १६ में 'अक्षर, कूटस्थ' आदि लक्षणोंसे वर्णन है ।

इस प्रकार गीतामें अभेद-भेद दोनों प्रकारके वर्णन पाये जाते हैं । एक ओर जहाँ अभेदकी बड़ी प्रशंसा है, वहाँ दूसरी ओर (अध्याय १२ । २ में) सगुणोपासककी प्रशंसा कर भेदकी महिमा बढ़ायी गयी है । इससे स्वाभाविक हो यह शंका होती है कि गीतामें भेदका प्रतिपादन है या अभेदका ? जब भेद और अभेद दोनोंका स्पष्ट वर्णन मिलता है तब उनमेंसे किसी एकको गलत नहीं कहा जा सकता । परन्तु सत्य कभी दो नहीं हो सकते, वह तो एक ही होता है । अतः इस विषयपर विचार करनेसे यही अनुमान होता है कि वास्तवमें जो वस्तु-तत्त्व है, उसको न भेद ही कहा जा सकता है और न अभेद ही । वह सबसे विलक्षण है, मन-वाणीसे परे है, वह वस्तुस्थिति वाणी या तर्कयुक्तियोंसे समझी या समझायी नहीं जा सकती । जो जानते हैं वे ही जानते हैं । जाननेवाले भी उसका वाणीसे वर्णन नहीं कर सकते । श्रुति कहती है—

> नाहं मन्ये सुवेदेति नो न वेदेति वेद च ।
> यो नस्तद्वेद तद्वेद नो न वेदेति वेद च ॥
>
> (केन० २ । २)

'मैं ब्रह्मको भली प्रकार जानता हूँ ऐसा नहीं मानता और यह भी नहीं मानता कि मैं नहीं जानता; क्योंकि जानता भी हूँ । हम-

लोगोंमेंसे जो कोई उस ब्रह्मको जानता है, वह भी इस बातको जानता है कि मैं नहीं जानता ऐसा नहीं मानता; क्योंकि जानता भी हूँ।'

जबतक वास्तविक तत्त्वको मनुष्य नहीं समझ लेता; तबतक इनका भेद मानकर साधन करना अधिक सुरक्षित और लाभदायक है, गीतामें दोनों प्रकारके वर्णनोंसे यह प्रतीत होता है कि दयामय भगवान्‌ने दो प्रकारके अधिकारियोंके लिये दो अवस्थाओंका वर्णन किया है। वास्तविक स्वरूप अनिर्वचनीय है। वह अतर्क्य विषय परमात्माकी कृपासे ही जाननेमें आ सकता है। उस तत्त्वको यथार्थरूपसे जाननेका सरल उपाय उस परमात्माकी शरणागति है। इसमें सबका अधिकार है। भगवान्‌ने कहा है—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥

(गीता ९।३२)

'स्त्री, वैश्य और शूद्रादि तथा पापयोनिवाले भी जो कोई होवें वे भी मेरे शरण होकर तो परमगतिको ही प्राप्त होते हैं।'

आगे चलकर भगवान्‌ने स्पष्ट कह दिया है कि—

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥

(गीता १८।६२)

'हे भारत! सब प्रकारसे उस परमेश्वरकी ही अनन्य शरणको प्राप्त हो उस परमात्माकी कृपासे ही परमशान्तिको और सनातन

परमधामको प्राप्त होगा।' वह परमेश्वर श्रीकृष्ण ही हैं, इसलिये अन्तमें उन्होंने कहा—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

(गीता १८। ६६)

'सर्व धर्मोंको अर्थात् सम्पूर्ण कर्मोंके आश्रयको त्यागकर केवल एक मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेव परमात्माकी ही अनन्य शरणको प्राप्त हो, मैं तुझको समस्त पापोंसे मुक्त कर दूँगा। तू शोक मत कर।'*

गीताके अनुसार कर्म, विकर्म और अकर्मका स्वरूप

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः॥

(गीता ४। १७)

कर्मकी गति बड़ी ही गहन है, इसीसे भगवान् बड़ा जोर देकर उसे समझनेके लिये कहते हैं और समझाते हैं। यहाँ कर्मकी तीन संज्ञा की गयी है—कर्म, विकर्म और अकर्म। यद्यपि इस बातका निर्णय करना बहुत कठिन है कि भगवान्‌का अभिप्राय वास्तवमें क्या है, परन्तु विचार करनेपर जो कुछ समझमें आता है वही लिखा

* शरणागतिके विषयमें सविस्तार देखना हो तो प्रथम भागमें 'शरणागति' शीर्षक लेख देखें।

जाता है। साधारणतया विद्वज्जन इनका स्वरूप यही समझते हैं कि, १—इस लोक या परलोकमें जिसका फल सुखदायी हो उस उत्तम क्रियाका नाम कर्म है, २—जिसका फल इस लोक या परलोकमें दुःखदायी हो उसका नाम विकर्म है और ३—जो कर्म या कर्मत्याग किसी फलकी उत्पत्तिका कारण नहीं होता उसका नाम अकर्म है। इन तीनोंके रहस्यको समझना इसलिये भी बड़ा कठिन हो रहा है कि हमलोगोंने मन, वाणी, शरीरसे होनेवाली सम्पूर्ण क्रियाओंको ही कर्म नाम दे रक्खा है; परन्तु यथार्थमें यह बात नहीं है। यदि यही बात हो तो फिर ऐसा कौन-सा रहस्य था जो सर्वसाधारणकी समझमें न आता ? भगवान् भी क्यों कहते कि कर्म और अकर्म क्या हैं, इस विषयमें बुद्धिमान् पुरुष भी मोहित हो जाते हैं—

'किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।'

(गीता ४। १६)

—और क्यों इसे गहन ही बतलाते ?

इससे यह सिद्ध होता है कि मन, वाणी, शरीरकी स्थूल क्रिया या अक्रियाका नाम ही कर्म, विकर्म या अकर्म नहीं है। कर्ताके भावोंके अनुसार कोई भी क्रिया कर्म, विकर्म और अकर्मरूपमें परिणत हो सकती है। साधारणतः तीनोंका भेद इस प्रकार समझना चाहिये।

कर्म

मन, वाणी, शरीरसे होनेवाली विधिसङ्गत उत्तम क्रियाको ही कर्म मानते हैं, पर ऐसी विधिरूप क्रिया भी कर्ताके भावोंकी

विभिन्नताके कारण कर्म, विकर्म या अकर्म बन जाती हैं। इसमें भाव ही प्रधान है, जैसे—

(१) फलकी इच्छासे शुद्ध भावनापूर्वक जो विधिसङ्गत उत्तम कर्म किया जाता है, उसका नाम कर्म है।

(२) फलकी इच्छापूर्वक बुरी नीयतसे जो यज्ञ, तप, दान, सेवा आदि रूप विधेय कर्म भी किया जाता है, वह कर्म तमोगुणप्रधान होनेसे विकर्म यानी पापकर्म हो जाता है। यथा—

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम्॥

(गीता १७।१९)

'जो तप मूढतापूर्वक हठसे मन, वाणी, शरीरकी पीड़ासहित अथवा दूसरेका अनिष्ट करनेकी नीयतसे किया जाता है, वह तामस कहा गया है।'

(३) क—फलासक्तिरहित हो भगवदर्थ या भगवदर्पण-बुद्धिसे अपना कर्तव्य समझकर जो कर्म किया जाता है (गीता ९।२७-२८; १२।१०-११) मुक्तिके अतिरिक्त अन्य फलोत्पादक न होनेके कारण उस कर्मका नाम अकर्म है। अथवा—

ख—परमात्मामें भिन्न भावसे स्थित होकर कर्तापनके अभिमानसे रहित पुरुषद्वारा जो कर्म किया जाता है वह भी

मुक्तिके अतिरिक्त अन्य फल नहीं देनेवाला होनेसे अकर्म ही है (गीता ३ । २८; ५ । ८-९; १४ । १९) ।

विकर्म

साधारणतः मन, वाणी, शरीरसे होनेवाले हिंसा, असत्य, चोरी आदि निषिद्ध कर्ममात्र ही विकर्म समझे जाते हैं, परन्तु वे भी कर्ताके भावानुसार कर्म, विकर्म या अकर्मके रूपमें बदल जाते हैं। इनमें भी भाव ही प्रधान हैं—

(१) इहलौकिक या पारलौकिक फलेच्छापूर्वक शुद्ध नीयतसे किये जानेवाले हिंसादि कर्म (जो देखनेमें विकर्म-से लगते हैं) कर्म समझे जाते हैं (गीता २ । ३७) ।

(२) बुरी नीयतसे किये जानेवाले निषिद्ध कर्म तो सभी विकर्म हैं ।

(३) आसक्ति और अहंकारसे रहित होकर शुद्ध नीयतसे कर्तव्य प्राप्त होनेपर किये जानेवाले हिंसादि कर्म (जो देखनेमें विकर्म यानी निषिद्ध कर्म-से प्रतीत होते हैं) भी फलोत्पादक न होनेके कारण अकर्म समझे जाते हैं (गीता २ । ३८; १८ । १७) ।

अकर्म

मन, वाणी, शरीरकी क्रियाके अभावका नाम ही अकर्म नहीं है । क्रिया न करनेवाले पुरुषोंके भावोंके अनुसार उनका क्रिया-त्यागरूप अकर्म भी कर्म, विकर्म और अकर्म बन सकता है । इसमें भी भाव ही प्रधान है ।

(१) मन, वाणी, शरीरकी सब क्रियाओंको त्यागकर एकान्तमें बैठा हुआ क्रियारहित साधक पुरुष जो अपनेको सम्पूर्ण क्रियाओंका त्यागी समझता है, उसके द्वारा स्वरूपसे कोई काम होता हुआ न दीखनेपर भी त्यागका अभिमान रहनेके कारण उससे वह 'त्याग' रूप कर्म होता है। यानी उसका वह त्यागरूप अकर्म भी कर्म बन जाता है।

(२) कर्तव्य प्राप्त होनेपर भय या स्वार्थके कारण, कर्तव्यकर्मसे मुँह मोड़ना, विहित कर्मोंको न करना और बुरी नीयतसे लोगोंको ठगनेके लिये कर्मोंका त्याग कर देना आदिमें भी स्वरूपसे कर्म नहीं होते, परन्तु यह अकर्म दुःखरूप फल उत्पन्न करता है, इससे इसको विकर्म या पापकर्म समझना चाहिये (३। ६; १८। ७)।

(३) परमात्माके साथ अभिन्न भावको प्राप्त हुए जिस पुरुषका कर्तृत्वाभिमान सर्वथा नष्ट हो गया है, ऐसे स्थितप्रज्ञ पुरुषके अंदर समाधिकालमें जो क्रियाका आत्यन्तिक अभाव है, वह अकर्म यथार्थ अकर्म है (२। ५५,५८; ६। १९, २५)।

उपर्युक्त विवेचनसे यह सिद्ध होता है कि कर्म, विकर्म और अकर्मका निर्णय केवल क्रियाशीलता और निष्क्रियतासे ही नहीं होता, भावोंके अनुसार ही कर्ममें अकर्म और अकर्ममें कर्म आदि हो जाते हैं। इस रहस्यको तत्त्वसे जाननेवाला ही गीताके मतसे मनुष्योंमें बुद्धिमान, योगी और सम्पूर्ण कर्मोंका करनेवाला है।

स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ।
(४ । १८)

और वही संसार-बन्धनसे सर्वथा छूटता है—

'यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥'
(४ । १६)

गीतोक्त क्षर, अक्षर और पुरुषोत्तम

सातवें अध्यायके चौथे, पाँचवें और छठे श्लोकोंमें 'अपरा', 'परा' और 'अहम्' के रूपमें जिस तत्त्वका वर्णन है, उसीका तेरहवें अध्यायके पहले और दूसरे श्लोकमें 'क्षेत्र', 'क्षेत्रज्ञ' और 'माम्' के नामसे एवं पंद्रहवें अध्यायके सोलह और सत्रहवें श्लोकमें 'क्षर', 'अक्षर' और 'पुरुषोत्तम' के नामसे है । इन तीनोंमें 'अपरा', 'क्षेत्र' और 'क्षर' प्रकृतिसहित इस जड जगत्के वाचक हैं, 'परा', 'क्षेत्रज्ञ' और 'अक्षर' जीवके वाचक हैं तथा 'अहम्', 'माम्' और 'पुरुषोत्तम' परमेश्वरके वाचक हैं ।

क्षर—प्रकृतिसहित विनाशी जड तत्त्वोंका विस्तार तेरहवें अध्यायके पाँचवें श्लोकमें है—

महाभूतान्यहङ्कारो बुद्धिरव्यक्तमेव च ।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः ॥

आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वीके सूक्ष्म भावरूप पञ्च महाभूत, अहंकार, बुद्धि, मूलप्रकृति अर्थात् त्रिगुणमयी माया (श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, रसना, घ्राण, वाणी, हस्त, पाद, उपस्थ

और गुदा) दश इन्द्रियाँ, एक मन और पञ्च ज्ञानेन्द्रियोंके (शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध) पाँच विषय इस प्रकार चौबीस क्षर तत्त्व हैं। सातवें अध्यायके चौथे श्लोकमें इन्हींका संक्षेप अष्टधा प्रकृतिके रूपमें किया गया है—

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥

और भूतोंसहित इसी प्रकृतिका और भी संक्षेप रूप पंद्रहवें अध्यायके सोलहवें श्लोकमें 'क्षरः सर्वाणि भूतानि' है। वा यों समझना चाहिये कि 'क्षरः सर्वाणि भूतानि' का विस्तार अष्टधा प्रकृति और उसका विस्तार चौबीस तत्त्व हैं। वास्तवमें तीनों एक ही वस्तु हैं। सातवें अध्यायके तीसवें और आठवें अध्यायके पहले तथा चौथे श्लोकमें 'अधिभूत' के नामसे, तेरहवें अध्यायके बीसवें श्लोकके पूर्वार्द्धमें (दस) कार्य (तेरह) करण और (एक) प्रकृतिके नामसे (कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते) एवं चौदहवें अध्यायके तीसरे और चौथे श्लोकमें 'महद्ब्रह्म' और 'मूर्तयः' शब्दोंसे भी इसी प्रकृतिसहित विनाशी जगत्‌का वर्णन किया गया है।

अक्षर—सातवें अध्यायके पाँचवें श्लोकमें 'परा प्रकृति' के नामसे, तेरहवें अध्यायके दूसरे श्लोकमें 'क्षेत्रज्ञ' के नामसे और पंद्रहवें अध्यायके सोलहवें श्लोकमें 'कूटस्थ' और 'अक्षर' के नामसे जीवका वर्णन है। यह जीवात्मा प्रकृतिसे श्रेष्ठ है, ज्ञाता है, चेतन है तथा अक्षर होनेसे नित्य है। पंद्रहवें अध्यायके सोलहवें श्लोकमें 'कूटस्थोऽक्षर उच्यते' के अनुसार जीवका विशेषण 'कूटस्थ' होनेके

कारण कुछ सज्जनोंने इसका अर्थ प्रकृति या भगवान्‌की मायाशक्ति किया है; परन्तु गीतामें 'अक्षर' और 'कूटस्थ' शब्द कहीं भी प्रकृतिके अर्थमें व्यवहृत नहीं हुए, बल्कि ये दोनों ही स्थान-स्थानमें जीवात्मा और परमात्माके वाचकरूपसे आये हैं। जैसे—

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः॥
(६।८)

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम्॥
(१२।३)

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्।
(८।२१)

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
(३।१५)

दूसरी बात यह विचारणीय है कि आगे चलकर पंद्रहवें अध्यायके अठारहवें श्लोकमें भगवान् कहते हैं कि मैं 'क्षर' से अतीत हूँ और 'अक्षर' से भी उत्तम हूँ। यदि 'अक्षर' प्रकृतिका वाचक होता तो 'क्षर' की भाँति इससे भी भगवान् अतीत ही होते, क्योंकि प्रकृतिसे तो परमात्मा अतीत हैं। भगवान्‌ने कहा है—

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्॥
दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
(७।१३-१४)

इन श्लोकोंसे सिद्ध है कि प्रकृति गुणमयी है और भगवान् गुणोंसे अतीत हैं। कहीं भी ऐसा वचन नहीं मिलता, जहाँ ईश्वरको प्रकृतिसे उत्तम बतलाया गया हो। इससे यही समझमें आता है कि यहाँ 'अक्षर' शब्द जीवका वाचक है। मायाबद्ध चेतन जीवसे शुद्ध निर्विकार परमात्मा उत्तम हो सकते हैं। अतीत नहीं हो सकते। इसलिये यहाँ अक्षरका अर्थ प्रकृति न मानकर जीव मानना ही उत्तम और युक्तियुक्त है। स्वामी श्रीधरजीने भी यही माना है।

इसी जीवात्माका वर्णन सातवें अध्यायके उनतीसवें और आठवें अध्यायके पहले तथा तीसरे श्लोकमें 'अध्यात्म' के नामसे एवं तेरहवें अध्यायके श्लोक १९, २०, २१ में 'पुरुष' शब्दसे है। वहाँ सुख-दुःखोंके भोक्ता प्रकृतिमें स्थित और सदसद्योनिमें जन्म लेनेवाला बतलानेके कारण 'पुरुष' शब्दसे 'जीवात्मा' सिद्ध है। पंद्रहवें अध्यायके सातवें श्लोकमें 'जीवभूत' नामसे और आठवेंमें 'ईश्वर' नामसे, चौदहवें अध्यायके तीसरेमें 'गर्भ' और 'बीज' के नामसे भी जीवात्माका ही कथन है। जीवात्मा चेतन है, अचल है, ध्रुव है, नित्य है, भोक्ता है, इन सब भावोंको समझानेके लिये ही भगवान्ने विभिन्न नाम और भावोंसे वर्णन किया है।

पुरुषोत्तम—यह तत्त्व परम दुर्विज्ञेय है, इसीसे भगवान्ने अनेक भावोंसे इसका वर्णन किया है। कहीं सृष्टि-पालन और संहारकर्तारूपसे, कहीं शासकरूपसे, कहीं धारणकर्ता और पोषणकर्ताके भावसे, कहीं पुरुषोत्तम, परमेश्वर, परमात्मा, अव्यय

और ईश्वर आदि नाना नामसे वर्णन है। 'अहम्', 'माम्' आदि शब्दोंसे जहाँ-तहाँ इसी परम अव्यक्त, पर, अविनाशी, नित्य, चेतन, आनन्द, बोधस्वरूपका वर्णन किया गया है। जैसे—

अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥
(७।६)

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥
(१५।१७)

अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥
(१५।१८)

—वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ॥ (१५।१५)

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
(१३।२७)

उपर्युक्त क्षर, अक्षर और पुरुषोत्तमके वर्णनमें क्षर प्रकृति तो जड और विनाशशील है। अक्षर जीवात्मा नित्य, चेतन, आनन्दरूप, प्रकृतिसे अतीत और परमात्माका अंश होनेके कारण परमात्मासे अभिन्न होते हुए भी अविद्यासे सम्बन्ध होनेके कारण भिन्न-सा प्रतीत होता है। ज्ञानके द्वारा अविद्याका सम्बन्ध नाश हो जानेपर जब वह परमात्माके साथ एकीभावको प्राप्त हो जाता है, तब उसे परमात्मासे भिन्न नहीं कहा जाता, अतएव वास्तवमें वह परमात्मासे भिन्न नहीं है। पुरुषोत्तम परमात्मा नित्यमुक्त, प्रकृतिसे सदा अतीत,

सबका महाकारण, अज, अविनाशी है। प्रकृतिके सम्बन्धसे उसे

भर्ता, भोक्ता, महेश्वर आदि नामोंसे कहते हैं। प्रकृति और समस्त कार्य परमात्मामें केवल अध्यारोपित है। वस्तुतः परमात्माके सिवा अन्य कोई वस्तु है ही नहीं। इस रहस्यका तत्त्व जाननेको ही परम पदकी प्राप्ति और मुक्ति कहा जाता है। अतः इसको जाननेके लिये विशेष प्रयत्न करना चाहिये। भगवान् कहते हैं—

तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा॥

(६।२३)

'जो दुःखरूप संसारके संयोगसे रहित है, जिसका नाम योग है उसको जानना चाहिये। वह परमात्माकी प्राप्तिरूप योग तत्परचित्तसे निश्चयपूर्वक ही करना चाहिये।'

गीता मायावाद मानती है या परिणामवाद ?

श्रीमद्भगवद्गीतामें दोनों ही वादोंके समर्थक शब्द मिलते हैं। इससे निश्चयरूपसे यह नहीं कहा जा सकता कि गीताको वास्तवमें कौन-सा वाद स्वीकार है। मेरी समझसे गीताका प्रतिपाद्य विषय कोई वादविशेषको लेकर नहीं है। सच्चिदानन्दघन सर्वशक्तिमान् परमात्माको प्राप्त करना गीताका उद्देश्य है। जिसके उपायस्वरूप कई प्रकारके मार्ग बतलाये गये हैं, जिसमें परिणामवाद और मायावाद दोनों ही आ जाते हैं। जैसे—

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके॥

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते ।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे ॥
(८ । १८-१९)

'इसलिये वे यह भी जानते हैं कि सम्पूर्ण दृश्यमात्र भूतगण ब्रह्माके दिनके प्रवेशकालमें अव्यक्तसे अर्थात् ब्रह्माके सूक्ष्म शरीरसे उत्पन्न होते हैं और ब्रह्माकी रात्रिके प्रवेशकालमें उस अव्यक्त नामक ब्रह्माके सूक्ष्म शरीरमें ही लय होते हैं । और वह ही यह भूतसमुदाय उत्पन्न हो-होकर, प्रकृतिके वशमें हुआ, रात्रिके प्रवेशकालमें लय होता है और दिनके प्रवेशकालमें फिर उत्पन्न होता है, हे अर्जुन ! इस प्रकार ब्रह्माके एक सौ वर्ष पूर्ण होनेसे अपने लोकसहित ब्रह्मा भी शान्त हो जाता है ।'

इन श्लोकोंसे यह स्पष्ट प्रकट है कि समस्त व्यक्त जड पदार्थ अव्यक्त समष्टि-शरीरसे उत्पन्न होते हैं और अन्तमें उसीमें लय हो जाते हैं । यहाँ यह नहीं कहा कि उत्पन्न या लय होते हुए-से प्रतीत होते हैं, वास्तवमें नहीं होते, परन्तु स्पष्ट उत्पन्न होना अर्थात् उस अव्यक्तका ही व्यक्तरूपमें परिणामको प्राप्त होना और दूसरा परिणाम व्यक्तसे पुनः अव्यक्तरूप होना बतलाया है । इन अव्यक्त तत्त्वोंका संघात (सूक्ष्म समष्टि) भी महाप्रलयके अन्तमें मूल अव्यक्तमें विलीन हो जाता है और उसीसे उसकी उत्पत्ति होती है । उस मूल अव्यक्त प्रकृतिको ही भगवान्‌ने चौदहवें अध्यायके श्लोक

३, ४ में 'महद्ब्रह्म' कहा है और जडवर्गके विस्तारमें इस प्रकृतिको

ही हेतु माना है। अध्याय १३। १९-२० में भी कार्यकरणरूप तेईस तत्त्वोंको ही प्रकृतिका विस्तार बतलाया है।* इससे यह सिद्ध होता है कि जो कुछ देखनेमें आता है, सो सब प्रकृतिका कार्य है। यानी प्रकृति ही परिणामको प्राप्त हुई है। जीवात्मासहित जो चतुर्विध देहोंकी उत्पत्ति होती है, वह प्रकृति

---

* आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वीरूप पाँच सूक्ष्मभूत एवं शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध ये पाँच विषय—इन दसको कार्य कहते हैं। बुद्धि, अहंकार, मन (अन्तःकरण), श्रोत्र, त्वक्, रसना, नेत्र, घ्राण (ज्ञानेन्द्रियाँ) एवं वाणी, हाथ, पैर, उपस्थ, गुदा (कर्मेन्द्रियाँ)—इन तेरहके समुदायका नाम करण है। सांख्यकारिका ३ में कहा है—'मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त। षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः ॥' मूल प्रकृति-विकृति नहीं है, महत् आदि सात प्रकृति-विकृति हैं, सोलह विकार हैं और पुरुष न प्रकृति है न विकृति।

अव्याकृत मायाका नाम मूल-प्रकृति है। वह किसीका विकार न होनेके कारण किसीकी विकृति नहीं है, ऐसा कहा जाता है। महत्तत्त्व (समष्टिबुद्धि), अहंकार, भूतोंकी सूक्ष्म पञ्च तन्मात्राएँ—ये सात प्रकृति-विकृति हैं। मूल-प्रकृतिका विकार होनेसे इनको विकृति कहते हैं एवं इनसे अन्य विकारोंकी उत्पत्ति होती है, इसीसे इन्हें ही प्रकृति भी कहते हैं, अतएव दोनों मिलाकर इनका नाम प्रकृति-विकृति है। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच, कर्मेन्द्रियाँ, एक मन और पाँच स्थूल भूत—ये सोलह विकृति हैं। सात प्रकृति-विकृति अहंकार और तन्मात्रासे इनकी उत्पत्ति होनेके कारण इन्हें विकृति कहते हैं। इनसे आगे अन्य किसीकी उत्पत्ति नहीं है, इससे ये किसीकी प्रकृति नहीं हैं, विकृति मात्र हैं। सांख्यके अनुसार मूल-प्रकृतिसे महत्तत्त्व, महत्तत्त्वसे अहङ्कार, अहङ्कारसे पञ्च तन्मात्रा, फिर अहङ्कारसे मन और दस इन्द्रियाँ तथा पञ्च तन्मात्रासे पञ्च स्थूल भूत। गीताके १३वें अध्यायके ५वें श्लोकमें भी प्रायः ऐसा ही वर्णन है।

और उस पुरुषके संयोगसे होती है । इनमें जितने देह—शरीर हैं वे सब प्रकृतिका परिणाम हैं और उन सबमें जो चेतन है सो परमेश्वरका अंश है । चेतनरूप बीज देनेवाला पिता भगवान् हैं ।

भगवान् कहते हैं—

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः ।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥

(१४।४)

'हे अर्जुन ! नाना प्रकारकी सब योनियोंमें जितनी मूर्तियाँ अर्थात् शरीर उत्पन्न होते हैं, उन सबकी त्रिगुणमयी माया तो गर्भको धारण करनेवाली माता है और मैं बीजको स्थापन करनेवाला पिता हूँ ।' गीतामें इस प्रकार समस्त प्राणियोंकी उत्पत्तिमें प्रकृतिसहित पुरुषका कथन जगह-जगह मिलता है, कहीं परमेश्वरकी अध्यक्षतासे प्रकृति उत्पन्न करती है, ऐसा कहा गया है (९।१०) तो कहीं मैं उत्पन्न करता हूँ (९।८), ऐसे वचन मिलते हैं । सिद्धान्त एक ही है ।

उपर्युक्त विवेचनसे यह सिद्ध हो जाता है कि यह सारा चराचर जगत् प्रकृतिका परिणाम है । परमेश्वर अपरिणामी है, गुणोंसे अतीत है । इस संसारके परिणाममें परमेश्वर प्रकृतिको सत्ता-स्फूर्ति प्रदान करता है, सहायता करता है; परंतु उसके परिणामसे परिणामी नहीं होता । आठवें अध्यायके बीसवें श्लोकमें यह स्पष्ट कहा है कि 'अव्यक्त प्रकृतिसे परे जो एक सनातन अव्यक्त परमात्मा है, उसका कभी नाश नहीं होता अर्थात् वह परिणामरहित एकरस

रहता है।' इसीलिये गीताने उसीका समझना यथार्थ बतलाया है जो सम्पूर्ण भूतोंके नाश होनेपर भी परमात्माको अविनाशी एकरस समझता है—

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥

(१३। २७)

इससे सिद्ध होता है कि नित्य शुद्ध बोधस्वरूप परमात्मामें कभी कोई परिवर्तन नहीं होता। वास्तवमें इस परिवर्तनशील संसारका ही परिवर्तन होता है। इस प्रकारके परिणामवादका गीतामें समर्थन किया गया है।

इसके विपरीत गीतामें ऐसे श्लोक भी बहुत हैं जिनके आधार-पर अद्वैत-मतके अनुसार व्याख्या करनेवाले विद्वान् मायावाद सिद्ध करते हैं। भगवान्‌ने कहा है—'मेरी योगमायाका आश्चर्यजनक कार्य देख, जिससे बिना ही हुआ जगत् मुझसे परिणामको प्राप्त हुआ-सा दीखता है (**न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्** ९। ५) यानी वास्तवमें संसार मुझ (परमात्मा) में है नहीं, पर दीखता है—इस न्यायसे है भी; अतः यह सब मेरी मायाका खेल है। जैसे रज्जुमें बिना ही हुए सर्प दीखता है वैसे ही बिना ही हुए अज्ञानसे संसार भी भासता है। आगे चलकर भगवान्‌ने जो यह कहा है कि 'जैसे आकाशसे उत्पन्न हुआ सर्वत्र विचरनेवाला महान् वायु सदा ही आकाशमें स्थित है, वैसे ही मेरे सङ्कल्पद्वारा उत्पत्तिवाले होनेसे सम्पूर्ण भूत मुझमें स्थित हैं, ऐसे जान।' इससे यह नहीं समझना

चाहिये कि आकाशसे उत्पन्न होकर उसीमें रहनेवाले वायुके समान संसार भगवान्‌में है । यह दृष्टान्त केवल समझानेके लिये है । सातवें अध्यायमें भगवान्‌ने कहा है कि सात्त्विक, राजस, तामस भाव मुझसे उत्पन्न होते हैं; परन्तु वास्तवमें उनमें मैं और वे मुझमें नहीं हैं (न त्वहं तेषु ते मयि ७ । १२) ।

'मेरे अतिरिक्त किञ्चिन्मात्र भी दूसरी वस्तु नहीं है' (मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनंजय ७ । ७); 'सब कुछ वासुदेव ही है' (वासुदेवः सर्वमिति ७ । १९), 'इस संसारवृक्षका जैसा स्वरूप कहा है वैसा यहाँ (विचारकालमें) पाया नहीं जाता' (न रूपमस्येह तथोपलभ्यते १५ । ३) आदि वचनोंसे मायावादकी पुष्टि होती है । एक परमात्माके अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं । जो कुछ प्रतीत होता है सो केवल मायामात्र है ।

इस तरह दोनों प्रकारके वादोंको न्यूनाधिकरूपसे समर्थन करनेवाले वचन गीतामें मिलते हैं । मेरी समझसे गीता किसी वाद-विशेषका प्रतिपादन नहीं करती, वह किसी वादके तत्त्वको समझानेके लिये अवतरित नहीं हुई, वह तो सब वादोंको समन्वय करके ईश्वर-प्राप्तिके भिन्न-भिन्न मार्ग बतलाती है । गीतामें दोनों ही वादोंके माननेवालोंके लिये पर्याप्त वचन मिलते हैं, इससे गीता सभीके लिये उपयोगी है । अपने-अपने मत और अधिकारके अनुसार गीताका अनुसरण कर भगवत्प्राप्तिके मार्गपर आरूढ़ होना चाहिये ।

गीतामें ज्ञान, योग आदि शब्दोंका पृथक्-पृथक् अर्थोंमें प्रयोग

श्रीमद्भगवद्गीतामें कई शब्द ऐसे हैं जिनका प्रसङ्गानुसार भिन्न-भिन्न अर्थोंमें प्रयोग हुआ है। उदाहरणार्थ ज्ञान, योग, योगी, युक्त, आत्मा, ब्रह्म, अव्यक्त और अक्षरके कुछ भेद प्रमाणसहित बतलाये जाते हैं। एक-एक अर्थके लिये प्रमाणमें विस्तारभयसे केवल एक ही प्रसङ्गका उदाहरण दिया जाता है। परन्तु ऐसे प्रसङ्ग प्रत्येक अर्थके लिये एकाधिक या बहुत-से मिल सकते हैं—

ज्ञान

'ज्ञान' शब्दका प्रयोग गीतामें सात अर्थोंमें हुआ है, जैसे—

(१) तत्त्वज्ञान—अ० ४। ३७-३८—इनमें ज्ञानको सम्पूर्ण कर्मोंके भस्म करनेवाले अग्निके समान और अतुलनीय पवित्र बतलाया है, जो तत्त्वज्ञान ही हो सकता है।

(२) सांख्यज्ञान—अ० ३। ३—इसमें सांख्यनिष्ठामें स्पष्ट 'ज्ञान' शब्दका प्रयोग है।

(३) परोक्षज्ञान—अ० १२। १२—इसमें ज्ञानकी अपेक्षा ध्यान और कर्म-फल-त्यागको श्रेष्ठ बतलाया है, इससे यह ज्ञान तत्त्वज्ञान न होकर, परोक्षज्ञान है।

(४) साधनज्ञान—अ० १३। ११—यह ज्ञान तत्त्वज्ञानके अर्थरूप परमात्माकी प्राप्तिमें हेतु है, इससे साधनज्ञान है।

(५) विवेकज्ञान—अ० १४ । १७—यह सत्त्वगुणसे उत्पन्न होनेवाला है, इससे विवेकज्ञान है ।

(६) लौकिक ज्ञान—अ० १८ । २१—इस ज्ञानसे मनुष्य सब प्राणियोंमें भिन्न-भिन्न भाव देखता है, इसलिये यह राजस या लौकिक ज्ञान है ।

(७) शास्त्रज्ञान—अ० १८ । ४२—इसमें विज्ञान शब्द साथ रहने और ब्राह्मणका स्वाभाविक धर्म होनेके कारण यह शास्त्रज्ञान है ।

योग

'योग' शब्दका प्रयोग सात अर्थोंमें हुआ है, जैसे—

(१) भगवत्-प्राप्तिरूप योग-अ० ६ । २३—इसके पूर्व श्लोकमें परमानन्दकी प्राप्ति और इसमें दुःखोंका अत्यन्त अभाव बतलाया गया है, इससे यह योग परमात्माकी प्राप्तिका वाचक है ।

(२) ध्यानयोग—अ० ६ । १९—वायुरहित स्थानमें स्थित दीपककी ज्योतिके समान चित्तकी अत्यन्त स्थिरता होनेके कारण यह ध्यानयोग है ।

(३) निष्काम कर्मयोग—अ० २ । ४८—'योग'में स्थित होकर आसक्तिरहित हो तथा सिद्धि-असिद्धिमें समानबुद्धि होकर कर्मोंके करनेकी आज्ञा होनेसे यह निष्काम कर्मयोग है ।

(४) भगवत्-शक्तिरूप योग—अ० ९ । ५—इसमें आश्चर्यजनक प्रभाव दिखलानेका कारण होनेसे यह शक्तिका वाचक है ।

(५) भक्तियोग—अ० १४ । २६—निरन्तर अव्यभिचाररूपसे

गीतामें ज्ञान, योग आदि शब्दोंका पृथक्-पृथक् अर्थोंमें प्रयोग

श्रीमद्भगवद्गीतामें कई शब्द ऐसे हैं जिनका प्रसङ्गानुसार भिन्न-भिन्न अर्थोंमें प्रयोग हुआ है। उदाहरणार्थ ज्ञान, योग, योगी, युक्त, आत्मा, ब्रह्म, अव्यक्त और अक्षरके कुछ भेद प्रमाणसहित बतलाये जाते हैं। एक-एक अर्थके लिये प्रमाणमें विस्तारभयसे केवल एक ही प्रसङ्गका उदाहरण दिया जाता है। परन्तु ऐसे प्रसङ्ग प्रत्येक अर्थके लिये एकाधिक या बहुत-से मिल सकते हैं—

ज्ञान

'ज्ञान' शब्दका प्रयोग गीतामें सात अर्थोंमें हुआ है, जैसे—

(१) तत्त्वज्ञान—अ० ४ । ३७-३८—इनमें ज्ञानको सम्पूर्ण कर्मोंको भस्म करनेवाले अग्निके समान और अतुलनीय पवित्र बतलाया है, जो तत्त्वज्ञान ही हो सकता है।

(२) सांख्यज्ञान—अ० ३ । ३—इसमें सांख्यनिष्ठामें स्पष्ट 'ज्ञान' शब्दका प्रयोग है।

(३) परोक्षज्ञान—अ० १२ । १२—इसमें ज्ञानकी अपेक्षा ध्यान और कर्म-फल-त्यागको श्रेष्ठ बतलाया है, इससे यह ज्ञान तत्त्वज्ञान न होकर, परोक्षज्ञान है।

(४) साधनज्ञान—अ० १३ । ११—यह ज्ञान तत्त्वज्ञानके अर्थरूप परमात्माकी प्राप्तिमें हेतु है, इससे साधनज्ञान है।

(५) विवेकज्ञान—अ० १४ । १७—यह सत्त्वगुणसे उत्पन्न होनेवाला है, इससे विवेकज्ञान है।

(६) लौकिक ज्ञान—अ० १८ । २१—इस ज्ञानसे मनुष्य सब प्राणियोंमें भिन्न-भिन्न भाव देखता है, इसलिये यह राजस या लौकिक ज्ञान है।

(७) शास्त्रज्ञान—अ० १८ । ४२—इसमें विज्ञान शब्द साथ रहने और ब्राह्मणका स्वाभाविक धर्म होनेके कारण यह शास्त्रज्ञान है।

योग

'योग' शब्दका प्रयोग सात अर्थोंमें हुआ है, जैसे—

(१) भगवत्-प्राप्तिरूप योग-अ० ६ । २३—इसके पूर्व श्लोकमें परमानन्दकी प्राप्ति और इसमें दुःखोंका अत्यन्त अभाव बतलाया गया है, इससे यह योग परमात्माकी प्राप्तिका वाचक है।

(२) ध्यानयोग—अ० ६ । १९—वायुरहित स्थानमें स्थित दीपककी ज्योतिके समान चित्तकी अत्यन्त स्थिरता होनेके कारण यह ध्यानयोग है।

(३) निष्काम कर्मयोग—अ० २ । ४८—'योग'में स्थित होकर आसक्तिरहित हो तथा सिद्धि-असिद्धिमें समानबुद्धि होकर कर्मोंके करनेकी आज्ञा होनेसे यह निष्काम कर्मयोग है।

(४) भगवत्-शक्तिरूप योग—अ० ९ । ५—इसमें आश्चर्यजनक प्रभाव दिखलानेका कारण होनेसे यह शक्तिका वाचक है।

(५) भक्तियोग—अ० १४ । २६—निरन्तर अव्यभिचाररूपसे

भजन करनेका उल्लेख होनेसे यह भक्तियोग है । इसमें स्पष्ट 'भक्ति-योग' शब्द है ।

(६) अष्टाङ्गयोग—अ० ८ । १२—धारणा शब्द साथ होने तथा मन-इन्द्रियोंके संयम करनेका उल्लेख होनेके साथ ही मस्तकमें प्राण चढ़ानेका उल्लेख होनेसे यह अष्टाङ्गयोग है ।

(७) सांख्ययोग-अ० १३ । २४—इसमें सांख्ययोगका स्पष्ट शब्दोंमें उल्लेख है ।

योगी

'योगी' शब्दका प्रयोग नौ अर्थोंमें हुआ है, जैसे—

(१) ईश्वर—अ० १० । १७—भगवान् श्रीकृष्णका सम्बोधन होनेसे ईश्वरवाचक है ।

(२) आत्मज्ञानी—अ० ६ । ८—ज्ञान-विज्ञानमें तृप्त और स्वर्ण-मिट्टी आदिमें समतायुक्त होनेसे आत्मज्ञानीका वाचक है ।

(३) ज्ञानी भक्त—अ० १२ । १४—परमात्मामें मन-बुद्धि लगानेवाला होने तथा 'मद्भक्त' का विशेषण होनेसे ज्ञानी भक्तका वाचक है ।

(४) निष्काम कर्मयोगी—अ० ५ । ११—आसक्तिको त्यागकर आत्मशुद्धिके लिये कर्म करनेका कथन होनेसे निष्काम कर्मयोगीका वाचक है ।

(५) सांख्ययोगी—अ० ५ । २४—अभेदरूपसे ब्रह्मकी प्राप्ति इसका फल होनेके कारण यह सांख्ययोगीका वाचक है ।

*

(६) भक्त——अ० ८ । १४—अनन्यचित्तसे नित्य-निरन्तर भगवान्‌के स्मरणका उल्लेख होनेसे यह भक्तका वाचक है ।

(७) साधकयोगी—अ० ६ । ४५—अनेकजन्मसंसिद्ध होनेके अनन्तर ज्ञानकी प्राप्तिका उल्लेख है, इससे यह साधकयोगीका वाचक है ।

(८) ध्यानयोगी—अ० ६ । १०—एकान्त स्थानमें स्थित होकर मनको एकाग्र करके आत्माको परमात्मामें लगानेकी प्रेरणा होनेसे यह ध्यानयोगीका वाचक है ।

(९) सकाम कर्मयोगी—अ० ८ । २५—वापस लौटनेवाला होनेसे यह सकाम कर्मयोगीका वाचक है ।

युक्त

'युक्त' शब्दका प्रयोग सात अर्थोंमें हुआ है, जैसे—

(१) तत्त्वज्ञानी—अ० ६ । ८—ज्ञान-विज्ञानसे तृप्तात्मा होनेसे यह तत्त्वज्ञानीका वाचक है ।

(२) निष्काम कर्मयोगी—अ० ५ । १२—कर्मोंका फल परमेश्वरके अर्पण करनेवाला होनेसे यह निष्काम कर्मयोगीका वाचक है ।

(३) सांख्ययोगी—अ० ५ । ८—सब क्रियाओंके होते रहनेपर कर्तापनके अभिमानका न रहना बतलाया जानेके कारण सांख्ययोगीका वाचक है ।

(४) ध्यानयोगी—अ० ६ । १८—वशमें किया हुआ चित्त

भजन करनेका उल्लेख होनेसे यह भक्तियोग है। इसमें स्पष्ट 'भक्ति-योग' शब्द है।

(६) अष्टाङ्गयोग—अ० ८। १२—धारणा शब्द साथ होने तथा मन-इन्द्रियोंके संयम करनेका उल्लेख होनेके साथ ही मस्तकमें प्राण चढ़ानेका उल्लेख होनेसे यह अष्टाङ्गयोग है।

(७) सांख्ययोग-अ० १३। २४—इसमें सांख्ययोगका स्पष्ट शब्दोंमें उल्लेख है।

योगी

'योगी' शब्दका प्रयोग नौ अर्थोंमें हुआ है, जैसे—

(१) ईश्वर—अ० १०। १७—भगवान् श्रीकृष्णका सम्बोधन होनेसे ईश्वरवाचक है।

(२) आत्मज्ञानी—अ० ६। ८—ज्ञान-विज्ञानमें तृप्त और स्वर्ण-मिट्टी आदिमें समतायुक्त होनेसे आत्मज्ञानीका वाचक है।

(३) ज्ञानी भक्त—अ० १२। १४—परमात्मामें मन-बुद्धि लगानेवाला होने तथा 'मद्भक्त' का विशेषण होनेसे ज्ञानी भक्तका वाचक है।

(४) निष्काम कर्मयोगी—अ० ५। ११—आसक्तिको त्याग-कर आत्मशुद्धिके लिये कर्म करनेका कथन होनेसे निष्काम कर्म-योगीका वाचक है।

(५) सांख्ययोगी—अ० ५। २४—अभेदरूपसे ब्रह्मकी प्राप्ति इसका फल होनेके कारण यह सांख्ययोगीका वाचक है।

*

(६) भक्त—अ० ८ । १४—अनन्यचित्तसे नित्य-निरन्तर भगवान्‌के स्मरणका उल्लेख होनेसे यह भक्तका वाचक है ।

(७) साधकयोगी—अ० ६ । ४५—अनेकजन्मसंसिद्ध होनेके अनन्तर ज्ञानकी प्राप्तिका उल्लेख है, इससे यह साधकयोगीका वाचक है ।

(८) ध्यानयोगी—अ० ६ । १०—एकान्त स्थानमें स्थित होकर मनको एकाग्र करके आत्माको परमात्मामें लगानेकी प्रेरणा होनेसे यह ध्यानयोगीका वाचक है ।

(९) सकाम कर्मयोगी—अ० ८ । २५—वापस लौटनेवाला होनेसे यह सकाम कर्मयोगीका वाचक है ।

युक्त

'युक्त' शब्दका प्रयोग सात अर्थोंमें हुआ है, जैसे—

(१) तत्त्वज्ञानी—अ० ६ । ८—ज्ञान-विज्ञानसे तृप्तात्मा होनेसे यह तत्त्वज्ञानीका वाचक है ।

(२) निष्काम कर्मयोगी—अ० ५ । १२—कर्मोंका फल परमेश्वरके अर्पण करनेवाला होनेसे यह निष्काम कर्मयोगीका वाचक है ।

(३) सांख्ययोगी—अ० ५ । ८—सब क्रियाओंके होते रहनेपर कर्तापनके अभिमानका न रहना बतलाया जानेके कारण सांख्ययोगीका वाचक है ।

(४) ध्यानयोगी—अ० ६ । १८—वशमें किया हुआ चित्त

परमात्मामें स्थित हो जानेका उल्लेख होनेसे यह ध्यानयोगीका वाचक है।

(५) संयमी—अ० २। ६१—समस्त इन्द्रियोंका संयम करके परमात्म-परायण होनेसे यह संयमीका वाचक है।

(६) संयोगसूचक—अ० ७। २२—श्रद्धाके साथ संयोग बतानेवाला होनेसे यह संयोगसूचक है।

(७) यथायोग्य व्यवहार—अ० ६। १७—यथायोग्य आहार, विहार, शयन और चेष्टा आदि लक्षणवाला होनेसे यह यथायोग्य व्यवहारका वाचक है।

आत्मा

'आत्मा' शब्दका प्रयोग ग्यारह अर्थोंमें हुआ है, जैसे—

(१) परमात्मा—अ० ३। १७—ज्ञानीकी उसीमें प्रीति, उसीमें तृप्ति और उसीमें संतुष्टि होनेके कारण परमात्माका वाचक है।

(२) ईश्वर—अ० १०। २०—सब भूतोंके हृदयमें स्थित होनेसे ईश्वरका वाचक है।

(३) शुद्ध चेतन—अ० १३। २९—अकर्ता होनेसे शुद्ध चेतनका वाचक है।

(४) स्वरूप—अ० ७। १८—ज्ञानीको अपना आत्मा बतलानेके कारण वह स्वरूप ही समझा जाता है। इससे स्वरूपका वाचक है।

(५) परमेश्वरका सगुण स्वरूप—अ० ४। ७—अवताररूपसे प्रकट होनेका उल्लेख रहनेसे सगुण-स्वरूपका वाचक है।

(६) जीवात्मा—अ० १६ । २१—अधोगतिमें जानेका वर्णन होनेसे जीवात्माका वाचक है ।

(७) बुद्धि—अ० १३ । २४—(आत्मना) ध्यानके द्वारा हृदयमें परमात्माको देखनेका वर्णन है, यह देखना बुद्धिसे ही होता है । अतः यह बुद्धिका वाचक है ।

(८) अन्तःकरण—अ० १८ । ५१—इसमें 'आत्मानं नियम्य' यानी आत्माको वशमें करनेका उल्लेख होनेसे यह अन्तःकरणका वाचक है ।

(९) हृदय—अ० १५ । ११—इसमें 'यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम्' 'योगीजन' अपने आत्मामें स्थित हुए इस आत्माको यत्न करते हुए ही तत्त्वसे जानते हैं । आत्मा हृदयमें स्थित होता है, अतः यहाँ यह (आत्मनि) हृदयका वाचक है ।

(१०) शरीर—अ० ६ । ३२—'आत्मौपम्येन' अपनी सादृश्यतासे लक्षित होनेके कारण यहाँ आत्मा शरीरका वाचक है ।

(११) निजवाचक—अ० ६ । ५—आत्मा ही आत्माका मित्र और आत्मा ही आत्माका शत्रु है, ऐसा उल्लेख रहनेसे यह निजवाचक है !

ब्रह्म

'ब्रह्म' शब्दका प्रयोग सात अर्थोंमें हुआ है, जैसे—

(१) परमात्मा—अ० ७ । २९—भगवान्के शरण होकर जरा-मरणसे छूटनेके लिये यत्न करनेवाले ब्रह्मको जानते हैं, ऐसा कथन होनेसे यहाँ परमात्माका वाचक है ।

(२) ईश्वर—अ० ५। १०—सब कर्म ब्रह्ममें अर्पण करनेका उल्लेख होनेसे यह ईश्वरका वाचक है।

(३) प्रकृति—अ० १४ । ४—महत् विशेषण होनेसे प्रकृतिका वाचक है।

(४) ब्रह्मा--अ० ८ । १७—कालकी अवधिवाला होनेसे यहाँ 'ब्रह्म' शब्द ब्रह्माका वाचक है।

(५) ओंकार—अ० ८ । १३—'एकाक्षर' विशेषण होने और उच्चारण किये जानेवाला होनेसे यहाँ ब्रह्म शब्द ओंकारका वाचक है।

(६) वेद—अ० ३ । १५—(पूर्वार्ध) कर्मकी उत्पत्तिका कारण होनेसे वेदका वाचक है।

(७) परमधाम—अ० ८। २४—शुक्ल-मार्गसे प्राप्त होनेवाला होनेसे परमधामका वाचक है।

अव्यक्त

'अव्यक्त' शब्दका प्रयोग चार अर्थोंमें हुआ है, जैसे—

(१) परमात्मा—अ० १२ । १—अक्षर विशेषण होनेसे परमात्माका वाचक है।

(२) शुद्ध चेतन--अ० २ । २५—स्पष्ट है।

(३) प्रकृति--अ० १३ । ५—स्पष्ट है।

(४) ब्रह्मका सूक्ष्मशरीर—अ० ८ । १८—स्पष्ट है।

अक्षर

'अक्षर' शब्दका प्रयोग चार अर्थोंमें हुआ है, जैसे—

(१) परमात्मा—अ० ८ । ३—ब्रह्मका विशेषण होनेसे परमात्माका वाचक है ।

(२) जीवात्मा—अ० १५ । १६—कूटस्थ विशेषण होने और अगले श्लोकमें उत्तम पुरुष परमात्माका अन्यरूपसे उल्लेख होनेसे यह जीवात्माका वाचक है ।

(३) ओंकार—अ० ८ । १३—स्पष्ट है ।

(४) वर्ण—अ० १० । ३३—स्पष्ट है ।

श्रीमद्भगवद्गीताका प्रभाव

गीता ज्ञानका अथाह समुद्र है—इसके अंदर ज्ञानका अनन्त भण्डार भरा पड़ा है । इसका तत्त्व समझानेमें बड़े-बड़े दिग्गज विद्वान् और तत्त्वालोचक महात्माओंकी वाणी भी कुण्ठित हो जाती है । क्योंकि इसका पूर्ण रहस्य भगवान् श्रीकृष्ण ही जानते हैं । उनके बाद कहीं इसके संकलनकर्ता व्यासजी और श्रोता अर्जुनका नंबर आता है । ऐसी अगाध रहस्यमयी गीताका आशय और महत्त्व समझना मेरे लिये ठीक वैसा ही है जैसा एक साधारण पक्षीका अनन्त आकाशका पता लगानेके लिये प्रयत्न करना । गीता अनन्त भावोंका अथाह समुद्र है । रत्नाकरमें गहरा गोता लगानेपर जैसे रत्नोंकी प्राप्ति होती है, वैसे ही इस गीता-सागरमें गहरी डुबकी

लगानेसे जिज्ञासुओंको नित्य नूतन विलक्षण भाव-रत्नराशिकी उपलब्धि होती है ।

गीता सर्वशास्त्रमयी है—यह सब उपनिषदोंका सार है । सूत्रोंमें जैसे विशेष भावोंका समावेश रहता है, उससे भी कहीं बढ़कर भावोंका भण्डार इसके श्लोकोंमें भरा पड़ा है । इसके श्लोकोंको श्लोक नहीं, मन्त्र कहना चाहिये । भगवान्‌के मुखसे कहे जानेके कारण वस्तुतः मन्त्रोंसे भी बढ़कर ये परम मन्त्र हैं । इतनेपर भी ये श्लोक क्यों कहे जाते हैं ? इसलिये कि वेद-मन्त्रोंसे जैसे स्त्री और शूद्रादि वञ्चित रह जाते हैं, कहीं वैसे ही वे बेचारे इस अनुपम गीताशास्त्रसे भी वञ्चित न रह जायँ । योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्णने सब जीवोंके कल्याणार्थ अर्जुनके बहाने इस तात्त्विक ग्रन्थ-रत्नको संसारमें प्रकट किया है ? इससे प्रचारककी प्रशंसा करते हुए भगवान्‌ने, चाहे वे कोई हों, भक्तोंमें इसके प्रचारकी स्पष्ट आज्ञा दी है—

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति ।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥
न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः ।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ॥

(गीता १८ । ६८-६९)

'जो पुरुष मुझमें परम प्रेम करके इस परम रहस्यमय गीताशास्त्र-को मेरे भक्तोंमें कहेगा, वह निःसंदेह मुझको ही प्राप्त होगा । न तो उससे बढ़कर मेरा अतिशय प्रिय कार्य करनेवाला मनुष्योंमें

कोई है और न उससे बढ़कर मेरा अत्यन्त प्रिय पृथिवीमें दूसरा कोई होवेगा ।'

गीताका प्रचार-क्षेत्र संकीर्ण और शिथिल नहीं है । भगवान् यह नहीं कहते कि अमुक जाति, वर्णाश्रम अथवा देश-विदेशमें ही इसका प्रचार किया जाना चाहिये । भक्त होनेपर चाहे मुसल्मान हो, चाहे ईसाई, ब्राह्मण हो या शूद्र सभी इसके अधिकारी हैं, परंतु भगवान् यह अवश्य कहते हैं—

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन ।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ॥
(गीता १८ । ६७)

'तेरे हितार्थ कहे हुए इस गीतारूप—परम रहस्यको किसी कालमें भी न तो तपरहित मनुष्यके प्रति कहना चाहिये और न भक्तिरहितके प्रति तथा न बिना सुननेकी इच्छावालेके ही प्रति और जो मेरी निन्दा करता है उसके प्रति भी नहीं कहना चाहिये ।' यह निषेध भी ठीक है, ब्राह्मण होनेपर भी यदि वह अभक्त है तो इसका अधिकारी नहीं है । शूद्र भी भक्त हो तो इसका अधिकारी है । जाति-पाँति और नीच-ऊँचका इसमें कोई बन्धन नहीं । अनधिकारियोंके लिये और भी तो विशेषण कहे गये हैं ? यह ठीक है । जब भक्तोंके लिये खुली आज्ञा है तो जो भक्त होता है वह निन्दा नहीं कर सकता; भक्तको अपने भगवान्के अमृतवचन सुननेकी उत्कण्ठा रहती ही है । अपने प्रियतमकी बातको न सुननेका तो प्रेमी भक्तके सामने कोई प्रश्न

ही नहीं है। ईश्वरकी भक्ति होनेपर तप तो उसमें आ ही गया, अतः इससे यह सिद्ध हुआ कि चाहे कोई भी मनुष्य हो भगवान् श्रीकृष्णका भक्त होनेपर वह गीताका अधिकारी है। इसके प्रत्येक श्लोकको मन्त्र या सूत्र कुछ भी मानकर जितना भी इसे महत्त्व दिया जाय उतना ही थोड़ा है। मक्खन जैसे दूधका सार है वैसे ही गीता सब उपनिषदोंका निचोड़ है। इसीलिये व्यासजीने कहा है कि—

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत् ॥

'सम्पूर्ण उपनिषद् गौ हैं, दुहनेवाले गोपालनन्दन श्रीकृष्ण हैं, अर्जुन बछड़ा है, श्रेष्ठ बुद्धिवाला पुरुष इस गीतामृतरूपी दूधको पान करनेवाला है।'

इस प्रकारका गीताका ज्ञान हो जानेपर मनुष्यको किसी दूसरे ज्ञानकी आवश्यकता नहीं रहती। इसमें सब शास्त्रोंका पर्यवसान है। गहरा गोता लगानेपर इसमें अनेक अनोखे रत्नोंकी प्राप्ति होती है। अधिक मननसे ज्ञानका भण्डार खुल जाता है। इसीसे कहा गया है कि—

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता ॥

(महा० भीष्म० ४३। १)

गीता भगवान्का स्वरूप है, श्वास है—भाव है। इस श्लोकके 'पद्मनाभ' और 'मुखपद्म' शब्दोंमें बड़ा विलक्षण भाव भरा पड़ा है।

इनके पारस्परिक अन्तर और रहस्यपर भी ध्यान देना चाहिये। भगवान् 'पद्मनाभ' कहलाते हैं, क्योंकि उनकी नाभिसे कमल निकला और उस कमलसे ब्रह्माकी उत्पत्ति हुई। इन्हीं ब्रह्माजीके मुखसे चारों वेद कहे गये हैं और उन वेदोंका ही विस्तार सब शास्त्रोंमें किया गया है। अब गीताकी उत्पत्तिपर विचार कीजिये। वह स्वयं परमात्माके मुख-कमलसे निकली है, अतः गीता भगवान्‌का हृदय है, इसीलिये यह मानना पड़ता है कि सर्व शास्त्र गीताके पेटमें समाये हुए हैं। जिसने केवल गीताका ही सम्यक् अभ्यास कर लिया, उसे अन्य शास्त्रोंके विस्तारकी आवश्यकता ही क्या है? उसके कल्याणके लिये तो गीताका एक ही श्लोक पर्याप्त है।

अब 'सुगीता' के अर्थपर विचार करना चाहिये। यह ठीक है कि गीताका केवल पाठ करनेवालेका भी कल्याण हो सकता है, क्योंकि भगवान् ने प्रतिज्ञा की है कि—

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः॥

(गीता १८। ७०)

पर त्रुटि इतनी ही है कि वह उसके तत्त्वको नहीं जानता। इससे उत्तम वह है जो इसका पाठ अर्थ और भावोंको समझकर श्रद्धा-भक्तिपूर्वक करता है। इस प्रकार एक श्लोकका भी पाठ करनेवाला उससे बढ़कर माना जायगा। इस हिसाबसे गीताका पाठ यद्यपि प्रायः दो वर्षोंमें समाप्त होगा, पर उसके ७०० श्लोकोंके केवल नित्यपाठके फलसे भी इसका फल विशेष ही रहेगा। इस प्रकार अर्थ और भावको समझकर गीताका अभ्यास

करनेवाले भी वह उत्तम माना जायगा जो उसके अनुसार अपने जीवनको बना रहा है। चाहे यह व्यक्ति दो वर्षोंमें केवल एक ही श्लोकको काममें लाता है पर इस प्रकार परमात्म-प्राप्तिके साधन-वाले श्लोकोंमेंसे किसी एकको धारण करनेवाला सर्वोत्तम है। एक पुरुष तो लाखों श्लोकोंका पाठ कर गया, दूसरा सात सौका और तीसरा केवल एकहीका। पर हमें यह मानना पड़ेगा कि केवल एक ही श्लोकको आचरणमें लानेवाला मनुष्य लाखोंका पाठमात्र करने-वालेकी अपेक्षा श्रेष्ठ है। इस प्रकार गीताके सम्पूर्ण श्लोकोंका अध्ययन करके जो उन्हें पूर्णतया जीवनमें कार्यान्वित कर लेता है, उसीका 'गीता-सुगीता' कर लेना है। गीताके अनुसार इस प्रकार चलनेवाला ज्ञानी तो गीताकी चैतन्य मूर्ति है।

अब यदि यह पूछा जाय कि गीतामें ऐसे कौन-से श्लोक हैं जिनमें-से केवल एकको ही काममें लानेपर मनुष्यका कल्याण हो जाय, इसका ठीक-ठीक निश्चय करना बहुत ही कठिन है; क्योंकि गीताके प्रायः सभी श्लोक ज्ञानपूर्ण और कल्याणकारक हैं। फिर भी सम्पूर्ण गीतामें एक तिहाई श्लोक तो ऐसे दीखते हैं कि जिनमेंसे एकको भी भलीभाँति समझकर काममें लानेसे अर्थात् उसके अनुसार आचरण बनानेसे मनुष्य परमपदको प्राप्त कर सकता है। उन श्लोकोंकी पूर्ण संख्या विस्तारभयसे न देकर पाठकोंकी जानकारीके लिये कतिपय श्लोकोंकी संख्या नीचे लिखी जाती है—

अ० २ श्लोक २०, ७१; अ० ३ श्लोक १७–३०; अ० ४ श्लोक १०–२७; अ० ५ श्लोक १०, १७, १८, २९; अ० ६

श्लोक १४, ३०, ३१, ४७; अ० ७, श्लोक ७, १४, १९; अ० ८ श्लोक ७, १४, २२; अ० ९ श्लोक २६, २९, ३२, ३४; अ० १० श्लोक ९, ४२; अ० ११ श्लोक ५४, ५५; अ० १२ श्लोक २, ८, १३, १४; अ० १३ श्लोक १५, २४, २५, ३०; अ० १४ श्लोक १९, २६; अ० १५ श्लोक ५, १५; अ० १६ श्लोक १; अ० १७ श्लोक १६ और अ० १८ श्लोक ४६, ५६, ५७, ६२, ६५, ६६ ।

इस प्रकार उपर्युक्त श्लोकोंमेंसे एक श्लोकको भी अच्छी तरह काममें लानेवाला पुरुष मुक्त हो सकता है । जो सम्पूर्ण गीताको अर्थ और भावसहित समझकर श्रद्धा-प्रेमसे अध्ययन करता हुआ उसके अनुसार चलता है उसके तो रोम-रोममें गीता ठीक उसी प्रकार रम जाती हैं, जैसे परम भागवत श्रीहनुमान्‌जीके रोम-रोममें 'राम' रम गये थे । जिस समय वह पुरुष श्रद्धा और प्रेमसे गीताका पाठ करता है, उस समय ऐसा प्रतीत होता है कि मानो उसके रोम-रोमसे गीताका सुमधुर संगीत-स्वर प्रतिध्वनित हो रहा है ।

गीताका विषय-विभाग

गीताका विषय बड़ा ही गहन और रहस्यपूर्ण है । साधारण पुरुषोंकी तो बात ही क्या, इसमें बड़े-बड़े विद्वान् भी मोहित हो जाते हैं । कोई-कोई तो अपने आशयके अनुसार ही इसका अर्थ कर लेते हैं । उन्हें अपने मतके अनुसार इसमें मसाला भी मिल जाता है । क्योंकि इसमें कर्म, उपासना, ज्ञान सभी विषयोंका समावेश है और जहाँ जिस विषयका वर्णन आया है वहाँ उसकी भगवान्‌ने वास्तविक प्रशंसा की है । अतः अपने-अपने मतको पुष्ट करनेके लिये इसमें सभी

विद्वानोंको अपने अनुकूल सामग्री मिल ही जाती है। इसलिये ये अपने सिद्धान्तके अनुसार मोमकी नाककी तरह खींचातानी करके इसे अपने मतकी ओर ले जाते हैं। जो अद्वैतवादी (एक ब्रह्मको माननेवाले) हैं, वे गीताके प्रायः सभी श्लोकोंको अभेदकी तरफ, द्वैतवादी द्वैतकी तरफ और कर्मयोगी कर्मकी तरफ ही ले जानेकी चेष्टा करते हैं अर्थात् ज्ञानियोंको यह गीता-शास्त्र ज्ञानका, भक्तोंको भक्तियोगका और कर्मयोगियोंको कर्मका प्रतिपादक प्रतीत होता है। भगवान्‌ने बड़ी गम्भीरताके साथ अर्जुनके प्रति इस रहस्यमय ग्रन्थका उपदेश किया, जिसे देखकर प्रायः सभी संसारके मनुष्य इसे अपनाते और अपनी ओर खींचते हुए कहते हैं कि हमारे विषयका प्रतिपादन इसमें किया गया है। परंतु भगवान्‌ने द्वैत, अद्वैत या विशिष्टाद्वैत आदि किसी वादको या किसी धर्म-सम्प्रदाय, जाति अथवा देशविशेषको लक्ष्यमें रखकर इसकी रचना नहीं की। इसमें न तो किसी धर्मकी निन्दा और न किसीकी पुष्टि ही की गयी है। यह एक स्वतन्त्र ग्रन्थ है और भगवान्‌द्वारा कथित होनेसे इसे स्वतः प्रामाणिक मानना चाहिये। इसे दूसरे शास्त्रके प्रमाणोंकी आवश्यकता नहीं है—यह तो स्वयं दूसरोंके लिये प्रमाणस्वरूप है। अस्तु।

कोई-कोई आचार्य कहते हैं कि इसके प्रथम छः अध्यायोंमें कर्मका, द्वितीय षट्कमें उपासनाका और तृतीयमें ज्ञानका विषय वर्णित है। उनका यह कथन किसी अंशमें माना जा सकता है, पर वास्तवमें ध्यानपूर्वक देखनेसे यह पता लग सकेगा कि द्वितीय अध्यायसे अठारहवें अध्यायतक सभी अध्यायोंमें न्यूनाधिक रूपमें कर्म, उपासना और ज्ञान-

विषयका प्रतिपादन किया गया है। अतः गम्भीर विचारके बाद इसका विभाग इस प्रकार किया जाना उचित है—

प्रथम अध्यायमें तो मोह और स्नेहके कारण अर्जुनके शोक और विषादका वर्णन होनेसे इसका नाम अर्जुन-विषादयोग पड़ा। इसमें कर्म, उपासना और ज्ञानके उपदेशका विषय नहीं है। इस अध्यायका उद्देश्य अर्जुनको उपदेशका अधिकारी सिद्ध करना ही है। द्वितीय अध्यायमें सांख्य और निष्काम कर्मयोग-विषयका वर्णन है। प्रधानतया अ० २ श्लोक ४९ से अ० ६ श्लोक ४ तक भगवान्‌ने विस्तारपूर्वक निष्काम कर्मयोगके विषयका अनेक प्रकारकी युक्तियोंसे वर्णन किया है। भक्ति और ज्ञानका विषय भी प्रसंगवश आ गया है, जैसे अ० ५ श्लोक १३ से २६ तक ज्ञान और अ० ४ श्लोक ६ से ११ तक भक्ति। शेष छठे अध्यायमें ध्यानयोगका प्रतिपादन किया गया है। दूसरे शब्दोंमें हम इसे मनके संयमका विषय कह सकते हैं। इसीलिये इसका नाम आत्मसंयमयोग रक्खा गया है। अध्याय ७ से १२ तक तत्त्व और प्रभावके सहित भगवान्‌की भक्तिका रहस्य अनेक प्रकारकी युक्तियोंद्वारा समझाया गया है। इसीसे भक्तिके साथ भगवान्‌ने ज्ञान-विज्ञान आदि शब्दोंका प्रयोग किया है। इन छः अध्यायोंके षट्कको भक्तियोग या उपासना-काण्ड-पद दिया जा सकता है। अध्याय १३ और १४में तो मुख्यतया ज्ञानयोगका ही प्रतिपादन किया गया है। १५ वें अध्यायमें भगवान्‌के रहस्य और प्रभावसहित भक्तियोगका वर्णन है। १६ वें अध्यायमें दैवी और आसुरी सम्पदावाले पुरुषोंके लक्षण अर्थात् श्रेष्ठ और नीच पुरुषोंके आचरणका उल्लेख किया गया है। इसके द्वारा मनुष्यको विधि-निषेधका बोध होता है, अतः इसे ज्ञानयोग-

प्रतिपादक किसी अंशमें मान लेनेमें कोई आपत्ति नहीं है। १७ वें अध्यायमें श्रद्धाका तत्त्व समझानेके लिये प्रायः निष्काम कर्मयोग-बुद्धिसे यज्ञ, दान और तपादि कर्मोंका विभाग किया गया है, अतः इसे निष्काम कर्मयोग-विषयका ही अध्याय समझना चाहिये। १८ वेंमें उपसंहाररूपसे भगवान्‌ने सभी विषयोंका वर्णन किया है। जैसे श्लोक १ से १२ और ४१ से ४८ तक कर्मयोग, १३ से ४० और ४९ से ५५ तक ज्ञानयोग तथा ५६ से ६६ तक कर्मसहित भक्तियोग।

गीतोपदेशका आरम्भ और पर्यवसान

गीताके मुख्य उपदेशका आरम्भ 'अशोच्यानन्वशोचस्त्वम्' आदि श्लोकसे हुआ है। इसीसे लोग इसे गीताका बीज कहते हैं, परंतु 'कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः' (२।७) आदि श्लोक भी बीज कहा गया है; क्योंकि अर्जुनके भगवत्-शरण होनेके कारण ही भगवान्-द्वारा यह गीतोपनिषद् कहा गया। गीताका पर्यवसान – समाप्ति शरणागतिमें है। यथा—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

(गीता १८।६६)

'सर्व धर्मोंको अर्थात् सम्पूर्ण कर्मोंके आश्रयको त्यागकर केवल एक मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेव परमात्माको ही अनन्यशरणको प्राप्त हो, मैं तुझको सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा, तू शोक मत कर।'

प्र०—भगवान् अर्जुनको क्या सिखलाना चाहते थे?

उ०—तत्त्व और प्रभावसहित भक्तिप्रधान कर्मयोग।

प्र०—गीतामें प्रधानतः धारण करनेयोग्य विषय कितने हैं ?

उ०—भक्ति, कर्म, ध्यान और ज्ञानयोग—ये चारों विषय दोनों निष्ठाओं (सांख्य और कर्म) के अन्तर्गत हैं।

प्र०—गीताके अनुसार परमात्माको प्राप्त हुए सिद्ध पुरुषके प्रायः सम्पूर्ण लक्षणोंका, मालाकी मणियोंके सूत्रकी तरह, आधार-रूप लक्षण क्या है ?

उ०—'समता।'

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः॥

(गीता ५। १९)

'जिनका मन समत्वभावमें स्थित है, उनके द्वारा इस जीवित अवस्थामें ही सम्पूर्ण संसार जीत लिया गया अर्थात् वे जीते हुए ही संसारसे मुक्त हैं; क्योंकि सच्चिदानन्दघन परमात्मा निर्दोष और सम है, इससे वे सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ही स्थित हैं।'

मान-अपमान, सुख-दुःख, मित्र-शत्रु और ब्राह्मण-चाण्डाल आदिमें जिनकी समबुद्धि है, गीताकी दृष्टिसे वे ही ज्ञानी हैं।

प्र०—गीता क्या सिखलाती है ?

उ०—आत्मतत्त्वका ज्ञान और ईश्वरकी भक्ति, स्वार्थका त्याग और धर्मपालनके लिये प्राणोत्सर्ग। इन चारोंमेंसे जो एक गुणको भी जीवनमें क्रियात्मक रूप दे देता है—एकका भी सम्यक् पालन कर लेता है, वह स्वयं मुक्त और पवित्र होकर दूसरोंका कल्याण करनेमें समर्थ हो सकता है। जिनको परमात्मदर्शनकी

अतीव तीव्र उत्कण्ठा हो—जो यह चाहते हों कि हमें शीघ्र-से-शीघ्र परमात्माकी प्राप्ति हो, उन्हें धर्मके लिये अपने प्राणोंको हथेलीमें लिये रहना चाहिये। जो ईश्वरकी आज्ञा समझकर धर्मकी वेदीपर प्राणोंको विसर्जन करता है, वस्तुतः उसका प्राण-विसर्जन परमात्माके लिये ही है। अतः ईश्वरको भी तत्काल उसका कल्याण करनेके लिये बाध्य होना पड़ता है। जैसे गुरु गोविन्दसिंहके पुत्रोंने धर्मार्थ अपने प्राणोंकी आहुति देकर मुक्ति प्राप्त की, वैसे ही जो धर्म अर्थात् ईश्वरके लिये सर्वस्व होम देनेको सदा-सर्वदा प्रस्तुत रहता है, उसके कल्याणमें सन्देह ही क्या है?

'स्वधर्मे निधनं श्रेयः।'

(गीता ३।३५)

आत्मतत्त्वका यथार्थ ज्ञान हो जानेपर मनुष्य निर्भय हो जाता है; क्योंकि वह इस बातको अच्छी तरह समझ जाता है कि आत्माका कभी नाश होता ही नहीं।

अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥

(गीता २।२०)

जबतक मनुष्यके अन्तःकरणमें किसीका किञ्चित् भी भय है, तबतक समझ लेना चाहिये कि वह आत्मतत्त्वसे बहुत दूर है। जिनको ईश्वरकी शरणागतिके रहस्यका ज्ञान है, वही पुरुष धर्मके लिये—ईश्वरके लिये—हँसते-हँसते प्राणोंको होम सकता है। यही उसकी

कसौटी है। वास्तवमें स्वार्थका त्याग भी यही है। भगवद्वचनोंके महत्त्व और रहस्यको समझनेवाला व्यक्ति आवश्यकता पड़नेपर स्त्री, पुत्र और धनादिकी तो बात ही क्या, प्राणोत्सर्गतक कर देनेमें तिलभर भी पीछे नहीं रहता—सदा तैयार रहता है। जो व्यक्ति धर्म अर्थात् कर्तव्य-पालनका तत्त्व जान जाता है, उसकी प्रत्येक क्रियामें मान-बड़ाई आदि बड़े-से-बड़े स्वार्थका आत्यन्तिक अभाव झलकता रहता है। ऐसे पुरुषोंका जीवन-धारण केवल भगवत्प्रीत्यर्थ अथवा लोकहितार्थ ही समझा जाता है।

प्र०—गीतामें सबसे बढ़कर श्लोक कौन-सा है?

उ०—**सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।**
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

(१८।६६)

इस श्लोकमें कथित शरणके प्रकारकी व्याख्या श्रीमद्भगवद्गीताके अध्याय ९ श्लोक ३४ एवं अध्याय १८ श्लोक ६५में भलीभाँति की गयी है।

प्र०—भगवान्‌ने अपने दिये हुए उपदेशोंमें गुह्यतम उपदेश किसको बतलाया है?

उ०—**'मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।'**
'सर्वधर्मान्परित्यज्य' आदिको।

(१८।६५-६६)

प्र०—गीता सुनानेमें भगवान्‌का लक्ष्य क्या था?

उ०—अर्जुनको पूर्णतया अपनी शरणमें लाना।

प्र०—इसकी पूर्ति कहाँ होती है ?

उ०—अध्याय १८ श्लोक ७३ में—

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत ।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ॥

'हे अच्युत आपकी कृपासे मेरा मोह नष्ट हो गया है, मुझे स्मृति प्राप्त हुई है; इसलिये मैं संशयरहित हुआ स्थित हूँ और आपकी आज्ञाका पालन करूँगा ।'

तेरह आवश्यक बातें

(१) प्रत्येक यज्ञोपवीतधारी द्विजको कम-से-कम दोनों कालकी सन्ध्या ठीक समयपर करनी चाहिये, समयपर की हुई सन्ध्या बहुत ही लाभदायक होती है । स्मरण रखना चाहिये कि समयपर बोये हुए बीज ही उत्तम फलदायक हुआ करते हैं । ठीक कालपर सन्ध्या करनेवाले पुरुषके धर्म-तेजकी वृद्धि महर्षि जरत्कारुके समान हो सकती है ।

(२) वेद और शास्त्रमें गायत्री-मन्त्रके समान अन्य किसी भी मन्त्रका महत्त्व नहीं बतलाया गया, अतएव शुद्ध होकर पवित्र स्थानमें अवकाशके अनुसार अधिक-से-अधिक गायत्री-मन्त्रका जप करना चाहिये । कम-से-कम प्रातः और सायं १०८ मन्त्रोंकी एक-एक मालाका जप तो अवश्य ही करना चाहिये ।

(३) हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

इस षोडश नामके मन्त्रका जप सभी जातियोंके स्त्री-पुरुष सब समय कर सकते हैं। यह बहुत ही उपयोगी मन्त्र है। कलि-सन्तरण उपनिषद्में इस मन्त्रका बहुत माहात्म्य बतलाया गया है।

(४) श्रीमद्भगवद्गीताका पठन और अध्ययन सबको करना चाहिये। विना अर्थ समझे हुए भी गीताका पाठ बहुत लाभकारी है, परंतु वास्तवमें विना मतलब समझकर किये हुए अठारह अध्यायके मूल पाठकी अपेक्षा एक अध्यायका भी अर्थ समझकर पाठ करना श्रेष्ठ है; इसलिये प्रत्येक मनुष्यको यथासाध्य गीताके एक अध्यायका अर्थसहित पाठ तो अवश्य ही करना चाहिये।

(५) प्रत्येक मनुष्यको अपने घरमें अपने भावनानुसार भगवान्की मूर्ति रखकर प्रेमके साथ प्रतिदिन उसकी पूजा करनी चाहिये। इससे भगवान्में श्रद्धा और प्रेमकी वृद्धि होती है, शुभ संस्कारोंका सञ्चय होता है और समयका सदुपयोग होता है।

(६) मनुष्यको प्रतिदिन (गीता अध्याय ६ श्लोक १० से १३ के अनुसार) एकान्तमें बैठकर कम-से-कम एक घंटे अपनी रुचिके अनुसार साकार या निराकार भगवान्का ध्यान करनेकी चेष्टा करनी चाहिये। इससे पाप और विक्षेपोंका समूल नाश होता है और कल्याण-मार्गमें बहुत उन्नति होती है।

(७) प्रत्येक गृहस्थको प्रतिदिन बलिवैश्वदेव करके भोजन

करना चाहिये; क्योंकि गृहस्थाश्रममें नित्य होनेवाले पापोंके नाशके लिये जिन पञ्च महायज्ञोंका विधान है, वे इसके अन्तर्गत आ जाते हैं।

(८) मनुष्यको सब समय भगवान्‌के नाम और स्वरूपका स्मरण करते हुए ही अपने धर्मके अनुसार शरीर-निर्वाह और अन्य प्रकारकी चेष्टा करनी चाहिये (गीता ८। ७)।

(९) परमात्मा सारे विश्वमें व्याप्त है, इसलिये सबकी सेवा ही परमात्माकी सेवा है; अतएव मनुष्यको परम सिद्धिकी प्राप्तिके लिये सम्पूर्ण जीवोंको उन्हें ईश्वररूप समझकर अपने न्याययुक्त कर्तव्य-कर्मद्वारा सुख पहुँचानेकी विशेष चेष्टा करनी चाहिये (गीता १८। ४६)।

(१०) अपने द्वारपर आये हुए याचकको कुछ देनेकी शक्ति या किसी कारणवश इच्छा न होनेपर भी उसके साथ विनय, सत्कार और प्रेमका बर्ताव करना चाहिये।

(११) सम्पूर्ण जीव परमात्माका अंश होनेके कारण परमात्माके ही स्वरूप हैं, अतएव निन्दा, घृणा, द्वेष और हिंसाको त्यागकर सबके साथ निःस्वार्थभावसे विशुद्ध प्रेम बढ़ानेकी चेष्टा करनी चाहिये।

(१२) धर्म और ईश्वरमें श्रद्धा तथा प्रेम रखनेवाले स्वार्थत्यागी सदाचारी सत्पुरुषोंका सङ्ग कर उनकी आज्ञा तथा अनुकूलताके अनुसार आचरण करते हुए सङ्गका विशेष लाभ उठाना चाहिये।

(१३) भक्ति, ज्ञान, वैराग्य और धर्मकी वृद्धिके लिये श्रुति-स्मृति आदि शास्त्रोंके पठन-पाठन और श्रवण-मननके द्वारा उनका तत्त्व समझकर अपनी आत्माको उन्नत बनाना चाहिये।

मनन करने योग्य

विशेष महत्त्वका भजन वह है, जिसमें ये छः बातें होती हैं—

१—जिस मन्त्र या नामका जप हो, उसके अर्थको भी समझते जाना।

२—भजनसे मनमें किसी प्रकारकी भी लौकिक-पारलौकिक कामना न रखना।

३—मन्त्र-जपके या भजनके समय बार-बार शरीरका पुलकित होना, मनमें आनन्दका उत्पन्न होना। आनन्द न हो तो आनन्दका संकल्प या भावना करनी चाहिये।

४—यथासाध्य भजन निरन्तर करना।

५—भजनमें श्रद्धा रखना और उसे सत्कारबुद्धिसे करना।

६—जहाँतक हो भजनको गुप्त रखना।

ध्यानके सम्बन्धमें—

१—एकान्त स्थानमें अकेले ध्यान करते समय मन अपने ध्येयमें प्रसन्नताके साथ अधिक-से-अधिक समयतक स्वाभाविक ही तल्लीन रहे; तभी ध्यान अच्छा होता है। इस प्रकारकी स्थितिके लिये अभ्यासकी आवश्यकता है। अभ्यासमें निम्नलिखित साधनोंसे सहायता मिल सकती है—

क—श्वासद्वारा जप।

ख—अर्थसहित जप।

ग--भगवान्‌के प्रेम, ज्ञान, भक्ति और वैराग्य-सम्बन्धी बातें पढ़नी-सुननी ।

२--एकान्तमें ध्यानके समय किसी भी सांसारिक विषयकी ओर मनको नहीं जाने देना चाहिये। उस समय तो एकमात्र ध्येयका ही लक्ष्य रखना चाहिये। दूसरी बड़ी-से-बड़ी बातका भी मनसे तिरस्कार कर देना लाभदायक है।

सर्वव्यापी सच्चिदानन्दघनमें स्थित होकर ज्ञान-नेत्रोंद्वारा ऐसे देखना चाहिये मानो सब कुछ मेरे ही संकल्पके आधारपर स्थित है। संकल्प करनेसे ही सबकी उत्पत्ति होती है और संकल्पके अभावसे ही अभाव है। यों समझकर फिर संकल्प भी छोड़ देना चाहिये। संकल्पत्यागके बाद जो कुछ बच रहता है वही अमृत है, वही सत्य है, वही आनन्दघन है। इस प्रकार अचिन्त्यके ध्यानका तीव्र अभ्यास एकान्तमें करना चाहिये।

साधकोंके लिये आवश्यक बातें

१—रुपयोंकी कामनासे संसारका काम करनेपर मन संसारमें रम जाता है, इसलिये संसारके काम बड़ी ही सावधानीसे केवल भगवत्प्राप्तिके उद्देश्यसे करने चाहिये।

२—संसारके पदार्थों और सांसारिक विषयी मनुष्योंका संग जहाँतक हो, कम करना चाहिये। सांसारिक विषयोंकी बातें भी यथासाध्य कम ही करनी चाहिये।

३—किसी दूसरेके दोष नहीं देखने चाहिये, स्वभाववश दीख जायँ तो बिना पूछे बतलाने नहीं चाहिये।

४—सबमें निष्काम और समभावसे प्रेम रखनेका अभ्यास करना चाहिये ।

५—निरन्तर नाम-जपके अभ्यासको कभी छोड़ना नहीं चाहिये । उसमें जिस कार्यसे बाधा आती हो, उसे छोड़ देना उचित है । परम हर्ष और प्रेमसे नित्य-निरन्तर भजन होता रहे तो फिर भगवद्दर्शनकी भी आवश्यकता नहीं है । भजनका प्रेम ऐसा बढ़ जाना चाहिये कि जिसमें शरीरका भी ज्ञान न रहे । भगवान् स्वयं पधारकर चेत करावें तो भी सुतीक्ष्णकी भाँति प्रेम-समाधि न टूटे ।

६—इन सब साधनोंकी शीघ्र सिद्धिके लिये इन्द्रियोंका संयम करके तत्परतासे अभ्यास करना चाहिये । इसके लिये किसी बातकी भी परवा न करनी चाहिये । शरीरकी भी नहीं ।

७—शरीरमें अहङ्कार होनेसे ही शरीरके निर्वाहकी चिन्ता होती है । अतएव यथासाध्य शरीररूपी जेलमें जान-बूझकर कभी प्रवेश नहीं करना चाहिये ।

सार बातें

'सत्संगकी बातें सुननेसे जो असर होता है वह पाँच मिनटके कुसंगसे कम हो जाता है, क्योंकि कुसंग पाते ही पूर्वके कुविचार जग उठते हैं, इसलिये कुसंगका सर्वथा त्याग करे ।'

'बुरे कर्म करनेवालोंकी दुर्गति होनेमें तो आश्चर्य ही क्या है, बुरे कर्म करनेवालोंका जो चिन्तन करते हैं, उनकी भी हानि होती है । व्यभिचारीको याद करनेसे कामकी जागृति होती है ।'

'भगवान्‌का भजन गुप्तरूपसे करना चाहिये, नहीं तो कपूरकी भाँति भजन मान-बड़ाईमें उड़ जाता है ।'

'स्वार्थको छोड़कर दूसरेके हितके लिये चेष्टा करनी, यही उसे प्रेममें बाँधनेका उपाय है ।'

'दूसरेको सुख पहुँचाना ही उसे अपना बना लेना है । अपना तन, मन, धन—जो कुछ दूसरेके काममें लग जाय वही सार्थक है, बाकी तो सब व्यर्थ जाता है । जो इस बातको ध्यानमें रखकर चलता है, उसे कभी पछताना नहीं पड़ता ।'

'भगवान्‌को बुलाना हो तो अनन्य प्रेम करना चाहिये । प्यारे मनमोहनकी माधुरी मूर्तिको मनसे कभी न भुलावे । आर्त्तभावसे भगवानके लिये रोवे । भगवान् अपने प्रेमी भक्तके साथ रहते हैं । तुम अनन्य प्रेम करोगे तो तुम्हें भगवत्‌की प्राप्ति अवश्य हो जायगी ।'

'चाहे सारी दुनियासे नाता टूट जाय और प्राण अभी चले जायँ, परन्तु भगवान्‌के प्रेममें किञ्चित् भी कलङ्क नहीं लगने देना चाहिये ।'

'जैसे विषनाशिनी विद्या जाने बिना सर्पको पकड़ रखनेसे वह काट लेता है, फिर विष चढ़ जानेसे मनुष्यकी मृत्यु हो जाती है, उसी प्रकार मूर्ख मनुष्य विषयोंको पकड़कर अन्तमें उनमें मतवाला होकर मृत्युको प्राप्त हो जाता है ।'

'ज्ञानी पुरुषोंकी वाणीसे निकली हुई ज्ञानरूपी चिनगारियाँ जिनके कानोंद्वारा अन्तःकरणतक पहुँच जाती हैं, उसके सारे पाप जलकर भस्म हो जाते हैं ।'

'काम-क्रोध तभीतक रहते हैं, जबतक अज्ञान है। अज्ञानरूप कारणका नाश हो जानेपर कामादि कार्य नहीं रह सकते।'

'भगवान्‌का भजन अमृतसे भी बढ़कर है, यह बात कहनेसे समझमें नहीं आ सकती। जिनका भजनमें प्रेम होता है, वे इस बातका अनुभव करते हैं।'

'जिस मनुष्यकी भगवान् या किसी महात्मामें पूर्ण श्रद्धा हो जाती है, वह तो उनके परायण ही हो जाता है। परायणतामें जितनी कमी है, उतनी ही कमी विश्वासमें भी समझनी चाहिये।'

'महापुरुषोंद्वारा किये गये उत्तम बर्तावको भगवान्‌का बर्ताव ही समझना चाहिये; क्योंकि महापुरुषके अंदरसे भगवान् ही सब कुछ करते-कराते हैं।'

'एक श्रीसच्चिदानन्दघन परमात्मा ही सब जगह परिपूर्ण है। जैसे समुद्र सब ओरसे जलसे व्याप्त है, इसी प्रकार यह संसार परमात्मासे व्याप्त है।'

'भगवान्‌के प्रेमी भक्तोंद्वारा भगवान्‌के प्रभाव और प्रेमरहस्यकी बातें सुननी चाहिये और उन्हींके अनुसार साधन करना चाहिये। ऐसा करनेसे उद्धारमें कोई शङ्का नहीं।'

'समय बीत रहा है, बहुत सोच-समझकर इसे कीमती काममें लगाना चाहिये। वह कीमती काम भगवान्‌का भजन और संतोंका सङ्ग ही है।'

'भगवान्‌को सर्वोत्तम समझनेके बाद एक क्षणके लिये भी

भगवान्‌का ध्यान नहीं छूट सकता । जबतक भगवान्‌के ध्यानका आनन्द-रस नहीं मिलता, तभीतक वह संसारके विषयरूपी धूल चाटता है ।'

'जो मनुष्य संसारके क्षणभङ्गुर नाशवान् पदार्थोंको सच्चे और सुखदायी समझकर उनका चिन्तन करता है, उनसे प्रेम करता है और अज्ञानसे उनमें अपना जीवन लगाता है वह महामूर्ख है ।'

'श्रीनारायणदेवके समान अपना परम सुहृद्, दयालु, निःस्वार्थ प्रेमी और कोई भी नहीं है, इतना होनेपर भी अज्ञानी जीव उन्हें भुलाकर क्षणविनाशी विषय-भोगोंमें लग रहा है, अपने अमूल्य जीवनको धूलमें मिला रहा है । अज्ञानकी यही महिमा है ।'

'मान, बड़ाई, स्वाद, शौकीनी, सुख-भोग, आलस्य-प्रमाद सबको छोड़कर श्रीपरमात्माके शरण होना चाहिये । भगवान्‌की शरणागति बिना कल्याण होना कठिन है ।'

'भगवान्‌का निरन्तर चिन्तन, भगवान्‌के प्रत्येक विधानमें सन्तुष्ट रहना, भगवान्‌की आज्ञाका पालन करना और निष्कामभाव रखना—यही भगवान्‌की शरणागति है ।'

'ध्यानके लिये वैराग्य और उपरामता ही मुख्य साधन है । आनन्दकी नदी बह रही है । मायाका बाँध तोड़ डालो, फिर तुम्हारा अन्तःकरणरूपी खेत आप ही आनन्दसे भर जायगा, तुम आनन्दस्वरूप हो जाओगे ।'

'मनुष्यको अपने दोषोंपर विचार करना चाहिये । दोषोंपर ध्यान देनेसे उनके नाशके लिये आप ही चेष्टा हो सकती है ।'

'जहाँ मन जाय वहाँ या तो परमेश्वरका चिन्तन करना चाहिये या उसे वहाँसे हटाकर पुनः जोरसे भगवान्‌में लगाना चाहिये। नाम-जप करते रहनेसे मन लगानेमें बहुत सहायता मिलती है।'

'निष्काम-भावसे जीवोंकी सेवा करनेसे और किसीकी भी आत्माको कष्ट न पहुँचानेसे भगवान्‌में प्रेम हो सकता है।'

'जो मनुष्य भगवान्‌की नित्य समान दयाका प्रभाव जान लेता है, वह भगवत्-भजनके सिवा अन्य कुछ भी नहीं कर सकता।'

'विषयोंमें फँसे हुए मनुष्योंको प्रेमपूर्वक सत्सङ्गमें लगाना चाहिये। जीवोंको श्रीनारायणके शरण करनेके समान उनकी दूसरी कोई भी सेवा नहीं है; यह सेवा सच्चे प्रेमियोंको अवश्य ही करनी चाहिये।'

'मनसे निरन्तर श्रीभगवान्‌का ध्यान करना और उन्हें प्राप्त करनेकी तीव्र इच्छा करनी चाहिये। वाणीसे श्रीभगवान्‌के नाम और गुणोंका कीर्तन सदा-सर्वदा करना चाहिये। शरीरसे प्राणि-मात्रको भगवान्‌का स्वरूप समझकर निष्कामभावसे उनकी यथायोग्य सेवा करनी चाहिये।'

'मन बड़ा ही पाजी और हरामी है। इससे दबना नहीं चाहिये। संसारके आरामोंसे हटाकर इसे बहुत जोरसे श्रीहरिके भजन-ध्यानमें लगाना चाहिये।'

'संसारके अनित्य पदार्थोंमें प्रेम करके अमूल्य जीवनको व्यर्थ नहीं बिताना चाहिये। सच्चे दयालु और परम धन परमात्माके

साथ प्रेम करना चाहिये और उनकी शरण होकर उनकी दयालुता और प्रेमका आनन्द लूटना चाहिये ।'

'श्रीभगवान्‌में अनन्य प्रेम होना चाहिये, निरन्तर विशुद्ध प्रेमसे उनका स्मरण होना चाहिये । दर्शन न हो तो कोई परवा नहीं, प्रेमको छोड़कर दर्शनोंकी अभिलाषा भी नहीं करनी चाहिये । सच्चे प्रेमी भक्त दर्शनके भूखे नहीं होते, प्रेमके पिपासु होते हैं । प्रेमके सामने मुक्ति भी कोई वस्तु नहीं है ।'

'प्रभुके मिलनेमें इसीलिये विलम्ब होता है कि साधक भक्त उस विलम्बको सह रहा है, जिस क्षण उसके लिये प्रभुका वियोग असह्य हो जायगा, प्रभु बिना उसके प्राण निकलने लगेंगे, उसी क्षण भगवान्‌का मिलन होगा । जबतक भगवान्‌के बिना उसका काम चल रहा है, तबतक भगवान् भी देखते हैं कि इसका मेरे बिना काम तो चल ही रहा है फिर मुझे ही इतनी क्या जल्दी है ?'

'जो मायाके वशमें हैं, माया उन्हींके लिये प्रबल है । परमात्मा और उसके प्रभावको जाननेवाले भक्तोंके सामने मायाकी शक्ति कुछ भी नहीं है । यदि मनुष्य परमात्माके शरण होकर उसके रहस्य और स्वरूपको जान ले तो मायाकी शक्ति कुछ भी नहीं रह जाती । जीव परमात्माका सनातन अंश है, अपनी शक्तिको भूल रहा है, इसीसे उसे माया प्रबल प्रतीत होती है, यदि भगवत्कृपासे अपनी शक्तिको जाग्रत् कर ले तो मायाकी शक्ति सहज ही परास्त हो जाय ।'

'गुणातीतकी वास्तविक स्थितिको दूसरा कोई भी नहीं जान सकता। वह स्वसंवेद्य अवस्था है। परन्तु जो अपनेमें ज्ञानीके लक्षण हैं कि नहीं, इस बातकी परीक्षा करता है, उसे ज्ञानी नहीं समझना चाहिये। क्योंकि लक्षणोंके खोजनेसे उसकी स्थिति शरीरमें सिद्ध होती है। ज्ञानीकी सत्ता ब्रह्मसे भिन्न है नहीं, फिर खोजनेवाला कौन ?'

'जो द्रव्य परोपकार यानी लोक-सेवामें खर्च किया जाता है, वह इस लोक और परलोकमें सुख देनेवाला होता है। यदि निष्काम-भावसे खर्च किया जाय तो वही मुक्तिदायक बन जाता है। यह बात युक्ति और शास्त्र दोनों ही प्रमाणोंसे सिद्ध है।'

'श्रीभगवान्के नाम-जपसे मनकी स्फुरणाएँ रुकती हैं, पापोंका नाश होता है, मनुष्य गिरनेसे बचता है, उसे शान्ति मिलती है। नाम-जप ईश्वर-प्राप्तिमें सर्वश्रेष्ठ साधन है। यज्ञ, दान, तप, सेवा आदि कुछ भी न बन सके तो केवल नाम-जपसे हो भगवान्की स्मृति रह सकती है। नाम-महिमा सर्वशास्त्रसम्मत है और बुद्धि तथा अनुभवसे सिद्ध है, इसीलिये निरन्तर निष्कामभावसे नाम-जपकी चेष्टा करनी चाहिये।'

श्रीहरिः

श्रीजयदयालजी गोयन्दकाकी कुछ पुस्तकें—

	मूल्य रु. पै.
१–परम साधन–पृष्ठ ३७२, सचित्र ...	१.००
२–ज्ञानयोगका तत्त्व–पृष्ठ ३८४, सचित्र ...	१.००
३–प्रेमयोगका तत्त्व–पृष्ठ ३८०, सचित्र ...	१.००
४–तत्त्व-चिन्तामणि–(भाग १) पृष्ठ ३५२, सचित्र ...	१.००
५ ,, ,, (भाग २) आपके हाथमें है ।	
६–रामायणके कुछ आदर्श पात्र–पृष्ठ १६८ ...	.५०
७–स्त्रियोंके लिये कर्तव्य-शिक्षा—पृष्ठ, १७६ ...	.४०
८–परमार्थ-पत्रावली (भाग १) ५१ पत्रोंका संग्रह, पृष्ठ ११२	.२५
९ ,, ,, (भाग २) ८० ,, पृष्ठ १७२	.५०

पता–गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)